देव शास्त्र

तीसरा खण्ड

देव धर्म प्रवर्तक विरचित

देव शास्त्र खण्ड 3
पहला संस्करण 1967 वि. (1910 ई.)
दूसरा संस्करण 1972 वि. (1915 ई.)
तीसरा संस्करण 1984 वि. (1927 ई.)
परम पूजनीय देवधर्म प्रवर्तक के निजी निरीक्षण में छपे मूल तृतीय संस्करण (1984 विक्रमी, सन 1927 ईसवी) का यह प्रतिकृत संस्करण है।

देव शास्त्र

तीसरा खण्ड

देव धर्म प्रवर्तक विरचित

प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति, और प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक सम्प्रदाय के अधिकारी जनों के लिए एक मात्र सत्य और नित्य नेचर के सत्य और अटल नियमों और उसकी सत्य घटनाओं पर स्थापित विज्ञान-मूलक **सत्य धर्म्म की शिक्षा का अपूर्व्व ग्रन्थ।**

देव शास्त्र

तीसरा खण्ड

मनुष्य तत्व ।

आत्म-बोध और आत्म-ज्ञान के विषय में देवात्मा की देववाणी ।

1. मनुष्य होकर जो जन अपने हि अस्तित्व के विषय में सत्य ज्ञान लाभ करने की कोई आकांक्षा नहीं रखता, उससे बढ़कर और कृपापात्र कौन हो सकता है।

2. मनुष्य होकर किसी जन के लिए अपने अस्तित्व विशेषकर अपने आत्मा के विषय में सत्य बोध और सत्य ज्ञान लाभ करने का आकांक्षी होने से बढ़कर कोई और बड़ा अधिकार नहीं ; क्योकि उससे नीचे पशु जगत् के किसी जीव को भी अपने अस्तित्व के विषय में इस प्रकार के ज्ञान लाभ करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं ।

3.मनुष्य होकर किसी जन के लिए अपने आत्मा के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान लाभ करने की आकांक्षा रखकर भी, परन्तु अपनी अयोग्यता के कारण उसके विषय में किसी सत्य के दर्शन वा उपलब्ध करने के योग्य न होना, अथवा ऐसी आकांक्षा से हि विहीन होकर अपने आत्मा के विषय में पूर्ण अन्धकार और अज्ञान की दशा में रहना, उसकी अत्यन्त कृपापात्र दशा है।

4. मनुष्य होकर किसी जन के लिए अपने आत्मा के सम्बन्ध में सत्य बोध और सत्य ज्ञान लाभ करने के योग्य होना और उसकी प्राप्ति का शुभ अवसर पाना उसका महा श्रेष्ठ अधिकार है।

मनुष्य जगत् के सम्बन्ध में देवात्मा की देवानुराग-मूलक शुभ कामनाएं।

आत्म-प्रकाशक देव ज्योति मम्,
आत्म तिमिर हर देव ज्योति मम्

चारों दिग वह परकीरण हो;

तिमिर से निकलें जन अधिकारी,
आत्म रुप देखें अधिकारी

आत्म-ज्ञान उनमें उत्पन्न हो,
सत्य धर्म का ज्ञान उत्पन्न हो

उच्च घृणा प्रद देव तेज मम,
उच्च दुख प्रद देव तेज मम्

चारों दिग वह परकीरण हो;

उच्च घृणा पावें अधिकारी,
उच्च दुख पावें अधिकारी,
नीच राग त्यागें अधिकारी,
नीच घृणा त्यागें अधिकारी

आत्म-रोग से निस्तारन हो।
आत्म पात से निस्तारन हो।
नीच गति से निस्तारन हो।
आत्म नाश से निस्तारन हो।

उच्च भाव प्रद देव तेज मम,
उच्च राग प्रद देव तेज मम,
उच्च अंग प्रद देव तेज मम,
उच्च गति प्रद देव तेज मम्,

चारों दिग वह परकीरण हो;

उच्च भाव पावें अधिकारी;
उच्च राग पावें अधिकारी;
उच्च अंग पावें अधिकारी;
उच्च गति पावें अधिकारी;

उच्च रुप उन में उत्पन्न हो।
श्रेष्ठ रुप उन में उत्पन्न हो।

आत्म बल उन में उत्पन्न हो।
जीवन बल उन में उत्पन्न हो।

देव शास्त्र के तीसरे खण्ड का सूची-पत्र ।

****

मनुष्य तत्व

	भावों द्वारा उसकी सब प्रकार की आत्मिक चिंताएं और क्रियाएं ।	
दसवां अध्याय	सुख और दु:ख के ही आधार पर मनुष्य जगत में धर्म के नाम से भी आत्मा के सम्बन्ध में वह सब पूर्णत: मिथ्या और महा हानिकारक नाना प्रकार की शिक्षाएं प्रचलित की गई थीं कि जिनके दूर करने के निमित्त देवात्मा का आविर्भाव हुआ ।	
ग्यारहवां अध्याय	मनुष्य जगत में भिन्न भिन्न प्रकार के सुख अनुराग ।	
बारहवां अध्याय	मनुष्य के आत्मा की गठन में शरीर सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।	
तेरहवां अध्याय	मनुष्यात्मा की गठन में अहं सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।	
चौदहवां अध्याय	मनुष्यात्मा की गठन में सन्तान सम्बन्धी सुख अनुराग ।	
पन्द्रहवां अध्याय	मनुष्यात्मा की गठन में धन-सम्पत्ति सुख-अनुराग ।	
सोलहवां अध्याय	मनुष्यात्मा की गठन में संस्कार, संग वा अभ्यास सम्बन्धी सुख अनुराग ।	
सत्रहवां अध्याय	मनुष्यात्मा की गठन में हिंसा विषयक सुख अनुराग ।	
अठारहवां अध्याय	मनुष्यात्माओं में मिथ्या विश्वास सम्बन्धी नाना सुख अनुराग ।	
उन्नीसवां अध्याय	मनुष्य में उच्च वा सात्विक सुख अनुराग ।	
बीसवां अध्याय	मनुष्यात्मा की गठन में सुखजात कई प्रकार के नीच घृणा भाव ।	
इक्कीसवां अध्याय	मनुष्यात्मा का पतन ।	
बाईसवां अध्याय	मनुष्य जगत में विविध प्रकार की मिथ्याएं और उन मिथ्याओं के द्वारा मनुष्यों का आत्मिक पतन ।	
तेईसवां अध्याय	मनुष्य जगत में अन्याय वा अपहरण-मूलक चिन्ताएं और क्रियाएं और उनके द्वारा मनुष्यों का पतन ।	

चौबीसवां अध्याय	मनुष्यात्माओं के पतन के बड़े-बड़े लक्षण ।	
पच्चीसवां अध्याय	अधिकारी मनुष्यों की जहाँ जहाँ तक आत्मिक पतन से मोक्ष हो सकती है, उसकी प्राप्ति की सत्य विधि ।	
छबीसवां अध्याय	मनुष्य के आत्मा में उच्च जीवन के विकास की सत्य विधि ।	
सताईसवां अध्याय	देवात्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध स्थापन करने की सत्य विधि ।	
अठाईसवां अध्याय	देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सत्य और अटल विश्वास भाव ।	
उनतीसवां अध्याय	देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सत्य और अटल श्रद्धा भाव ।	
तीसवां अध्याय	देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सत्य और अटल कृतज्ञ भाव ।	
इकतीसवां अध्याय	देवात्मा के देवप्रभावों के लिए आकर्षण भाव ।	
बतीसवां अध्याय	देवात्मा के देवरूप के संबध में विश्वास भाव की उन्नति के साधनों की विधि ।	
तेतीसवां अध्याय	देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में श्रद्धा भाव की उन्नति के साधनों की विधि ।	
चौतीसवां अध्याय	देवात्मा के सम्बन्ध में कृतज्ञ भाव की उन्नति के साधनों की विधि ।	
पैंतीसवां अध्याय	देवात्मा के देव प्रभावों के प्रति आकर्षण भाव की उन्नति के साधनों की विधि ।	
छतीसवां अध्याय	कोई मनुष्य-आत्मा देवात्मा की शरण में आकर भी उनके देव प्रभावों की प्राप्ति से किन किन कारणों से वंचित हो जाता है, वा वंचित रहता है ?	
सैन्तीसवां अध्याय	मनुष्यात्मा की स्वाधीनता का ढकोसला ।	

अड़तीसवां अध्याय	केवल सुख वा दुःख के आधार पर ही किसी आत्मा में उसकी अपनी योग्यता के अनुसार किसी सीमा तक उच्च परिवर्तन आ सकता है, और उसके बिना किसी और प्रकार से नहीं ।	
उनतालीसवां अध्याय	मनुष्य जगत के विकास में एक नये युग के उत्पन्न करने के लिए देवात्मा का आविर्भाव ।	
चालीसवां अध्याय	भविष्य काल में देवात्मा के द्वारा मनुष्य जगत और उस से नीचे के जगतों में उच्च परिवर्तन ।	

****

देव-शास्त्र ।

तीसरा खंड ।

मनुष्य तत्व ।

पहला अध्याय

मनुष्य में अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में महा शोचनीय अबोधता ।

यद्यपि यह सच है कि नेचर के विकास क्रम में मनुष्य के आत्मा में जिन कई प्रकार की विशेष शक्तियों का प्रकाश हुआ है, वह पशु-जगत के जीवों में पाई नहीं जातीं ; और इसलिए मनुष्य इन विशेष शक्तियों और हजारों वर्षों तक उन्हें धीरे धीरे उन्नत करने के विविध अवसरों को पाकर नेचर के नाना विषयों के सम्बन्ध में **जिस जिस प्रकार के सत्यों के देखने और ज्ञान लाभ करने के योग्य हुआ है; वह नाना प्रकार के सत्य पशु-जगत के जीव नहीं देख सके, और इसलिए उनके विषय में वह कोई बोध वा ज्ञान भी लाभ नहीं कर सके;** तथापि इसके साथ ही यह भी सच है, कि लाखों मनुष्यों में अभी तक उन विविध प्रकार के अति आवश्यक सत्यों के देखने और जानने की कोई आकांक्षा तक जाग्रत नहीं हुई, कि **जिनका उनके अपने अस्तित्व से सम्बन्ध है।** और वह **अपने अस्तित्व से बाहर के** और अस्तित्वों के सम्बन्ध में ज्ञान लाभ करने के जितने आकांक्षी है, उतने अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में आकांक्षी पाए नहीं जाते।

मनुष्य के लिए और सब प्रकार के ज्ञान वा सब प्रकार की विद्याओं की तुलना में **जिस विषय में सबसे बढ़कर सत्य ज्ञान लाभ करने की आवश्यकता है, वह उसका अपना अस्तित्व है।** क्यों कि अपने अस्तित्व विषयक सत्य ज्ञान से बढ़कर उसके लिए और कोई मूल्यवान ज्ञान नहीं, और नहीं हो सकता।

अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में भी मनुष्य के लिए अपने बाहरी शरीर की अपेक्षा अपने

भीतर की मूल वस्तु अर्थात **अपने आत्मा के विषय में विविध प्रकार के बोधों के लाभ करने की और भी बहुत बढ़-चढ़कर आवश्यकता है।** परन्तु शोक और महाशोक ! कि अभी तक मनुष्य जगत के लाखों लोग जिस महा निम्न और घटिया दशा में हैं, उसमें आत्मा तो कहीं, उनमें अपनी शरीर की गठन, उसके रोगों के साधारण कारणों, उन रोगों से उस की हानि, और उस हानि से उस की रक्षा और उसके सुडौल, सुन्दर और बलीष्ट बनने आदि विषयों के सम्बन्ध में भी **नेचर-सम्मत विविध प्रकार के आवश्यक सत्यों के देखने और जानने के लिए किसी आकांक्षा की जाग्रति नहीं हुई।** इसके विरुद्ध वह **अपने अपने शरीर के सम्बन्ध में भी इतने अबोधी वा एक वा दूसरे प्रकार के सुखों के इतने अनुरागी और दास बने हुए हैं,** कि वह अपने से नीचे के, अर्थात् पशु-जगत के नाना प्रकार के जीवों की अपेक्षा भी उस की सुडौलता और उस की आरोग्यता वा स्वास्थ्य आदि के विचार से बहुत **गिरी हुई वा पतित दशा में हैं।** अर्थात पशु-जगत के कौवे, कबूतर, तोते, मयना आदि नाना स्वाधीन पक्षी; और बन्दर, हीरन, बारासिंगे, नीलगाये, खरगोश आदि दूध पिलाने वाले स्वाधीन जीव अपने शरीर के विचार से जैसे सुडौल और सुंदर हैं , और वह जैसा अच्छा स्वस्थ रखने वाले और विविध प्रकार के रोगों से मुक्त पाए जाते हैं; वैसे लाखों और करोड़ों मनुष्य अपने अपने शरीर के विचार से न तो सुडौल वा सुंदर देखे जाते हैं, और न उन विविध रोगों से रहित वा सेहत की ही हालत में पाए जाते हैं। ऐसा क्यों हैं ? इसलिए कि **मनुष्य नेचर के शुभ नियमों के विरुद्ध विविध प्रकार के ऐसे सुखों का अनुरागी वा दास बन गया है, कि जिनके पशु जगत के ऐसे सब जीव अनुरागी वा दास नहीं बने।**

इस के भिन्न मनुष्य जगत के करोड़ों जन कई प्रकार के शारीरिक और अहं आदि विषयक **नाना अन्य सुखों के अनुरागी बन कर उन्हीं की प्राप्ति और तृप्ति विषयक उपायों में इतने रत** और उनके विषय में अपनी आतंरिक चिन्ताओं और बाह्यक क्रियाओं में **इतने लीन** रहते हैं, कि फिर उनका अपनी **इस महा शोचनीय बेसुधि की दशा में** अपने आतंरिक मूल अस्तित्व अर्थात आत्मा के विषय में (जिसको लेकर ही **उनके जीवन की सारी लीला है) कोई ध्यान तक नहीं जाता;** और वह उसके सम्बन्ध में **पूर्णत: बेसुध, अबोधी और अज्ञानी रहते हैं।**

फिर जो लोग मज़हब वा धर्म के नाम से **आत्मा के विषय में एक वा दूसरे प्रकार की बातों पर एक वा दूसरे प्रकार के विश्वास भी रखते हैं,** और अपने इन विश्वासों के अनुसार वह उनका उपदेश और प्रचार वा साधन आदि भी करते हैं, उनके **यह सब मूल विश्वास नेचर के सत्य नियमों और उस की सत्य घटनाओं के पूर्णत: विरुद्ध होने के कारण उन्हें आत्मा और उसके जीवन के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान से पूर्णत: अन्धा और अज्ञानी रखते हैं।** इसलिए इस **पृथ्वी के सारे देशों के मनुष्यों में अपनी अपनी आत्माओं के सम्बन्ध में महा घोर अबोधता, अन्धता, मूर्खता और अज्ञानता पाई जाती है।**

मनुष्यों की यह आत्मिक अबोधता क्या है ? एक ओर उन में अपने आत्मा के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान के लाभ करने के निमित **कुछ भी आकांक्षा नहीं** ; और दूसरी ओर उनके आत्माओं में उनके अपने ही विविध प्रकार के **सुख-अनुरागों के कारण** जिस घोर आत्मिक अंधकार की उत्पति होती है, और उनके आत्मा इस घोर अंधकार से ग्रस्त होने के करण अपने शक्तिमय और गठन प्राप्त अस्तित्व और उसके जीवन के रोगों, पतन, विनाश और विकास विषयक नितान्त आवश्यक सत्यों के देखने के अयोग्य है, इस **अयोग्यता** के विषय में भी वह आप कोई बोध नहीं रखते, अर्थात वह इस प्रकार के सब बोधों से पूर्णत: शून्य वा रहित हैं। इन्ही सब बोधों से शून्य वा रहित होने का नाम मनुष्य की **आत्मिक अबोधता** है।

****

दूसरा अध्याय ।

मनुष्य में उसका सुख अनुराग ही उसके आत्मा की महा शोचनीय अबोधता का मूल कारण है ।

मनुष्य जगत के लोगों में अपनी अपनी आत्माओं के सम्बन्ध में जो **घोर अन्धता पाई जाती है, उसका मूल कारण उन में विविध प्रकार के सुखों का बोध और उन सुखों के प्रति आकर्षण वा अनुराग है।** मनुष्य में यह सुख अनुराग उसके लिए **महा हानिकारक हैं।** सुख अनुरागी मनुष्य के लिए नाना अवसरों में शुभ का साथ न देना, किन्तु उसका विरोधी वा बैरी बनना और बैरी बनकर उसका गला घोंटना और अशुभ का साथी वा अशुभ-परायण बनना **अनिवार्य है। सुख** अनुरागी बनकर प्रत्येक मनुष्य के लिए न केवल **अपने आत्मा,** किन्तु **अपने शरीर की गठन के सम्बन्ध में भी हानिकारक बनना लाज़मी है।** इसलिए मनुष्य स्वाद-सुख, काम सुख, नशा सुख, आलस्य सुख आदि का अनुरागी वा लालसी बनकर अपने शरीर की गठन के सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार के **दुराचार वा अमिताचार (बद परहेज़ियाँ)** करता है, उस प्रकार के दुराचार वा अमिताचार पशु जगत के जीवों में पाए नहीं जाते। इसलिए मनुष्य अपने इन दुराचारों के द्वारा अपने शरीर की गठन में जिस जिस प्रकार के रोगों और इन रोगों के द्वारा अपने लिए जिस जिस प्रकार के अनुचित दुखों और निर्बलताओं की उत्पति करता है, उस प्रकार के रोगों और उन रोगों से उन दुखों और उन निर्बलताओं की पशु जगत के जीवों में उत्पति नहीं होती। और उन्हें उन विविध प्रकार के व्यवसाई चिकित्सकों और विविध प्रकार की कहलाने वाली औषधियों की आवश्यकता भी नहीं होती, कि जिन की मनुष्य के लिए आवश्यकता समझी गयी है।

अब यद्यपि जीवन को पाकर **सुख अनुरागी प्रत्येक मनुष्य भी जीने की प्रबल इच्छा वा लालसा और मृत्यु के लिए प्रबल अनिच्छा रखता है, और इसलिए वह अपनी इस जीने की लालसा से परिचालित होकर स्वभावत: अधिक से अधिक काल तक जीवित रहना चाहता है, और मरना नहीं चाहता;** तथापि वह ऐसी लालसा रखकर भी अपने अस्तित्व

के **जीवन और मरण विषयक अति आवश्यक तत्वों से अज्ञानी वा अबोधी रहने में कोई कष्ट अनुभव नहीं करता।** ऐसी दशा में वह न केवल अपने आत्मा और आत्मिक-जीवन और मरण विषयक सत्य ज्ञान की ओर से **उदासीन** और अंधा **देखा** जाता है, किंतु वह अपने शारीरिक गठन के बनने और बिगड़ने के सम्बन्ध में भी उदासीन पाया जाता है – यहां तक कि जब एक एक मनुष्य को अपने किसी **सुख अनुराग** की तृप्ति करते करते यह भी मालूम हो जाता है, कि उसके शरीर की **हानि** हो रही है, उसका स्वास्थ्य बिगड़ रहा है, उसका बल घट रहा है, उस में इस वा उस रोग की उत्पत्ति हो रही है, तब भी नाना दशाओं में वह अपने उस **सुख अनुराग के अधीन वा उसका दास हो जाने के कारण** उसकी **हानि** करने और अपने अस्तित्व का आप **शत्रु** बन जाने और बने रहने के लिए अपने आप को **मजबूर** पाता है। ओह **!** पशु जगत के जीवों की तुलना में मनुष्य की यह कैसी महा शोचनीय और पतित दशा **!!**

*****

तीसरा अध्याय ।

मनुष्य जगत में से अधिकारी जनों की नाना प्रकार की महा हानिकारक आत्मिक अबोधता के दूर करने और उन में उच्च परिवर्तन लाने के लिए नेचर के नियमानुसार देव-सूर्य देवात्मा का आविर्भाव ।

सुख अनुराग – चाहे वह किसी प्रकार का भी हो - जब किसी मनुष्य को अपना **दास** बना लेता है, वा यह कहो, कि जब कोई मनुष्य **उस का दास** बन जाता है, तब **उस के लिए विविध प्रकार की मिथ्याओं और विविध प्रकार के अहितों वा दुराचारों के पथ पर चलना और विविध प्रकार की मिथ्याओं और विविध प्रकार के अहितों को प्यार करना आवश्यक हो जाता है -** आवश्यक हो जाता है, इसीलिये मनुष्य जगत में जितनी और जिस जिस प्रकार की **मिथ्याओं** और जितने और जिस जिस प्रकार के **अहितों वा दुराचारों की** भरमार है, उतनी और उस उस प्रकार की मिथ्या कहीं भी पशु जगत में देखी नहीं जाती, और उतने और उस उस प्रकार के दुराचार भी पशु जगत में कहीं पाए नहीं जाते।

मिथ्या और अहित का प्रेमक बन कर और उन की ओर गति करके प्रत्येक मनुष्य नेचर के पतन विषयक अटल नियमानुसार **अपने अपने आत्मा की गठन की उसी प्रकार हानि करता है, जिस प्रकार वह अमिताचारी बनकर अपने शारीरिक गठन की हानि करता है।** आत्मिक गठन की हानि को ही **आत्मिक पतन** कहते हैं।

आत्मिक पतन कई प्रकार का है, जिन में से एक का नाम **उलटी दृष्टि** है। इस उलटी दृष्टि के पैदा हो जाने से प्रत्येक मनुष्य जो कुछ उसे **सुखकर** बोध हो – चाहे वह उसके और औरों के लिए कैसा ही **अशुभकर** हो - उसका पक्षपाती बन कर उसे **अच्छे, सुंदर और लाभदायक रूप में देखता है,** और जो कुछ उसे सुखकर बोध न हो, अथवा **दुखकर** बोध हो – चाहे वह उसके और औरों के लिए कैसा ही **शुभकर वा हितकर हो - उसे बुरे और**

हानिकारक रूप में देखता है। ऐसी दशा में केवल यही नहीं कि वह अपने किसी सुख अनुराग के विरूद्ध किसी **शुभ वा सत्य को ग्रहण करना नहीं चाहता, किन्तु उलटा उसे घृणा करता है;** और इस घृणा-भाव की प्रेरणा के अनुसार उस से परे परे वा दूर रहना चाहता है। मनुष्य की यह कैसी भयानक दशा **!!**

लाखों वर्षों से मनुष्य जगत में यही महा शोचनीय दशा जारी थी। इस महा पतनकारी वा महा हानिकारक दशा के घटाने वा दूर करने के लिए यह आवश्यक था, कि उस में से **पूर्णत: नई शक्तियों से विशिष्ट किसी ऐसे आत्मा का आविर्भाव हो, कि जिस में सुख के स्थान में शुभ का पूर्ण अनुराग, और सुख अनुराग से जिस जिस प्रकार की मिथ्याओं और अहितों की उत्पत्ति होती है, उन सब के प्रति पूर्ण घृणा, और नेचर के सम्बन्ध में सब प्रकार के सत्यों के लिए पूर्ण अनुराग विकसित हो।** और नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार इन **शुभ और सत्य विषयक अनुरागों** के "क्रम- विकास" से जिस जिस प्रकार की **चिंताओं** और जिस जिस प्रकार के **विश्वासों,** कथनों, वचनों वा वाणी उपदेशों, लेखों, समर्पणों और त्यागों आदि की उत्पत्ति होती है, उन सब की उस में उत्पत्ति हो। और इन शुभ और सत्य विषयक अनुरागों के विकास से **आत्मरूप-प्रदर्शक जिस देव-ज्योति और नेचर के विविध सम्बन्धों में अहित नाशक और हित उत्पादक जिस देव-तेज की उत्पत्ति होती है, उनका उस में विकास हो,** और वह अपने आत्मा में इन शुभ और सत्य विषयक पूर्ण अनुरागों को प्राप्त होकर मनुष्य जगत के उलटा-दृष्टा और अन्धकारग्रस्त, अबोधी और पतित, परन्तु किसी न किसी अंश में **अधिकारी, आत्माओं के लिए देव-सूर्य होकर उन की अपनी अपनी योग्यता के अनुसार उन्हें अपनी अद्वितीय देव-ज्योति और अपना यह अद्वितीय देव-तेज दान करे; और उनका सत्य-उपास्य, सत्य-मोक्षदाता, सत्य-धर्म-शिक्षक वा गुरु और सत्य और पूर्णांग कल्याणकर्ता हो।** क्योंकि ऐसे अद्वितीय देव-सूर्य के बिना मनुष्य जगत के आत्माओं में इस प्रकार का परम वांछनीय उच्च परिवर्तन आ नहीं सकता था। नेचर के मनुष्य जगत में उसी की अपनी विकास विषयक विधि के अनुसार इन सब प्रकार की अद्वितीय शक्तियों से विशिष्ट जिस आत्मा का आविर्भाव हुआ है, उसी का नाम **देवत्मा** है।

यही **देवात्मा** अपनी अद्वितीय **देव-ज्योति** और अपने अद्वितीय **देव-तेज** से विशिष्ट होने

के कारण मनुष्य जगत के लिए उसी प्रकार का सच्चा परन्तु पूर्ण रूप से कल्याणकर्ता **देव-सूर्य है,** जिस प्रकार यहाँ के मनुष्य जगत और उस से नीचे के अन्य जीवित जगतों के विविध प्रकार के शारीरिक कल्याण के लिए **भौतिक सूर्य** है।

इसी देव-सूर्य अर्थात देवात्मा ने अपनी देव-ज्योति में -

(1) मनुष्य के आत्मा के अस्तित्व,

(2) उसके आत्मा का उसके शरीर के साथ सम्बन्ध,

(3) उसके आत्मा की विविध प्रकार की शक्तियों से संयुक्त गठन,

(4) उस की इस गठन में विविध प्रकार के सुख विषयक अनुराग,

(5) उसमें इन सुख अनुरागों से उत्पन्न विविध प्रकार की घृणाओं, मिथ्याओं, और विविध प्रकार के दुराचारों की उत्पत्ति,

(6) इन सब से उसका महा शोचनीय पतन ,

(7) ऐसे पतन से उस की मोक्ष, और

(8) उस में जीवन-वर्द्धक विविध प्रकार की उच्च शक्तियों के विकास की आवश्यकता और विधि आदि नाना विषयों के सम्बन्ध में जिस प्रकार के अति गूढ़, अति आवश्यक, अति विचित्र और अति मूल्यवान सत्य देखे हैं, उसका देव-शास्त्र के इस खंड में आगे चलकर विस्तार पूर्वक उल्लेख होगा।

******

चौथा अध्याय ।

मनुष्य, उसका आत्मा, और उसका शरीर ।

प्र० । मनुष्य किसे कहते हैं ?

उ० । आत्मा और शरीर नामक **दो विशेष प्रकार के गठन प्राप्त जीवित अस्तित्वों से संयुक्त व्यक्ति को मनुष्य कहते हैं।**

प्र० । इस पृथ्वी में मनुष्य की उत्पत्ति क्योंकर (कैसे) हुई ?

उ० । इस पृथ्वी में **पशु जगत के विकास के अनन्तर उस में से दूध पिलाने वाले पशुओं की एक शाखा से जिन कई प्रकार की और प्रशाखाओं की उत्पत्ति हुई, उन में से एक प्रशाखा के उच्च परिवर्तन के क्रम में मनुष्य के आकार का प्रकाश हुआ है।**

फिर यद्यपि यह मनुष्य नामक जीव पशु-जगत से ही उत्पन्न हुआ है, तथापि **उसके अस्तित्व में कई प्रकार की ऐसी विशेष शक्तियों का विकास हुआ है, कि जिनके कारण वह पशु जगत के अन्य सब प्रकार के जीवों से अपनी विशेषता रखता है; और उस की यह विशेष शक्तियां पशु जगत के किसी और जीव में पाई नहीं जातीं, और न वह उन में से किसी में कभी उत्पन्न ही हो सकती हैं।**

प्र० । मनुष्य का आत्मा क्या है ?

उ० । कई प्रकार की शक्तियों से विशिष्ट जो '**शक्तिमय जीवित अस्तित्व**' मनुष्य के शरीर में वास करता है, उसे मनुष्य का **आत्मा** कहते हैं।

प्र० । मनुष्य में उसके आत्मा की उत्पत्ति कैसे होती है ?

उ० । नेचर के **अटल नियमानुसार** जब मनुष्य **नर और नारी** के **विशेष सम्बन्ध** से दोनों के दो प्रकार के विशेष **जीवित "सेल" परस्पर के आकर्षण** से आपस में मिलकर **एक जीवित सेल बन जाते हैं,** और उन दोनों "सेलों" की दोनों-जीवनी शक्तियों के आपस में मिल जाने से **एक जीवनी शक्ति** बन जाती है, तब उन के सम्मिलन से जो यह **एक नई जीवनी शक्ति उत्पन होती है, और जो इस प्रकार के मेल से ही अपने भीतर गठन प्राप्त जीवित शरीर निर्माण करने की शक्ति लाभ करती है, यही "शरीर निर्माणकारी जीवनी**

शक्ति" पहले पहल उस नारी के गर्भ में एक पूर्णत: नए और नन्हे आत्मा के रूप में प्रकट होती है, और तब नेचर की ही इस विधि से एक पूर्णत: नए और नन्हे आत्मा का जन्म होता है कि जो आत्मा पहले न था।

यही **नया और नन्हा आत्मा** फिर उस नारी की गर्भ-स्थली में **अपने लिए मनुष्य शरीर के अनुरूप धीरे धीरे एक गठन प्राप्त जीवित शरीर निर्माण करता है।**

प्र० । मनुष्य आत्मा अपने लिए एक गठन प्राप्त जीवित शरीर क्योंकर निर्माण करता है ?

उ० । इस विषय में शरीर विषयक तत्वों के नाना सुयोग्य अनुसन्धान-कर्ताओं ने जो कुछ जाना है, उसका मोटा मोटा और संक्षिप्त वृतांत यह है:-

जब नर नारी के इस एक सम्मिलित **सेल में एक नए आत्मा** का जन्म हो जाता है तब पहले पहल उस सेल में उसके शरीर निर्माण के लिए जो **सामग्री** वर्तमान होती है, उसी सामग्री से वह तीन तहों का एक **कीड़े** की न्याई अत्यंत छोटा सा **भ्रूण** बनाता है। फिर यह भ्रूण जब स्त्री की बच्चेदानी की झिल्ली पर किसी जगह चिपक कर स्थापित हो जाता है, तब वहां पर वह उस झिल्ली में से अपने साथ जुड़ी हुई एक नरम और स्पंज जैसी वस्तु तैयार करता है, कि जिसे **आंवल वा फूल कहते** हैं, और जिसके भीतर से रुधिर की तीन नालियां निकल कर और एक दूसरे के साथ रस्सी की न्याई लिपट कर एक ओर इस भ्रूण के साथ और दूसरी ओर गर्भवती स्त्री की रुधिर की नालियों से जुड़ जाती हैं। इसी आपस में लिपटी हुई रस्सी जैसी वस्तु को नाल कहते हैं। इस नाल की एक नाली के द्वारा गर्भवती स्त्री का **साफ़ रुधिर** भ्रूण तक पहुँचता है, और आत्मा उस रुधिर को अपने इस नए भ्रूण की रचना के लिए काम में लाता है। फिर उस में से जो **मैला खून** शेष रह जाता है, वह दूसरी दो नालियों के द्वारा निकल कर उस स्त्री की "मैला रुधिर वाहक नालियों" में जाकर मिल जाता है, और फिर वह उनके द्वारा उसके हृदय पिंड और फेफड़ों में पहुँच कर **साफ़** होता है।

स्त्री की बच्चेदानी में यह भ्रूण पहले पहल एक **"पिन" की** सी शकल का होता है, अर्थात उसके ऊपर एक सिर का सा बहुत छोटा सा निशान होता है, और वह नीचे की ओर पतले से पतला होता जाता है, और पतला होते होते एक **पूँछ की** सी शक्ल का बन जाता है। इस पूँछ की तरफ से वह नाल के द्वारा आंवल के साथ जुड़ा हुआ होता है। इस

भ्रूण की रक्षा और उन्नति के लिए आत्मा उस पर एक झिल्ली का खोल चढ़ा देता है, कि जिस में पानी की न्याई एक तरल पदार्थ भरा हुआ होता है, और वह भ्रूण उस थैली में बंद रहकर उस में तैरता रहता है।

स्त्री की बच्चेदानी में इस भ्रूण का भार **एक महीने में केवल सवा वा डेढ़ माशे** के लगभग होता है। फिर डेढ़ महीने में उसमें आँख, नाक, कान और मुंह के नन्हे नन्हे छेद प्रकट होते हैं, और सिर और धड़ अलग अलग दिखाई देते हैं। इस समय उसका वज़न प्राय: **पोने दो माशों** के लगभग होता है। दो महीने में यह भ्रूण प्राय: एक इंच लम्बा और वज़न में प्राय: **चार माशे** हो जाता है, और सिर और हृदय पिंड आदि अंग बन जाते हैं, और हाथ पाँव बनने आरम्भ होते हैं। तीन महीने के अनन्तर इस भ्रूण की लम्बाई प्राय: साढ़े तीन इंच और उसका भार प्राय: **ढाई तोले** हो जाता है। इस समय उस में हाथ पाँव की उंगलियां प्रकट होनी और हडियां बननी आरम्भ हो जाती हैं, और आवंल पूरी बन जाती है। चार महीने के अनन्तर यह भ्रूण प्राय: पांच इंच लम्बा और उसका वज़न **दो छटांक** के लगभग हो जाता है। इस समय उस में मुंह और मलद्वार के छेद खुल जाते हैं, और लड़का लड़की की पहचान के अंग भी प्रकट हो जाते हैं। पांच महीने में उस की लम्बाई प्राय: **सात वा आठ इंच** हो जाती है, और उसका वज़न **प्राय: सवा पाव** हो जाता है। इस समय उस में बाल बनने आरम्भ हो जाते हैं। छै महीने के बाद उसकी लम्बाई **प्राय: बारह इंच** तक पहुंच जाती है, और उसका वज़न **प्राय: बारह छटांक** हो जाता है। इस समय उस की आँखों की पलकें बन जाती हैं, परन्तु आँखे बंद होती हैं। सात महीने के व्यतीत होने पर उस की लम्बाई **प्राय: पंद्रह इंच** हो जाती है, और उसका वज़न **सवा सेर** के लगभग पहुंच जाता है। आठ महीने के अनन्तर उस की लम्बाई **प्राय: सोलह इंच** हो जाती है, और उसका भार प्राय: **ढाई सेर तक** पहुंच जाता है। नौ महीने के बाद उस की लम्बाई **अठारह से बीस इंच तक और वज़न प्राय: साढ़े तीन सेर तक हो जाता है।** फिर प्राय: चालीस सप्ताह में यह भ्रूण पूरा बच्चा बन जाने पर अनुकूल दशा में नेचर के नियमानुसार गर्भवती स्त्री की गर्भ-स्थली से बाहर निकल जाता है, और बाहर आ जाने और नेचर की ही एक और विधि से उसके आत्मा और शरीर दोनों की पालना का क्रम आरम्भ होता है।

प्र० । बच्चे के बन जाने और गर्भस्थली से बाहर आ जाने पर उसके शरीर के प्रति पालन और उस की उन्नति का काम नेचर की किस विधि से होता है ?

उ० । माता की गर्भस्थली में **सब आवश्यक अंगों के साथ शरीर के निर्माण हो चुकने** और फिर उस से ठीक प्रकार और जीवित दशा में बाहर आ जाने और वायु के द्वारा श्वास क्रिया के आरम्भ हो जाने पर, बच्चे की शारीरिक रक्षा और उन्नति के लिए उस की स्नायु प्रणाली के द्वारा उस में **जिन जिन बोध शक्तियों का प्रकाश होता है,** वह यह हैं:---

1. क्षुधा बोध अर्थात भूख का बोध ।
2. प्यास का बोध ।
3. मल त्याग बोध ।
4. मूत्र त्याग बोध ।
5. निद्रा बोध ।
6. श्रान्ति बोध ।
7. कष्ट वा पीड़ा बोध ।
8. सुख वा आराम बोध ।

इन बोधों के उत्पन हो जाने पर उसके शरीर की पालना और उन्नति का कार्य नेचर की जिस विधि से होता है, वह यह है :-

शरीर की पालना के लिए उस में रुधिर के निर्माण का काम। मनुष्य के शरीर में उसके मुह से लेकर पेट तक और पेट से लेकर छोटी और बड़ी आन्तड़ियों को मिला कर **एक बहुत लम्बी नाली होती** है, कि जिस में क्या उसके मुह और क्या उसके पेट और क्या उसके आगे और स्थानों में ऐसी बहुत सी छोटी छोटी और कई बड़ी बड़ी **गिल्टियाँ लगी** हुई होती है, कि **जो कई प्रकार का रस बनाती और निकालती हैं;** और **भूख** के लगने पर जब बच्चा दूध पीता वा और कुछ काल के अनन्तर कोई और आहार खाता है, तब उसे जीर्ण **करने और उसमें रासायनिक परिवर्तन लाने के लिए वह गिल्टियाँ उसमें अपना अपना भिन्न भिन्न प्रकार का रस मिलाती हैं,** और फिर इस **रासायनिक विधि से परिवर्तित होकर** जब वह आहार छोटी अंतड़ियों में प्रवेश करता है, तब उस में से उसका जितना भाग रुधिर बनाने में काम आ सकता है, उसे वह चूस लेती हैं, और शेष पदार्थ

मल रूप में उस की बड़ी अन्तड़ी में उतर जाता है।

शरीर में रुधिर संचालन का काम। छोटी अंतड़ियाँ **जो आहारीय-रस** चूस लेती हैं, रुधिर वहां से रुधिर-वाहक नालियों के द्वारा ऊपर की ओर बह कर **हृदय पिंड अर्थात् दिल नामक एक बड़े अंग** में पहुँच जाता है, और यह अंग उसे अपनी रुधिर की नालियों के द्वारा **फेफड़ों** में भेजता है। फिर यह **फेफड़े** वायु मंडल से सारे दिन और सारी रात जो **वायु** श्वास के द्वारा अपने भीतर खींचते रहते हैं, उस में से **आक्सीज़न ना**मक वायु उसके नीले रंग के रुधिर को साफ़ करके **लाल रंग** का बना देती है। और यह **लाल रुधिर** दूसरी नालियों से फिर हृदय पिंड में वापिस जाता है, और फिर इस **लाल रुधिर को हृदय पिंड अपनी लाल रुधिर ले जाने वाली नालियों के द्वारा शरीर के सारे अंगों की ओर रवाना करता है, और यह रुधिर बहता हुआ जिस जिस अंग के पास पहुचता है, वह वह अंग अपनी पालना के निमित आवश्यक भाग ग्रहण** कर लेता है; और फिर उस में से **नीले रंग** का जो ख़राब और मैला रुधिर शेष रह जाता है, वह **नीले रंग के खून के बहने वाली नालियों** के द्वारा इसी प्रकार के और रुधिर से मिल कर उसके साथ फिर हृदय-पिंड में वापिस आता है, और हृदय-पिंड उसे फिर **फेफड़ों की ओर** रवाना करता है और यह फेफड़े उसे फिर पहले की न्याईं साफ़ करके **लाल रंग** का बना देते हैं, और उसे फिर **हृदय पिंड की ओर** भेज देते हैं और हृदय-पिंड फिर इस रुधिर को शरीर के नाना अंगों की पालना के लिए आगे रवाना करता है। **इस विधि से शरीर के भीतर रुधिर के लगातार बहते रहने का क्रम रात दिन जारी रहता है,** और इस **हृदय पिंड** के बड़े अंग के द्वारा सारे शरीर में ही रुधिर **संचालन** का काम होता है।

फिर सारे शरीर में रुधिर पहुचाने के लिए हृदय पिंड से जितनी रुधिर की नालियां निकलती हैं, उनके साथ शरीर के कई स्थानों में कई प्रकार की और छोटी छोटी गिल्टियाँ भी संल्गन होती हैं, और वह भी अपना अपना विविध प्रकार का रस रुधिर की नालियों में डालती रहती हैं। और इस प्रकार की गिल्टियों में से एक गिल्टी गले में वायु की नाली के दोनों ओर होती है, और दो और छोटी गिल्टियाँ इसी गिल्टी के नीचे की ओर होती हैं। एक और गिल्टी खोपड़ी के पिछले भाग में रीढ़ की हड्डी के एक छोटे से छेद में होती है। दो गिल्टियाँ दोनों गुर्दों में से प्रत्येक के ऊपर उभरी हुई होती हैं, और कुछ गिल्टियाँ

पैनक्रियास में होती है जो नाभि से तीन चार इंच ऊपर पाक-स्थली के पीछे होता है। अब तक यह समझा गया है, कि यह गिल्टियाँ क्या शरीर के बढ़ने, क्या उसके नाना अंगो के विकास और क्या उस की स्वास्थ्य की रक्षा में बहुत बड़ा भाग लेती है; और यदि इन में से किसी के कार्य में किसी कारण से कोई विघ्न उत्पन्न हो जाये, तो शरीर बहुत निर्बल, उत्साह हीन और कई प्रकार के रोगों में ग्रस्त हो जाता है।

शरीर के रुधिर में से विविध प्रकार के विषाक्त और हानिकरक प्रदार्थों के निकालने का काम। आहार में से जो भाग रुधिर नहीं बन सकता, वह छोटी अंतड़ियो में से निकल कर बड़ी अंतड़ी में चला जाता है। इसी को मल कहते हैं। यह मल उस बड़ी अंतड़ी के द्वारा बाहर निकलता है, कि जो मल के द्वार तक पहुचती है। इसके भिन्न आहार से सम्बन्ध रखने वाले जो छोटे छोटे कई प्रकार के और **अनावश्यक** और कई दशाओं में **विषाक्त पदार्थ रुधिर में मिल जाते हैं**, वह यदि शरीर की किसी और मांस-पेशी में एकत्र होने का अवसर न पावें, तो वह रुधिर की नालियों में से बहते बहते जब **गुर्दों** के पास से गुज़रते हैं, तब वह गुर्दे उस रुधिर के गंदे पानी के साथ साथ उन्हें भी अपनी और खेंच लेते हैं और अपनी अपनी नालियों के द्वारा इस गंदे पानी को एक छोटे से **कुण्ड** में (जिसे मूत्र-कुण्ड वा मसाना कहते है) भेज देते हैं और इस कुण्ड में यह गन्दा पानी एकत्र होता रहता है। इसी गंदे पानी को **मूत्र वा पेशाब** कहते हैं। मूत्र-कुण्ड से मूत्र एक और नाली के द्वारा बह कर उस द्वार से बाहर निकल जाता है, जो गुप्त अंग के सिरे पर खुलता है।

फिर जब रुधिर बहता हुआ सारे शरीर में चक्र लगता है, तब उस में से कितना ही **मैला और विषाक्त भाग शरीर की त्वचा अर्थात खाल के उन लाखों छोटे छोटे छिद्रों के द्वारा** जो उस में होते हैं, बाहर निकलता रहता है। यही वह **विषाक्त और गन्दा** पदार्थ है, जिसे साधारण बोल चाल में पसीना कहते हैं।

इसी प्रकार फेफड़े जब वायु-मंडल में से साधारण वायु को खेंच कर उस में से **“आक्सीजन”** के द्वारा रुधिर के लाल बनाने का काम करते हैं, तब रुधिर के कणों में **जो अंगार वा कोयला** मिला हुआ होता है, उसके साथ इस “आक्सीजन” के मिल जाने से एक प्रकार की **विषाक्त वायु** उत्पन होती है, जिसे अंग्रेजी भाषा में ‘कार्बोनिक एसिड गैस’ कहते हैं। इस अंगार और आक्सीजन के मेल से ही सारे शरीर में वह उचित

ताप उत्पन्न होता है, कि जिस से शरीर **गरम** और **जीवित** रहता है। फिर इस **कार्बोनिक एसिड नामक विषाक्त गैस को भी** यही **फेफड़े** बाहर निकलते रहते हैं। इस विधि से **इन चारों प्रकार के अंगों** अर्थात **अंतड़ियों, गुर्दों, त्वचा के छिद्रों और फेफड़ों के द्वारा शरीर की गठन से मल आदि विषयक नाना हानिकारक पदार्थों के बाहर निकालने का काम होता रहता है।**

शरीर में नाना अंगों के परिचालन और कई प्रकार के बोधों की प्राप्ति का काम। मनुष्य के सर्वोच्च अंग अर्थात **सिर** से निकल कर और उस की **पीठ कि हड्डी** में से गुज़र कर उसके सारे शरीर के विविध अंगों और प्रत्यंगों तक उसके शरीर की रक्षा और पालना के लिए बहुत बड़ा और **अत्यंत मूल्यवान जाल फैला हुआ है।** इस जाल को **स्नायु जाल** कहते हैं। इसमें **लाखों जीवित सूत्र** एक दूसरे से मिले हुए होते हैं। **इसी स्नायु जाल के द्वारा ही मनुष्यात्मा अपने शरीर के किसी अंग को हिलाता जुलाता है।** इसी स्नायु जाल के द्वारा वह अपने शरीर के **किसी अंग के कष्ट वा उस की किसी पीड़ा वा उसके किसी सुख वा आराम वा सर्दी वा गर्मी वा किसी बोझे वा भार आदि का बोध लाभ करता है।** इसी स्नायु प्रणाली के द्वारा उसके विविध अंगों के संचालन से खाद्य पदार्थ **एक वा दूसरे रूप में परिणित होते हैं, और उसके एक वा दूसरे अंग तक पहुँचते हैं,** इसी के द्वारा **फेफड़े** वायु खेंचने आदि का काम करते हैं, **हृदय पिंड** लगातार चलता रहता है, और नाना प्रकार के विषाक्त पदार्थ शरीर में से निकलते रहते हैं। इसी **स्नायु जाल** के द्वारा हाथ, पाँव, सिर, गरदन, जिव्हा आदि अन्य सब अंग हिलते हैं, और इसी के द्वारा शरीर के सारे अंगों के **परिचालन** और कई प्रकार के **बोध प्राप्ति** का काम होता है ।

यह सब अंग मनुष्य के जिस शारीरिक ढांचे में जुड़े वा लगे हुए होते हैं, वह इस प्रकार का होता है :-

यह ढांचा मनुष्य के सिर से लेकर उसके दोनों पांवों तक **हड्डियों** का बना हुआ है। इन हड्डियों में से कोई हड्डी लम्बी, कोई गोल, कोई चपटी और कोई किसी और आकार की होती है। मनुष्य के सारे शरीर में **प्राय: ढाई सौ हड्डियाँ** होती हैं। नाखूनों और दांतों के निकले हुए भागों के भिन्न मनुष्य के शरीर का यह सब ढांचा पट्ठों से मढ़ा हुआ होता है, और यह पट्ठे ही साधारण बोलचाल में **मांस** कहलाते हैं। यह पट्ठे मांस के धागेदार लच्छों

से जुड़ कर बनते हैं, और उन में भी कोई लम्बे, कोई चपटे और कोई किसी और आकार के होते हैं। मनुष्य के सारे शरीर में इस प्रकार के प्राय: पांच सौ पट्ठे होते हैं। इनमें बहुत लचक होती है, इसलिए हिलने वा हिलाए जाने पर वह कुछ बड़े वा छोटे भी हो जाते हैं। इन पट्ठों में से कितने ही पट्ठे ऐसे होते हैं, कि जो मनुष्य की अपनी **भाव-शक्ति के द्वारा** परिचालित होते हैं, और कुछ ऐसे होते हैं कि जो उस की किसी इच्छा के बिना अपने आप ही हिलते रहते हैं।

इन पट्ठों की रक्षा आदि के लिए उनके ऊपर एक **मेद** (चरबी) **की** परत होती है, और फिर उसके ऊपर **खाल** होती है। इस खाल के दो भाग होते हैं; जिनमें से एक नीचे की खाल, और दूसरी ऊपर की खाल कहलाती है। शरीर के ऊपर जब कोई छाला पड़ जाता है, तब हम उस छाले की झिल्ली में ऊपर की खाल को पृथक् देख सकते हैं। यह ऊपर की खाल बहुत पतली होती है; परन्तु नीचे की खाल ऊपर की खाल की अपेक्षा बहुत मोटी होती है। ऊपर की खाल के नीचे श्वेत, काला, पीला और लाल रंग रखने वाली लाखों छोटी छोटी थैलियाँ होती हैं, कि जिनके कारण कोई मनुष्य **गोरे,** कोई **काले,** कोई **पीले** और कोई **लाल** दिखाई देते हैं। ऊपर की खाल में से जो बाल निकले हुए होते हैं, उन की जड़ें नीचे की खाल में होती हैं, यह बाल भी कई रंग के होते हैं, अर्थात् सुनहरी, रुपहरी, काले, भुसले आदि। नीचे की खाल में सैकड़ों छोटी छोटी गिल्टियाँ होती हैं, जिनमें एक प्रकार का **तेल** तैयार होता है, और यह तेल बालों की रक्षा के काम आता है। इनके भिन्न इस खाल में और सैकड़ों गिल्टियाँ होती है, कि जिन में शरीर का **मैल** एकत्र होता है, और यह अत्यंत पतली पतली लाखों नालियों के द्वारा जो ऊपर की खाल में खुलती हैं, **पसीने** के रूप में बाहर निकलता रहता है।

मनुष्य के स्थूल शरीर का यह ढांचा एक घड़ी की डिबिया की न्याईं होता है। और जैसे घड़ी के भीतर बहुत **अंग-प्रत्यंग** होते हैं, वैसे ही मनुष्य के शरीर के ढांचे के भीतर मस्तिष्क, हृदय-पिंड, फेफड़े, पाकस्थली, यकृत, अंतड़ियाँ और वृक अर्थात् गुर्दे आदि नामक ऐसे बहुत से यंत्र होते हैं, कि जिन के द्वारा उसके **पालन** आदि का काम होता है।

मनुष्य के शरीर में जो **स्नायु जाल** होता है, उस की जड़ें उसके सिर में होती हैं। मनुष्य का यह सिर वा **मस्तिष्क** उसके शरीर का सबसे **बढ़िया अंग** है। यह **मस्तिष्क** खोपड़ी के

भीतर कई ढकनों से सुरक्षित रहता है; और वह एक भूसले और श्वेत रंग का सा पदार्थ होता है। शरीर की सारी स्नायु इसी पदार्थ की बनी होती है; और वह सूतदार नालियों की न्याई एक प्रकार के खोल से आवृत होकर और मस्तिष्क से निकल कर सारे शरीर में फैलती है।

मनुष्य के शरीर के अग्र भाग में उस की आँखें, उसके कान, उस की नाक, उसका मुख आदि अंग होते हैं। मनुष्य के स्नायु-जाल में से एक भाग उन **स्नायुवों** का होता है, कि जिनके द्वारा मनुष्य अपने शरीर के विविध पट्ठों को अपने भाव के अनुसार **परिचालित** कर सकता है, और एक भाग उनका है, कि जिनके द्वारा वह नाना प्रकार के **बोधों** वा सनसनियों के लाभ करने की योग्यता रखता है। **यह दोनों ही भाग उसके कल्याण के लिए अति आवश्यक है।** पहले भाग की जो जो शाखें जिस जिस पट्ठे तक पहुचती हैं, वह यदि काट दिए जावें, तो वह पट्ठे हिल नहीं सकते; अर्थात इस भाग की वह स्नायु, जो उसकी आखों तक पहुचती है, काट दी जावे, तो फिर मनुष्य अपनी इच्छा के द्वारा अपनी आखों को बंद नहीं कर सकेगा, और ऐसी अवस्था में उस की आखें बराबर खुली रहेंगी। इसी प्रकार जो **बोध-दायक** स्नायु भाग आखों तक पहुचता है, उसे यदि काट दिया जाये, तो आखों के रहने पर भी मनुष्य उनके द्वारा कोई रूप न देख सकेगा। यही नियम और नाना अंगों के साथ भी है।

प्र० । मनुष्य की शारीरिक उन्नति से क्या अभिप्राय है ?

उ० । मनुष्य के शरीर में पहले पहल जो विविध प्रकार के अंग बन कर तैयार होते हैं, वह उसके **पालना** विषयक कार्य के द्वारा **धीरे धीरे बढ़ते** है; और इसलिए उसका **छोटे डील-डौल का शरीर बढ़कर बड़े डील-डौल का बन जाता है।** उसके **शरीर का भार बढ़ता है,** और उसमें अधिक से अधिक **बल** उत्पन होता है। पहले उसके जो **पाचनकारी अंग** किसी पतले और बहुत हलके खाद्य के भिन्न जो किसी ठोस **वस्तु** के खाने और उसे **जीर्ण** करने के योग्य नहीं होते, वह धीरे धीरे **बलवान** होकर ठोस वस्तु के खाने और जीर्ण करने के योग्य बन जाते हैं। पहले वह अपने पट्ठों की निर्बलता के कारण **अपने आप बैठ नहीं सकता;** परन्तु धीरे धीरे उसके पट्ठे इतने **बलिष्ट** हो जाते हैं, कि वह अपने आप बैठने के योग्य हो जाता है। फिर बैठने के योग्य हो जाने पर भी वह इतना बलवान

नहीं होता कि आप **खड़ा** हो, और अपने पावों से आप कुछ चल सके, परन्तु कुछ काल में पट्ठों के **अधिक बलवान** हो जाने पर वह **खड़े** होने और धीरे धीरे **चलने** और फिर क्रम क्रम से **भागकर** चलने के भी योग्य हो जाता है। पहले वह अपने हाथों से कोई वस्तु उठा नहीं सकता; फिर धीरे धीरे हाथों के बलीष्ट होने पर पहले हलकी हलकी और फिर अपेक्षाकृत **भारी चीज़ों** के उठाने की **क्षमता** वा शक्ति लाभ करता है। इस प्रकार के सब शुभ परिवर्तन को **शारीरिक उन्नति** कहते हैं।

प्र० । मनुष्य के शरीर की यह गठन क्योंकर निरोग और स्वास्थ्य की दशा में रह सकती है ?

उ० । मनुष्य की इस शारीरिक गठन के निरोग और स्वास्थ्य की दशा और उस से भी बढ़कर जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है, कि :-

(1) उसमें जिन जिन पाचनकारी अंगों के द्वारा आहार में से रुधिर बनाने का काम होता है, वह सब अंग एक ओर अपनी अपनी बनावट में ठीक हों, और दूसरी ओर वह सब अपना अपना काम भली–भान्त पूरा करते हों;

(2) उसमें जिन जिन अंगों के द्वारा रुधिर के परिष्कार और संचालन करने का काम होता है, वह सब अंग भी एक ओर अपनी अपनी बनावट में ठीक हों, और दूसरी ओर वह सब अपना अपना काम भी भली–भान्त पूरा करते हों;

(3) उसमें इन उपरोक्त अंगों के कार्य से उन अंगों और उसके भिन्न उस की सब प्रकार की हड्डियों और उसके सब प्रकार के पट्ठों तक रुधिर की जो धार बह कर पहुंचती हो, उस में से वह सभी अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने लिए जीवन-प्रद सामग्री के ग्रहण करने वा चूस लेने की भली-भांत शक्तियां रखते हों;

(4) उस में उसके सारे अंग अपने जीने के लिए रुधिर में से आवश्यक सामग्री ग्रहण कर लेने के अनन्तर अन्य सब प्रकार के अनावश्यक, हानिकारक और विषाक्त पदार्थों को पूर्णतः त्याग करने की शक्तियां रखते हों।

फिर शरीर कि गठन के भीतर से अनावश्यक और हानिकारक पदार्थों के बाहर निकाल देने के लिए उसमें जो चार प्रकार के अंग विकसित हुए हैं, वह चारो अंग भी अर्थात:

1. अंतड़ियाँ। 2. गुर्दे 3. फेफड़े 4.त्वचा विषयक लाखों छिद्र,

अपना अपना काम भली भान्त पूरा करने की सामर्थ्य रखते हों, और उसे भली भान्त पूरा करते हों।

अब यदि शारीरिक गठन के इन सब प्रकार के अंगों में से किसी अंग की बनावट वा उसके कार्य विषयक बल की हीनता वा निर्बलता के कारण ठीक काम न हो, अथवा शरीर को **अपने जीवित रहने के लिए अपने से बाहर** जिस जिस प्रकार के उचित आहारीय पदार्थों और जल, वायु, ज्योति और ताप आदि अन्य वस्तुओं की आवश्यकता है, वह उसे उचित दशा और ठीक मात्रा में न मिले, तो शरीर की गठन ठीक दशा में न रहेगी। अर्थात उसमें एक वा दूसरे प्रकार के **रोग वा रोगों और उन रोगों से जो जो कष्ट उत्पन होते हैं, उन कष्टों और निर्बलता आदि की उत्पति हो जाएगी, और उसकी स्वास्थ्य बिगड़ जाएगी।** और यदि उसकी यह स्वास्थ्य बराबर बिगड़ती चली जाये, तो अंत में वह शरीर जीवित भी न रह सकेगा, और **उसकी पूर्ण मृत्यु हो जाएगी।** और इस प्रकार से नेचर ने प्रत्येक जीवित गठन के लिए उसके जीने, बिगड़ने वा रोगी होने और मरने वा नष्ट हो जाने के सम्बन्ध में जो जो अटल नियम रखे हैं, वह अवश्य पूर्ण होंगे। मनुष्य की **आत्मिक गठन भी नेचर के इसी प्रकार के अटल नियमों के अधीन है।**

प्र० । मनुष्य की इस शरीर विषयक गठन की उचित पालना और रक्षा के नियम क्या है?

उ० ।नेचर की ओर से ही मनुष्य को **विविध प्रकार के अंगों से संगठित जीवित शरीर मिला है**, और नेचर की ओर से ही उसकी पालना और रक्षा के सम्बन्ध में शुभ नियम भी रखे गए हैं, इसलिए नेचर के इन नियमों का जानना और उन्हें जान कर उनका साथ देने योग्य बनना मनुष्य के लिए नितांत आवश्यक है।

परन्तु शोक ! कि मनुष्य अपने शरीर के सम्बन्ध में भूख़, प्यास, स्वाद, काम, आलस्य आदि कई प्रकार के भावों से परिचालित होकर और उनकी तृप्ति के द्वारा **केवल सुख लाभ करने का अभ्यासी** बन कर उन नियमों से विमुख हो गया है। वह **सुख** का अनुरागी बन कर **दु:ख** को अवश्य नहीं चाहता, और इसीलिए जिन जिन शारीरिक रोगों से उसे किसी प्रकार का दु:ख **वा कष्ट** मिलता हो, **उन रोगों को भी वह नहीं चाहता।** परन्तु इसके साथ ही लाखों मनुष्य इतना भी नहीं जानते और न जानना चाहते हैं कि उनकी शारीरिक गठन क्या है, उस गठन के वह अंग - विशेष कर वह बड़े बड़े अंग कि जिनके

द्वारा उसके जीवन का कार्य होता है – क्या है; और न वह यही अनुभव करते हैं कि उन्हें अपनी शारीरिक गठन को **ठीक वा स्वास्थ्य की दशा** में रखने के निमित नेचर की उन सब वस्तुओं के विषय में भी **सत्य ज्ञान लाभ करने की आवश्यकता है,** कि जो नेचर में उनके लिए सहायक रखी हैं। साधारणत: सब प्रकार के मनुष्य अपने कई प्रकार के उन भावों की तृप्ति करके **सुख लाभ करना चाहते हैं,** कि जो उनमें पैदा हो रहे हैं, और बस। इसलिए वह हजारों वर्षों से अपने इन शरीर सम्बन्धी **विविध प्रकार के सुखों के अनुरागी और अभ्यासी बनते बनते इस पतित दशा में पहुच गए हैं,** कि वह जिन नाना प्रकार के **रोगों** से रोगी होते हैं, वह पशु जगत के जीवों के शरीरों में नहीं होते, और वह उन रोगों से अपने शरीर की गठन की जितने प्रकार से **हानि** करते हैं, उतने प्रकार से पशु जगत के जीव **नहीं** करते, क्योंकि वह **मनुष्य के से नाना शारीरिक सुखों के अनुरागी नहीं बने**। वह अपने स्वभाव-जात भावों के अनुसार चलकर अपने अपने शरीर के सम्बन्ध में नेचर के हितकर नियमों की **जितनी पैरवी** करते हैं, उतनी पैरवी मनुष्य **नहीं** करता। इसलिए वह अपने अपने शरीर के विचार से जितनी स्वास्थ्य की दशा में रहते हैं, उतनी स्वास्थ्य की दशा में मनुष्य नहीं रहता।

प्र० । मनुष्य अपने सुख विषयक अनुरागों के वशीभूत होकर नेचर के किन किन हितकर नियमों को भंग करता है ?

उ० । वह कई और शुभ नियमों के भिन्न नेचर के जिन बड़े बड़े विशेष शुभ नियमों को बहुत बुरी तरह से भंग करता है, वह यह है :-

1. खान पान के सम्बन्ध में ।
2. शुद्ध वायु के सेवन के सम्बन्ध में ।
3. सूर्य से आवश्यक मात्रा में ज्योति और ताप के ग्रहण करने के सम्बन्ध में।
4. शरीर के विविध अंगों को उचित और यथेष्ट रूप से परिचालन करने के सम्बन्ध में।

(1) खान पान विषयक सुखों का अनुरागी और अभ्यासी बनकर मनुष्य ऐसी बहुत से वस्तुएं खाता और पीता है, कि जो नेचर ने उसके जीवन्त-गठन के लिए **हितकर नहीं बनाई,** किन्तु जो उसके लिए अत्यंत हानिकारक हैं।

स्वाद के वशीभूत होकर वह आवश्यकता से बहुत अधिक और **उचित समय** के विरुद्ध

नाना वस्तुएं खाता है, कि जिससे उसकी शारीरिक स्वास्थ्य की और भी अधिक हानि होती है ।

(2) जंगल के हिरण, बारहसिंगे, नीलगाय और नाना प्रकार के पक्षी आदि जिस प्रकार की **खुली और शुद्ध वायु** में रहकर और स्वास लेकर और आवश्यक मात्रा में आक्सीजन गैस को लाभ करके अपने खून को भली दशा में रखते हैं, उसी प्रकार से लाखों मनुष्य खुली और शुद्ध वायु का सेवन नहीं करते, और न ऐसे घर ही बनाते और उन में रहते हैं, कि जिनमें खुली और काफी हवा भली भान्त प्रवेश करती रहे।

(3) सूर्य की ज्योति को भी लाखों मनुष्य उचित रूप से सेवन नहीं करते- खासकर जो जन सुसभ्य कहलाते हैं, वह हर मौसम और हर समय में ही अपने शरीर को कपड़ों से बहुत अधिक ढका रखते हैं, और इसीलिये उनकी जिस हज़ारों छिद्रों से भरपूर खाल पर सूर्य की ज्योति की जितनी मात्रा में किरणों के पड़ने और उस पर उचित रूप से ठंडी हवा के स्पर्श करने से उसकी पुष्टि होती है, और उसे अपने नियत कार्य को उत्तम रूप से पूरा करने के लिए बल मिलता है, वह बल नहीं मिलता; और वह शरीर के भीतर के जिस जिस प्रकार के मैले वा विषाक्त पदार्थों के निकालने का काम करती है, उसके उस काम में विघ्न उत्पन्न हो जाता है; और उससे भी उनकी शारीरिक स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुंचती है।

(4) फिर शरीर सम्बन्धी स्वास्थ्य की रक्षा के निमित्त उसके विविध अंगों को कई प्रकार की उचित विधि से व्यायाम वा वरज़िश के द्वारा प्रतिदिन कम से कम जितने अंश परिचालन करने की आवश्यकता है, कि जिससे उसके पट्ठों की लचक ठीक रह सकती है, और उनके भीतर खून का भली भान्त चक्र जारी रह सकता है, उसे भी लाखों मनुष्य जानना नहीं चाहते, और न उसका अभ्यास वा व्यवाहार ही करना पसन्द करते हैं।

इसीलिये पशु जगत के लाखों जीव अपनी अपनी विविध स्वभाव–जात आवश्यकताओं से परिचालित होकर जितना और जिस जिस प्रकार का परिश्रम करते हैं, और उससे अपने शरीर की गठन में गति उत्पन्न करते हैं, वह लाखों मनुष्य नहीं करते, और ऐसी दशा में रहकर वह इतने ढीले और इतने आलसी बन जाते हैं कि फिर वह आवश्यक मात्रा में **कोई व्यायाम सम्बन्धी परिश्रम** भी करना नहीं चाहते, और नहीं करते।

इसलिए **सुख परायण बनकर** और इन सब विषयों में **नेचर के शुभ नियमों को तोड़कर मनुष्य जिस जिस प्रकार के रोगों और कई बार असाध्य वा सांघातिक रोगों में ग्रस्त होते हैं,** और उनके द्वारा नाना प्रकार के **दारुण दुःख वा कष्ट** सहते हैं, और कभी कभी किसी ऐसे कष्ट के सहने की शक्ति न रखने पर अपने ही हाथ से अपने शरीर की आप हत्या कर लेते हैं; वह सब रोग, वह सब महा दुःख, वह सब दारुण कष्ट पशु जगत में पाए नहीं जाते; और न उन में वह आत्मघात की घटनाएँ होती हैं, कि जो मनुष्य जगत में पाई जाती हैं।

प्र० । तब नेचर ने मनुष्य के शरीर की उचित रूप से पालना और उसकी स्वास्थ्य की रक्षा के निमित्त किस किस प्रकार की चीज़ों के खाने पीने की विधि की है ?

उ० । नेचर के नियमानुसार पशु जगत में से उचित रूप से प्राप्त दूध और दूध से निकली हुई वस्तुएं यथा मक्खन, घी, दही, छाछ आदि खाने की वस्तुएं हैं, और उनके भिन्न पशु जगत की कोई और चीज़ नहीं। इसके भिन्न उद्भिद्द जगत में से ऐसे सब प्रकार के सूखे मेवे और ताज़े फल और ऐसे सब प्रकार के पौधों के हरे पत्ते, उनकी जड़ें, उनके फूल और दाने, कि जो जहाँ तक किसी जन को **अपनी निज की परीक्षा** के द्वारा हितकर प्रतीत होते हों, उनका खाना उचित और आवश्यक है। फिर उद्भिद जगत की वस्तुओं में से गेहूं के दानों के ऊपर जो छिलके होते हैं, उन्हें त्याग न करना चाहिए, किन्तु उनके साबित दानों को पीस कर और उस आटे को बिना छानने के सारे का सारा आटा खाना चाहिए; क्योंकि गेहूं के छिलकों में शरीर के पट्ठों के निर्माण की जो वस्तु वर्तमान होती है, उसके निकाल देने से शरीर को ठीक खुराक नहीं मिलती। इसी प्रकार विविध भाजियों में नेचर ने मनुष्य के शरीर की पालना और रक्षा के लिए जितने प्रकार के आवश्यक खार आदि पदार्थ रक्खे हैं, उन्हें जहाँ तक सम्भव हो, पका कर न खाया जाए, किन्तु खूब साफ़ करके कच्चा खाया जाए, और जहाँ उन में से किसी को पका कर ही खाना आवश्यक हो, वहां उनको भाप आदि के द्वारा इस तरह से पकाया जाए, कि उनके भीतर के वह खार आदि अति आवश्यक पदार्थ जहाँ तक सम्भव हो, उनमें से निकल न जाएँ। फलत: नेचर के नियमानुसार मनुष्य की शारीरिक गठन की पालना और उस की स्वास्थ्य की रक्षा के लिए दूध और दूध से बनी हुई वस्तुएं, और उद्भिद्द जगत प्रसूत विविध प्रकार

के सूखे और ताज़े फल, और भाजियां, और दाने ही उचित खुराक हैं; और उनके भिन्न और कुछ नहीं। और उनके उचित और नियमित रूप से पीने और खाने से मनुष्य का शरीर जितनी अच्छी और स्वास्थ्य की दशा में रह सकता है, उतना और किसी प्रकार से नहीं।

प्र० । निर्माण कार्य के भिन्न मनुष्य के इस गठन-प्राप्त शरीर के साथ उसके आत्मा का और क्या सम्बन्ध है ?

उ० । मनुष्य का आत्मा केवल यही नहीं कि नेचर के नियमानुसार अपने लिए एक गठन प्राप्त जीवित शरीर निर्माण करता है, किन्तु वह उसमें वास करता है। वह उसकी पालना और रक्षा करता है, और **उसे** अपने एक वा दूसरे अभीष्ट की सिद्धि के लिए **कई प्रकार से काम में लाने कीं क्षमता रखता है।** और वह उसे नेचर के नियमानुसार **जीवित** रखने की **सामर्थ्य** रखता है, और वह **उसके साथ संयुक्त हो कर आप भी जीवित रहता है।**

******

पांचवां अध्याय ।

इस बात का क्या प्रमाण है कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर को उसका आत्मा ही बनाता है, और जिसका नाम आत्मा रक्खा गया है, वह आप मनुष्य के शरीर का प्रकाश नहीं है ?

प्र० । यह क्योंकर मालूम हो, कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर को उसका आत्मा ही बनाता है ?

उ० । न केवल मनुष्य जगत के प्रत्येक मनुष्य के शरीर को किन्तु उससे नीचे के जीवित जगतों अर्थात पशु जगत के प्रत्येक छोटे और बड़े जीव के शरीर और उद्भिद जगत के प्रत्येक छोटे और बड़े पौधे के आकार को भी **उसके भीतर की गठन प्राप्त निर्माणकारी जीवनी शक्ति ही बनाती है। मनुष्य की इसी निर्माणकारी जीवनी शक्ति का नाम आत्मा है। सच्ची परीक्षा के द्वारा इस बात का सच्चा और अकाट्य प्रमाण मिल सकता है।**

प्र० । वह सच्ची परीक्षा क्या है ?

उ० । यदि किसी चार या पाँच मास की गर्भवती स्त्री का **भ्रूण पात** हो गया हो, तो उसकी गर्भस्थली में उस भ्रूण वा बच्चे के शरीर को उसकी जो **जीवनी शक्ति** उस स्त्री के रुधिर से आवश्यक सामग्री लेकर **निर्माण** कर रही थी, उसका यह **निर्माण कार्य पूर्णत: बंद हो जाएगा;** और फिर वह **भ्रूण कभी और किसी प्रकार से अपनी पूर्ण गठन को प्राप्त न हो सकेगा;** अर्थात वह फिर कभी **पूरा बच्चा** न बन सकेगा। और कोई कहलाने वाला ईश्वर वा अन्य देवता भी उसके उस अधूरे शरीर को **पूरे शरीर के रूप में विकसित न कर सकेगा।**

प्र० । क्या किसी और विधि से भी इस सत्य की परीक्षा हो सकती है ?

उ० । जी हाँ। यदि तुम गेहूं के कुछ जीवित दानों को खौलते हुए पानी में डाल दो, तो ऐसा करने से कुछ देर में उस पानी की **ताप-शक्ति से उन दानों की जीवनी शक्तियां नष्ट**

हो जायेंगी, अर्थात वह मर जायेंगी। फिर उन दानों को तुम ठीक मौसम में और किसी खेत की अच्छी नरम और नमदार मट्टी में बो दो। परन्तु तुम देखोगे, कि दिन पर दिन व्यतीत होते जा रहे है, परन्तु वह दाने फूटने में नहीं आते, और उनमें से किसी से भी गेहूं का पौधा नहीं बनता। क्यों ? इसलिए कि उनके भीतर जो **शरीर निर्माणकारी जीवनी शक्तियाँ वार्तमान थी, उनके नष्ट हो जाने से उस निर्माण कार्य का करने वाला कोई और न रहा। इसलिए उन पौधों के बनाने का काम सदा के लिए बंद हो गया।** यद्यपि ईश्वर वादियों के विश्वास के अनुसार उनके सत्य और जीवंत ईश्वर क्या उन दानों में (कि जिनकी शरीर निर्माणकारी शक्तियां ताप से नष्ट हो गयी हैं) और क्या उस मट्टी में कि जिस में वह दाने बोये गये हैं, **सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान और सृष्टा वा रचनाकर्ता रूप में वर्तमान हैं; तथापि वह अपनी किसी भी शक्ति से उन अजीवित वा मुर्दा दानों में से कोई जीवित पौधा उत्पन्न नहीं कर सकते।**

फिर यद्यपि यह सच है, कि ऐसे ईश्वर का अस्तित्व ही **मिथ्या** है, और इसलिए वह मुर्दा दानों से कोई जिन्दा पौधा उत्पन ही नहीं कर सकता, तथापि यदि कोई **सचमुच का जीवित मनुष्य भी** (कि जिसका अस्तित्व मिथ्या नहीं) उन मुर्दा दानों में से कोई पौधा उत्पन करना चाहे, तो वह भी उन में से कोई पौधा उत्पन नहीं कर सकेगा, **क्योंकि नेचर के अटल नियमानुसार ऐसा होना असम्भव है,** और जो कुछ नेचर ने **सम्भव नहीं रखा,** उसे उसका कोई सत्य अस्तित्व भी **सम्भव नहीं कर सकता।**

फिर यदि तुम **पशु जगत में इसी तत्व की परीक्षा करना चाहो,** तो जो लोग मुर्गियों के अण्डों को गरम पानी मैं डालकर और उन्हें पकाकर खाते हैं, उनमें से किसी से एक ऐसा पका हुआ अंडा कि **जिस की जीवनी शक्ति नष्ट जो चुकी हो,** ले आओ। अब इस अंडे को तुम चाहे किसी मुर्गी के नीचे रक्खो, और चाहे उसे किसी और विधि से सेने की कोशिश करो, परन्तु उसमें से **कभी कोई बच्चा पैदा न होगा,** क्योंकि उस अंडे के भीतर जो **शरीर निर्माणकारी जीवनी-शक्ति** अनुकूल दशा में उसकी सामग्री से एक जीवित बच्चा बना सकती थी, **वह निर्माणकारी जीवनी-शक्ति ही जब मर गयी, तब उसके भिन्न कोई और उसकी सामग्री से कोई जीवित बच्चा नहीं बना सकता। हाँ, ईश्वर-वादियों के ईश्वर भी उस में से फिर कोई जीवित बच्चा नहीं बना सकते, और नहीं उत्पन्न कर**

सकते। सच्ची नेचर के सच्चे और अटल नियम के अनुसार बिना **शरीर निर्माणकारी जीवनी-शक्ति के कि जो उस अंडे में पहले वर्तमान थी, और जो ताप-शक्ति के द्वारा नष्ट हो गयी, और कोई "देवता" वा मनुष्य वा कोई और अस्तित्व उस अंडे में से कोई जीवित शरीर निर्माण नहीं कर सकता।**

प्र० । जड़वादी जन यह कहते हैं, कि मनुष्य के **आत्मा का अपना मूल और पृथक अस्तित्व कुछ भी नहीं;** किन्तु वह उसके **जीवित जड़ शरीर** के ही अंगों का प्रकाश है; और उस शरीर की मृत्यु के साथ ही आप भी नष्ट हो जाता है। उनका यह कथन कैसा है ?

उ० । उनका यह कथन **पूर्णत: मिथ्या** है, क्योंकि जिस दशा में **मनुष्य का आत्मा ही उसके जीवित जड़ शरीर का निर्माणक और प्रकाशक है, तब वह आप उसका प्रकाश कैसे हो सकता है ?** मनुष्य का आत्मा ही तो उसके शरीर के पिंजर, मांस, रुधिर की नालियों और स्नायु-जाल को बना कर उसे प्रकट करता है। मनुष्य का आत्मा ही तो उसके शरीर के मस्तिष्क, आँखों, कानों, नाक, मुंह, फेफड़ों, हृदय पिंड, पाकस्थली, यकृत, अंतड़ियों, जननेन्द्रिय और हाथों, पाओं आदि **सब अंगों की रचना करता है।** मनुष्य का आत्मा ही तो अपने इस निर्मित किये हुए शरीर को **जीवित** रखता है। **यदि यह आत्मा न हो, तो इस पृथ्वी में कहीं भी और किसी भी मनुष्य का कोई शरीर न हो। इसलिए केवल यही नहीं, कि मनुष्य का आत्मा अपने जीवित शरीर का आप प्रकाश नहीं है, और नहीं हो सकता; किन्तु इसके विपरीत वही अपने जीवित शरीर का निर्माता और प्रकाशक है।** इसलिए जड़वादियों का यह कहना वा विश्वास करना कि आत्मा आप अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं रखता, किन्तु वह शरीर का ही एक प्रकार का प्रकाश वा जौहर है, **नेचर के अटल नियम और सत्य के पूर्णत: विरुद्ध है, और वह केवल उन की अपनी मिथ्या कल्पना है।**

वास्तव में **मनुष्य के अस्तित्व में उसका आत्मा ही तो मूल और मुख्य पदार्थ है।** इसलिए उसके विषय में **मूढ़ वा अज्ञानी वा अबोधी** रहना मनुष्य की **बहुत बड़ी अन्धता है,** और उसके अस्तित्व और जीवन के विषय में बोध लाभ करने के योग्य होना ही उसका बहुत बड़ा अधिकार है।

प्र० । क्या नेचर में कुछ ऐसी **जीवनी शक्तियाँ** भी हैं, कि जो जीवन तो रखती हैं, परन्तु

अपने लिए **किसी जीवित शरीर के निर्माण करने की कोई सामर्थ्य नहीं रखतीं?**

उ० । जी हाँ। प्रत्येक जीवित मनुष्य, पशु और पौधे के शरीर के नाना भागों की "जीवित सैलों" में ऐसी जीवनी शक्तियां होती हैं, कि जो किसी **जीवित शरीर के निर्माण करने की कुछ भी योग्यता वा सामर्थ्य नहीं रखतीं ।** दृष्टान्त स्थल में :-

जिन पौधों की कलमें काटकर और उन्हें अनुकूल ऋतु और भूमि में लगाकर और उनकी विधिपूर्वक पालना करके नये पौधे वा वृक्ष उत्पन्न किये जाते हैं, **उन पौधों में कितनी ही शाखाएं ऐसी होती हैं, कि जिन के जीवित "सैलों" में यद्यपि जीवनी शक्तियाँ तो होती हैं, तथापि उनमें पौधों वा वृक्षों के आकार बनाने की कोई निर्माणकारी शक्ति नहीं होती।** यदि उन की कलमें काट कर किसी अनुकूल ऋतु में और अनुकूल भूमि में भी लगाई जावें, और विधिपूर्वक उनकी पालना भी की जाय, **तो भी उन में से किसी कलम में से कोई पौधा वा वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता।**

इसके भिन्न कई प्रकार की **धातुओं** में जो जीवनी शक्तियां पाई जाती हैं, वह भी जीवित शरीर निर्माण करने की कोई योग्यता नहीं रखतीं।

प्र० । क्या कुछ धातुओं में भी जीवनी शक्तियां पाई जाती हैं ?

उ० । जी हाँ। और वह अपने **जीवन विषयक विशेष लक्षणों की** वर्तमानता से पहचानी जाती हैं ।

प्र० । वह लक्षण क्या हैं ?

उ० । जिस किसी धातु में जीवनी शक्ति वर्तमान हों, उस पर यदि बिजली के एक विशेष यंत्र का प्रयोग करके उस पर कुछ चोट लगाई जावे, तो वह शक्ति उससे **उत्तेजित** होकर एक कागज़ पर जो उस यंत्र के साथ लगा हुआ होता है, कुछ **खास किस्म की लकीरें खेंचती है।** यदि उस पर किसी विष का प्रयोग किया जाय, तो उससे भी **उत्तेजित** होकर वह उसी प्रकार की **क्रिया** करती है। यदि इस कर्म को जारी रक्खा जाय, तो वह धीरे धीरे अपने **जीवन-बल को खोना आरम्भ करती है, और कुछ काल के बाद अपने जीवन-बल को पूर्णत: खोकर मर जाती है।** और जब वह पूर्णत: मर जाती है, तब फिर **उस धातु पर चोट लगाने वा उस पर किसी विष के प्रयोग करने से वह पहले की तरह कोई लकीरें नहीं निकलती,** और वह पहले प्रकार के कोई लक्षण प्रकाशित नहीं करती।

प्र० । क्या छोटे वा बड़े पोधों, पशुओं और मनुष्यों के जीवित शरीरों में जो **जीवनी-शक्तियां** होती है, वह सब एक ही प्रकार की होती है ?

उ० । नहीं, वह सब की सब **अपने अपने अस्तित्व के बल और अपने कई और गुणों वा लक्षणों** के विचार से एक दूसरे से **भिन्न भिन्न रूप** रखती है। वृक्षों में जो गठन प्राप्त जीवनी शक्तियां होती है, वह साधारणतः अपने लिए जीवित शरीरों के निर्माण के लिए **जीवन रहित** मट्टी, पानी, वायु और सूर्य की ज्योति और ताप-शक्ति से सामग्री लेकर उसमें से **जीवित सेल** निर्माण करने की **सामर्थ्य** रखती है, **परन्तु पशु वा मनुष्य की जीवनी-शक्तियों में ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं होती,** अर्थात् वह केवल **अजीवित जगत की सामग्री से अपने लिए कोई जीवित शरीर निर्माण नहीं कर सकती।** फिर पशु और मनुष्य की जीवनी शक्तियां **साधारणत: अपने अपने शरीरों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने की जो सामर्थ्य रखती हैं, वह सामर्थ्य भी साधारणत:** पौधों की जीवनी शक्तियां नहीं रखती। इसी प्रकार मनुष्य की जीवनी शक्तियां **साधारणत:** जिस प्रकार की उन्नतशील मानसिक शक्तियां रखती है, वह पशु जगत की जीवनी शक्तियों में पाई नहीं जाती। परन्तु वह सब आपस में इस प्रकार की **विभिन्नता** रखकर भी अपने **मूल लक्षणों के विचार से एक ही प्रकार की हैं।**

प्र० । उन सब के वह मूल लक्षण क्या हैं ?

उ० । उन में से प्रत्येक ही अपने अपने लिए अनुकूल दशा में-

1. एक वा दूसरे प्रकार के **जीवित शरीर के निर्माण करने,**
2. उसके **प्रतिपालन करने,**
3. उसे एक वा दूसरे समय तक **जीवित रखने,** और
4. अनुककूल दशा में एक वा दूसरी विधि से **एक से अधिक हो जाने,** की सामर्थ्य रखती है।

यह मूल लक्षण क्या उद्भिद, क्या पशु और क्या मनुष्य **सभी जगतों की जीवनी शक्तियों में पाए जाते हैं।**

******

छठा अध्याय ।

आत्मा के सम्बन्ध में नाना प्रकार की मिथ्याओं का प्रचार ।

प्र० । जो लोग यह विश्वास करते है, कि मनुष्य का आत्मा अजन्मा वा स्वयंभू है, उनका यह विश्वास कैसा है ?

उ० । उनका यह विश्वास **पूर्णत: मिथ्या** है। पहले अध्याय में यह बताया जा चुका है, कि नेचर के नियमानुसार मनुष्य के आत्मा की उत्पत्ति कब और किस विधि से होती है। उस वर्णन में इस बात का प्रमाण दिया या चुका है, कि मनुष्य का आत्मा अजन्मा वा स्वयंभू नहीं; किंतु उसका एक वा दूसरे समय में जन्म होता है, और वह पहले पहल किसी मनुष्य स्त्री और पुरुष के विशेष सम्बन्ध से ही उत्पन होता है। और वह बिना किसी ऐसे सम्बन्ध के उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए **समय वा काल के विचार से उसका आदि है,** और वह **अनादि वा नित्य नहीं है।**

प्र० । क्या मनुष्य का आत्मा निर्लेप वा निर्विकार है; अर्थात उस पर उसकी अपनी किसी प्रकार की बुरी चिंताओं वा किसी प्रकार के बुरे वा पाप कर्मों का कुछ असर नहीं होता, और वह ऐसी सब प्रकार की चिंताएं और ऐसे सब प्रकार के कर्म करके ज्यों का त्यों वा जैसे का तैसा विकारहीन वा निर्विकार रहता है ?

उ० । कदापि नहीं। आत्मा “शक्तिमय” है, और वह अपनी गठन की जिस जिस भाव विषयक शक्ति से परिचालित होकर जो जो कुछ बुरी वा भली चिंताएं अथवा बुरे वा भले कर्म करता है, वह अपनी **उस उस भाव-शक्ति की गति से ही करता** है, **और नेचर के अटल नियमानुसार अपनी ऐसी प्रत्येक गति के द्वारा अपनी गठन में परिवर्तन उत्पन्न करता है,** और इस परिवर्तन के द्वारा **आप भी परिवर्तित होता** है। अर्थात यदि उस की ऐसी चिन्ताएं और बाह्यक क्रियाएँ **नीच गति मूलक वा पतनकारी हों,** तो वह उनके द्वारा अवश्य **पतित** होता है। और यदि उस की ऐसी चिंताएं और क्रियाएँ **श्रेष्ठ वा उच्चगति-मूलक हों,** तो वह उनके द्वारा अपनी गठन में श्रेष्ठ वा उच्च **परिवर्तन लाभ करके अवश्य श्रेष्ठ वा उच्च बनता है।** इसलिए जो लोग यह विश्वास करते है, कि मनुष्य का आत्मा

निर्लेप वा निर्विकार है, उनका यह विश्वास **पूर्णत: मिथ्या है।**

प्र० । जो लोग यह विश्वास करते है, कि मनुष्य का आत्मा कभी नहीं मरता और वह मृत्यु विहीन वा अमर है, उनका यह विश्वास कैसा है ?

उ० । **पूर्णत: मिथ्या है।** न केवल मनुष्य के शरीर में किन्तु किसी भी पशु वा पौधे के जीवित आकार में **कोई जीवनी शक्ति ऐसी नहीं, जो कभी और किसी दशा में विनष्ट न हो सकती हो।** नेचर के प्रकट वा उत्पन्नकारी नियम से जैसे उस में से किसी शरीरधारी मनुष्य वा पशु वा पौधे की जीवनी शक्ति **प्रकट वा उत्पन्न** होती है, वैसे ही नेचर के किसी ध्वंस वा विनाशकारी नियम के अनुसार वह **ध्वंस वा विनष्ट** भी हो जाती वा हो सकती है। मनुष्य का आत्मा जैसे नेचर के पतनकारी नियम के अनुसार पतित वा बुरा बनता है, और पतित बनने पर और हानियों के भिन्न **अपनी निर्माणकारी शक्ति के बल को भी खोता है, और इसलिए जब वह अपने इस सारे बल को खो देता है, तब वह किसी और जीवित शरीर के बनाने के योग्य न रहकर और किसी जीवित शरीर से सम्बंधित न होकर आप भी मर जाता है।** इसी प्रकार यदि वह नेचर के विकासकारी नियम का **बोधी** बन सके और वह उसी के नियमानुसार अपनी गठन में किसी प्रकार के विकासकारी उच्च भाव वा उच्च अनुराग लाभ कर सके, तो उन के द्वारा परिचालित होकर वह अपने **जीवन-बल को धीरे धीरे दिनों-दिन बढ़ा भी सकता है।** और उसे बढ़ा कर न केवल आप उच्च श्रेणी का बन सकता है, किंतु **अपने जीवन की आयु को भी दिनों-दिन उन्नत कर सकता है।**

प्र० । क्या जैसे किसी किसी मनुष्य के शरीर की किसी दुर्घटना से **अकाल मृत्यु** हो जाती है, वैसे ही किसी मनुष्य के आत्मा की भी **अकाल मृत्यु** हो सकती है ?

उ० । बेशक । जिस प्रकार ताप-शक्ति से उद्भिद जगत के गेहूं आदि विविध प्रकार के दानो की जीवनी शक्तियां मर जाती है और नाना प्रकार के अंडे देने वाले जीवों के अण्डों की जीवनी शक्तियां भी मर जाती हैं, और गर्भपात होने से मनुष्य के बच्चों की जीवनी शक्तियां भी मर जाती है, वैसे ही नाना प्रकार की **दुर्घटनाओं** से बड़ी उम्र के मनुष्यों की भी जीवनी शक्तियां नष्ट हो जाती है। इसलिए जो लोग यह विश्वास करते हैं, कि किसी **मनुष्य का आत्मा कभी नहीं मरता,** और वह सदा से है और सदा रहता है; अथवा वह

एक दिन पैदा तो होता है, परन्तु मरता कभी नहीं, उनका यह विश्वास **पूर्णत: मिथ्या** है।

प्र० । जो लोग यह विश्वास करते हैं, कि मनुष्यों के शरीर में जो आत्मा है, वह **सब एक दूसरे से अलग अलग नहीं हैं,** किंतु वह सब एक ऐसे बड़े आत्मा वा "ब्रह्म" के अंश हैं, कि जो क्या उन में और क्या उनके भिन्न और सब अस्तित्वों में भरा हुआ है, अथवा जो **आप ही सब कुछ** है, और उसके भिन्न और सब कुछ मिथ्या है; क्या उनका यह विश्वास सत्य है ?

उ० । नहीं; उनका भी यह विश्वास वा मत **पूर्णत: मिथ्या** है। जैसे प्रत्येक मनुष्य का शरीर अपने चेहरे में किसी अन्य मनुष्य के शरीर के चेहरे से कई ऐसी विशेष विभिन्नताएं रखता है, कि जिन के द्वारा वह **उन सबसे अलग पहचाना जाता है,** वैसे ही प्रत्येक मनुष्य का **आत्मा** किसी अन्य मनुष्य के आत्मा से अपने प्रकृति-विषयक गुणों के विचार से ऐसी **विभिन्नताएं** रखता है, कि जिनसे वह **उससे अलग पहचाना जा सकता है,** और इन **विभिन्नताओं** के विचार से वह **अपना पूर्णत: पृथक अस्तित्व रखता है।** इनके भिन्न वह 'अहं' वा 'मैं' विषयक व्यक्तित्व के **बोध** के उत्पन्न हो जाने पर आप भी यह अनुभव करता है, कि वह औरों से अपना **पूर्णत: अलग अस्तित्व रखता है। इस अहं वा व्यक्तिपन के बोध को प्राप्त होकर वह साफ़ जानता है,** कि जब कोई और मनुष्य अपने शरीर के सम्बन्ध में यह कहता है, कि मुझे क्षयी रोग हो गया है, मेरे फेफड़ों में क्षयी रोग के कीड़े पैदा हो गये हैं, और वह उन्हें खा रहे हैं, और वह उन में जो ज़हर पैदा करते हैं, उसके कारण मुझे प्रतिदिन बुखार भी हो जाता है, और मुझे कुछ-कुछ खांसी भी हो जाती है; तब वह उसी समय यह बोध करता है, कि मेरे शरीर में तो इस प्रकार का **कोई रोग नहीं है।** और जब किसी स्कूल का शिक्षक किसी लड़के को कोई पुस्तक पढाता है, तब वह साफ़ जानता है, कि उस लड़के का आत्मा जो उससे वह पुस्तक पढ़ रहा है, वा उससे कोई बात पूछ वा सीख रहा है, उसकी अपनी आत्मा से पूर्णत: एक **अलग अस्तित्व** है। इसी प्रकार जब कोई दुकानदार किसी और मनुष्य को कोई चीज़ बेचता है, तब वह साफ़ बोध करता है, कि **मैं और यह ग्राहक एक अस्तित्व नहीं।** इसी तरह जब कोई जन किसी और जन के सम्बन्ध में यह **अभियोग** लगाता है, कि उसने मुझे मारा है, वा मेरे धन की चोरी की है, वा मेरे बच्चे का खून किया है, वा मेरी स्त्री को भगा ले गया है, तब वह

साफ़ बोध करता है कि **जिस जन पर** वह किसी ऐसे अपराध का अभियोग लगाता है, **वह जन वह आप नहीं है, किन्तु वह कोई और जन वा व्यक्ति है।** फलत: मनुष्य जगत के सब आत्मा अपने अपने भावों और अपनी अपनी चिंताओं, अपने अपने विश्वासों और अपने अपने कर्मों में जिस जिस प्रकार की **विभिन्नताएं** रखते है, उन **विभिन्नताओं** के विचार से वह जैसे कभी एक व्यक्ति नहीं और नहीं हो सकते, वैसे ही वह किसी एक व्यक्ति वा कहलाने वाले किसी "ब्रह्म" नामक एक चेतन पुरुष के अंश भी नहीं, और नहीं हो सकते।

यह अद्वैतवाद वा वेदान्त विषयक विश्वास केवल यही नहीं, कि **पूर्णत: मिथ्या** है, किन्तु मनुष्य जगत के लिए **महा हानिकारक भी है।** क्योंकि यदि किसी मनुष्य में यह मिथ्या विश्वास उत्पन्न हो जाय, कि एक "ब्रह्म" नामक सत चित आनंद पुरुष के भिन्न **कोई और अस्तित्व सत्य नहीं;** और नाना प्रकार के जीवों और जड़ पदार्थों आदि से भरपूर जो जगत दिखाई देता है, वह जगत सत्य नहीं, किन्तु पूर्णत: मिथ्या है; और वह उसे भ्रम वा अविद्या वा माया के कारण सत्य प्रतीत होता है, और उसके इस कहलाने वाले चेतन "ब्रह्म" के भिन्न **कहीं और कोई अस्तित्व है ही नहीं;** तब ऐसी दशा में वह युक्ति-संगत यह मिथ्या विश्वास भी कर सकता है, कि वह **किसी और के सम्बन्ध में तो कोई अन्याय वा पाप मूलक कर्म** कर ही नहीं सकता, क्योंकि 'ब्रह्म' के सिवाय और कोई अस्तित्व वर्तमान नहीं, और इसीलिये वह **किसी के सम्बन्ध में अपराधी भी नहीं बन सकता।** इसके साथ ही जब वह यह भी विश्वास करता हो, कि वह अपने किसी बुरे वा पाप कर्म से मलिन वा पतित भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह निर्लेप है; तब ऐसी दशा मैं यदि वह **अपने किसी नीच भाव की प्रबल प्रेरणा से अपने किसी सुख भाव तृप्ति के लिए** किसी अपराध वा पाप के करने के लिए तैयार हो जाये, और कोई ऐसा अपराध वा पाप करे, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हो सकती। इसलिए इस मिथ्या विश्वास के कारण भी मनुष्य जगत में कई प्रकार के **दुराचार** फैले हैं।

फिर जो लोग जड़वादी कहलाते है, वह भी अपने इस विश्वास के अनुसार कि आत्मा का अलग कोई अस्तित्व नहीं है, और किसी मिथ्या वा दुराचार वा अत्याचार वा पापाचार से न तो उसकी कोई **हानि** हो सकती है, और न किसी परोपकार वा पुण्य कर्म से उसे कोई

लाभ पहुच सकता है, अपने वा अपने किसी पारिवारिक वा अन्य जन के लिए किसी ऐसी मिथ्या वा किसी ऐसे पाप वा दुराचार आदि से **मोक्ष की कोई आवश्यकता बोध नहीं कर सकते, कि जिससे उन्हें कोई दु:ख न होता हो;** और न अपने वा अपने किसी पारिवारिक वा अन्य जन में किसी उच्च वा शुभ उत्पादक किसी ऐसे भाव की उत्पति वा उन्नति की ही कोई **आवश्यकता अनुभव कर सकते हैं,** कि जिससे उन्हें कभी कोई कष्ट न मिलता हो।

फलत: जैसे वेदांती वा अद्वैतवादी नेचर **के जड़ पदार्थों के अस्तित्वों से अंधे** बनकर सारी नेचर को 'ब्रह्म' नामक एक **चेतन वस्तु** बना देते हैं, वैसे ही जड़वादी क्या नेचर की अजीवित शक्तियों और क्या नेचर के जीवित जगतों की सब प्रकार की जीवनी शक्तियों और उनके शरीर निर्माण विषयक कार्य से पूर्णत: **अंधे होकर** और उन्हें केवल शरीर का ही प्रकाश मान कर **सारी नेचर को जड़ रूप में बदल देते हैं।**

जबकि सत्य यह है कि **नेचर में जड़ और शक्ति दोनों वर्तमान** हैं, और **दोनों** को ही लेकर नेचर का अपना अस्तित्व **सत्य और पूर्ण** अस्तित्व है।

प्र० । जो लोग यह विश्वास करते हैं, कि मनुष्य का आत्मा किसी कहलाने वाले योगाभ्यास के द्वारा अपने भौतिक शरीर को किसी स्थान में छोड़ कर केवल अपने निराकार रूप के साथ किसी और स्थान में जा सकता है, वा पक्षियों की न्याई उड़कर किसी इस वा उस आकाश की सैर कर सकता है, और फिर सैर करने के बाद अपने उसी पहले शरीर में चला जाता है, उनका यह विश्वास कैसा है ?

उ० । पूर्णत: मिथ्या है। इस विषय में **दो प्रकार के सत्यों के जानने की आवश्यकता** है। पहला सत्य यह है, कि यदि मनुष्य के शरीर से उसका आत्मा **पूर्णत:** निकल जाये, तो नेचर के नियमानुसार उस का वह शरीर फिर जीवित नहीं रह सकता, और **उसी समय मर जाता है,** और **उसके अनन्तर फिर वह कभी और किसी उपाय से जीवित नहीं हो सकता, अर्थात वह सदा के लिए मर जाता है।** दूसरा सत्य यह है, कि मनुष्य का आत्मा बिना किसी स्थूल वा सूक्ष्म जीवित भौतिक शरीर से संयुक्त होने के न कुछ देख सकता है, न कुछ सुन सकता, और न कुछ बोल सकता है, न कुछ समझ वा जान सकता है, न कोई चिन्ता कर सकता है, न कुछ सुख वा दु:ख बोध कर सकता है, न किसी भाव का

प्रकाश कर सकता है, न कहीं जा सकता है, न कहींसे वापिस आ सकता है, और न किसी प्रकार की कोई भी और क्रिया कर सकता है। इसलिए निराकार रूप में जैसे उसका एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना वा किसी आकाश में उड़ना और वहां की सैर करना नेचर के अटल नियमानुसार **असम्भव है,** वैसे ही एक बार अपने शरीर से पूर्णत: अलग हो जाने पर उसके लिए फिर उसी शरीर में घुसना वा प्रवेश करना भी **असम्भव** है।

अब यदि यह कहा जाय कि वह अपने भौतिक स्थूल शरीर को छोड़ने के अनन्तर एक और भौतिक सूक्ष्म शरीर की रचना करके और उससे सम्बंधित होकर वहां से किसी और स्थान वा किसी आकाश में जाने के योग्य हो जाता है, तो यहाँ तक यह बात नेचर के नियमानुसार होने के कारण अवश्य सत्य मानी जा सकती है; परन्तु इस प्रकार के सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होकर वह किसी भी कहलाने वाले अपने योगाभ्यास वा किसी भी उपाय के द्वारा **अपने पहले मरे हुए स्थूल शरीर में फिर कभी भी प्रवेश नहीं कर सकता, और न उसे जीवित करके उसके द्वारा कोई क्रिया कर सकता वा कोई क्रिया करके दिखा सकता है।** इसलिए इस प्रकार का विश्वास भी **पूर्णत: मिथ्या** है।

प्र० । जो लोग यह विश्वास करते हैं, कि मनुष्य अपने इस वा उस प्रकार के योगाभ्यास वा किसी से कोई "वर" लाभ करके वा किसी मंत्र वा जादू आदि के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार अपने शरीर को किसी बकरे, भेड़, गाय, बैल, घोड़े, ऊँट, हाथी, रीछ, भेड़िये, शेर, कुत्ते, कौवे, कबूतर वा किसी सांप, बिच्छू, मच्छर और पिस्सू आदि के रूप में बदल सकता है, और जब जी चाहे इस प्रकार के किसी शरीर को फिर अपने पहले जैसे मनुष्य शरीर में परिवर्तित कर सकता है, उनका यह विश्वास कैसा है ?

उ० । पूर्णत: मिथ्या है। इस प्रकार का परिवर्तन नेचर के अटल नियमों के अनुसार **पूर्णत: असम्भव है,** और इसलिए न केवल यह विश्वास **पूर्णत: मिथ्या** है, किंतु लोगों में इस प्रकार के मिथ्या विश्वासों के फ़ैलाने के निमित जिन जिन के सम्बन्ध में जितनी और जिस जिस प्रकार की कहानियां घड़ी और प्रचलित की गई है, वह भी सब की सब **पूर्णत: मिथ्या** हैं।

प्र० । क्या जो लोग यह विश्वास करते हैं, कि उनके किसी देवते वा उस देवते के किसी

अवतार वा उसके किसी विशेष सम्बन्धी वा उसके भक्त वा उसके किसी संदेशदाता वा किसी अन्य प्रकार के सिद्ध-पुरुष में यह शक्ति थी, कि वह जब किसी से **कुपित** होने पर उसे **श्राप** देते, अर्थात उसे यह कहते, कि हे जीवित और हरे वृक्ष, तू अभी सूख जा, तब वह उनके कहने से उसी समय सूख जाता; और जब वह यह कहते कि वह दर्जनों भेड़ें वा बकरियां जो उस घास के मैदान में चर रही हैं, अभी मर जाएँ, तब वह उसी समय मर जाती; और जब वह यह कहते कि अमुक पुरुष इसी समय मर जाये, तो वह उसी समय मर जाता; और जब वह यह कहते, कि अमुक मरे हुए वृक्ष और अमुक मरी हुए भेड़ वा बकरी वा अमुक मरे हुए मनुष्य का शरीर अभी जीवित हो जाये, तो वह उसी समय जीवित हो जाता था; और जब वह किसी जवान पुरुष को यह कहते, कि तू अभी नन्हा सा बच्चा बन जा, वह उसी समय छोटा सा बच्चा बन जाता; और जब वह एक दिन के मनुष्य के बच्चे को यह कहते, कि तू मेरे साथ अमुक भाषा में बातचीत कर, तो वह उसी समय उसी भाषा में बोलने लगता, और यदि किसी वृक्ष को कहते, कि तू मेरे अमुक प्रश्न का उत्तर दे, तो वह उनकी भाषा में ही उनके प्रश्न का उत्तर देता था। क्या इन विविध प्रकार के जीवित शरीरों के सम्बन्ध में उनके ऐसे विश्वास सत्य हैं ?

उ० । नहीं; कदापि नहीं। उनके यह विश्वास भी नेचर के नियमों के विरुद्ध होने के कारण **पूर्णत: मिथ्या** हैं, और जिस जिस देश में इस प्रकार की जितनी कहानियाँ फैलाई गई हैं, वह **सब की सब झूठी हैं।**

प्र० । क्या कोई सर्व-शक्तिमान ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, अल्ला, खुदा, वाहेगुरु आदि कहलाने वाला देवता भी किसी मनुष्य आदि के मुर्दा शरीर को फिर जिन्दा नहीं कर सकता ? और क्या वह भी किसी मनुष्य के शरीर के मर जाने पर उसके आत्मा को किसी और मनुष्य वा पशु वा पौधे के शरीर में नहीं डाल सकता ?

उ० । कदापि नहीं। प्रथम तो इस प्रकार का कहलाने वाला देवता कही हैं नहीं, जो सर्व -शक्तिमान हो। दूसरे यदि युक्ति के लिए उसका अस्तित्व मान भी लिया जाये, तो भी जो कुछ नेचर के नियमों के विरुद्ध है, उसे भी कोई सच्ची परीक्षा के द्वारा कभी भी प्रमाणित करके दिखा नहीं सकता। पूर्णत: मरे हुए किसी मनुष्य वा पशु वा पौधे के शरीर को जैसे कोई कहलाने वाला देवता वा कोई और जीवित नहीं कर सकता, वैसे ही मनुष्य

शरीर को त्याग चुकने के अन्नतर कोई कहलाने वाला देवता उसके आत्मा को किसी और मानव-स्त्री वा पशु नारी आदि के गर्भ में डालकर उसे फिर कभी पैदा भी नहीं कर सकता।

इसलिए नेचर के अटल नियमों के विरुद्ध इस प्रकार के भी जितने विश्वास मनुष्य जगत में फैलाये गए हैं, वह सब के सब **पूर्णत: मिथ्या हैं।**

****

सातवां अध्याय ।

मनुष्य के आत्मा की गठन ।

जैसे मनुष्य का शरीर विविध प्रकार के अंगों को प्राप्त होकर एक **गठन प्राप्त** (Organised) **शरीर** बन गया है, वैसे ही उसका आत्मा भी विविध प्रकार की शक्तियों को प्राप्त होकर एक विशेष सीमा तक **गठन प्राप्त** (Organised) **अस्तित्व** बन गया है ।

मनुष्य के **शरीर की पूर्ण गठन में जिन जिन और जिस जिस प्रकार के विविध अंगों का विकास हुआ है,** वह सब अंग उसे नेचर के विकास विषयक नियम के अनुसार पशु जगत में से धीरे धीरे विकसित होते होते लाखों वर्षों के अन्नतर प्राप्त हुए हैं। फिर उस की मानसिक और हार्दिक शक्तियों की उन्नति के साथ साथ उसमें कई प्रकार की और भी उन्नति हुई है।

अब यद्यपि मनुष्य के **शरीर की गठन** तो अपने नाना प्रकार के **आवश्यक** अंगों की संख्या के विचार से **पूर्णता** को पहुच गयी है, तथापि उसका **आत्मा** अपनी गठन के नाना आवश्यक अंगों के विचार से **बहुत अपूर्ण वा अधूरी दशा में है।**

प्र० । मनुष्यात्मा की अपूर्ण गठन से क्या अभिप्राय है ?

उ० । प्रत्येक मनुष्यात्मा अपने विविध प्रकार के **सुख अनुरागों** का दास होकर उनकी तृप्ति के लिए जिस जिस प्रकार की आतंरिक चिंताएं और बाह्यक क्रियाएँ करता है, उनके द्वारा वह क्या अपने आत्मा और क्या अपने शरीर दोनों की ही गठन की विविध प्रकार से **महा हानियाँ करता है।** इन हानियों से बचाने के लिए उसे नेचर के नियमानुसार उनमें से **प्रत्येक के सम्बन्ध में प्रत्येक हानि को उसके प्रकृत रूप में देखने के लिए जिस ज्योति और उसे दूर करने और उससे मोक्ष पाने के निमित्त उसे जिस उच्च घृणा और दुख-उत्पादक भावों की नितांत आवश्यकता है,** उनकी अवर्तमानता।

इसी प्रकार मनुष्य के आत्मा में उसके जीवन की वृद्धि के लिए नेचर के नियमानुसार उसकी गठन में **जिन जिन विविध प्रकार के हित-उत्पादक श्रेष्ठ भावों के विकास की**

आवश्यकता है, उनका वर्तमान न होना।

फिर लाखों मनुष्यों के आत्मा अपनी अपनी इस अपूर्ण गठन में भी अपने विविध प्रकार के सुख अनुरागों के कारण पतित होते होते उस पतन की जिस दशा में पहुंच गए हैं, उनमें अब किसी प्रकार के मोक्ष दायक भावों और **श्रेष्ठ अंगों की उत्पत्ति की सम्भावना भी नहीं रही।** अर्थात अब उनकी आत्मिक गठन में किसी प्रकार की कोई और **श्रेष्ठता** आ नहीं सकती। परन्तु फिर भी मनुष्य जगत में ऐसे योग्य वा अधिकारी जनों की एक संख्या अवश्य वर्तमान है, कि जिनमें **एक वा दूसरी सीमा तक** कई प्रकार के मोक्ष दायक और जीवन वर्द्धक श्रेष्ठ भावों की उत्पत्ति और उन्नति हो सकती है। और इसीलिये उस सीमा तक उनके आत्मिक विकास का क्रम आगे भी चल सकता है।

प्र० । इस पृथ्वी में साधारण मनुष्यों के आत्माओं की जैसे **कुछ अपूर्ण** वा अधूरी गठन है, उसमें अब तक किस किस प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति हुई है, अर्थात उनकी यह अधूरी गठन किन किन शक्तियों से संगठित है ?

उ० । ऐसे मनुष्यों के आत्माओं की अधूरी वा अपूर्ण गठन में जिस जिस प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति हुई है, वह यह है :-

1. शरीर निर्माण, पालन और उस पर शासन करने और उसे जीवित रखने वाली चार प्रकार की शक्तियां।

2. ज्ञान-उत्पादक नाना प्रकार की मानसिक शक्तियां।

3. सुख दु:ख उत्पादक नाना प्रकार की भाव शक्तियां।

4. सुख के प्रति आकर्षण वा अनुराग और दु:ख के प्रति विकर्षण वा घृणा विषयक नाना प्रकार की भाव शक्तियां।

इनमें से मनुष्य के आत्मा में उसके शरीर के निर्माण आदि के सम्बन्ध में जिन जिन शक्तियों का विकास हुआ है, उन का वर्णन इससे पहले हो चुका है। अब शेष तीनों प्रकार की शक्तियों का वर्णन इससे आगे होगा ।

****

आठवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा में ज्ञान उत्पादक नाना प्रकार की मानसिक शक्तियां ।

प्र० । ज्ञान किसे कहते हैं ?

उ० । मनुष्य को नेचर के किसी अस्तित्व के रूप वा उसके किसी गुण वा नेचर की किसी घटना वा उसके कारण वा उसके किसी नियम के सम्बन्ध में जिस जिस **वास्तविक सत्य की साक्षात उपलब्धि होती है,** उस वास्तविक और साक्षात सत्य की उपलब्धि को ज्ञान कहते हैं।

प्र० । मानसिक शक्तियां किन्हें कहते हैं ?

उ० । मनुष्यात्मा की जो जो शक्तियां उसमें किसी प्रकार का कोई ज्ञान उत्पन्न करती हैं, वह उसकी मानसिक शक्तियां कहलाती हैं।

प्र० । यह मानसिक शक्तियां कितने प्रकार की हैं ?

उ० । नाना प्रकार की हैं; और वह मोटी विधि से जिन चार प्रकार की श्रेणियों में विभक्त हो सकती हैं, वह यह हैं:-

पहली श्रेणी की मानसिक शक्तियां ।

इस श्रेणी की मानसिक शक्तियां यह हैं :-

(1) आकार बोधक दर्शन शक्ति ।

(2) शब्द बोधक श्रवण शक्ति ।

(3) स्वाद वा रस बोधक रसना शक्ति ।

(4) गंध बोधक घ्राण शक्ति ।

(5) शीत और ताप बोधक स्पर्श शक्ति ।

(6) जड़ पदार्थ सम्बन्धी भार बोधक स्पर्श शक्ति ।

(7) जड़ पदार्थ सम्बन्धी कठिन वा कोमल बोधक स्पर्श शक्ति ।

(8) जड़ पदार्थ सम्बन्धी खुरदरा वा चिकनापन बोधक स्पर्श शक्ति ।

इन शक्तियों की संक्षिप्त व्याख्या देव-शास्त्र के दूसरे खंड में उसके सातवें पृष्ठ से लेकर

बारहवें पृष्ठ तक दी जा चुकी हैं, इसलिए उस व्याख्या के यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। फिर इसी अध्याय में आगे चलकर तीसरी श्रेणी की मानसिक शक्तियों में से धारणा -शक्ति के सम्बन्ध में जो व्याख्या की गयी है, उस में भी इन शक्तियों का कुछ वर्णन किया गया है, और बताया गया है कि इनके द्वारा मनुष्यात्मा को जिस जिस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है; वह उसकी धारणा शक्ति में भी अंकित होता है।

दूसरी श्रेणी की मानसिक शक्तियां ।

इस श्रेणी की मानसिक शक्तियां यह हैं :-

(1) अहं वा "मैं" विषयक बोध शक्ति ।

(2) "मेरी" और "मुझे" विषयक बोध शक्ति ।

(3) "पर" विषयक बोध शक्ति ।

(4) "पर" के सम्बन्ध में "उसका" और "उसकी" विषयक बोध शक्ति ।

संक्षिप्त व्याख्या ।

जब किसी स्त्री की गर्भस्थली में मनुष्य का कोई बच्चा **पूर्ण आकार** में बनकर उससे बाहर आता है, और फिर अपनी माता आदि के द्वारा प्रतिपालित होना आरम्भ करता है, **तब एक विशेष काल** तक उसका नन्हा आत्मा "अहं" वा "मैं" वा अपने **व्यक्तिपन** का कोई ज्ञान नहीं रखता, इसलिए यद्यपि उसके शरीर के द्वारा खाने, पीने, सोने, जागने, मल मूत्र त्याग करने, आराम वा कष्ट अनुभव करने, कुछ देखने वा सुनने, रोने चिल्लाने आदि की विविध क्रियाएं होती रहती है; तथापि उनमें से किसी के सम्बन्ध में उसके आत्मा में **यह बोध वर्तमान नहीं होता,** कि यह सब क्रियाएं "**मैं**" करता हूँ, अथवा यह क्रियाएं **मेरे** शरीर के द्वारा होती हैं। वह हाथ रखता है, परन्तु यह नहीं जानता, कि यह मेरा **हाथ** है; अथवा यह पावं **मेरे** है; अथवा यह शरीर **मेरा** है; यह खिलौना **मेरा** है; यह स्त्री **मेरी** माँ है। इस प्रकार के कोई बोध वह अपने भीतर नहीं रखता। फिर कुछ काल के अनन्तर उसकी शारीरिक और आत्मिक उन्नति में एक ऐसा समय आता है, कि जब उसमें इस "मैं", "मेरी" और "मुझे" विषयक **बोधों** की उत्पत्ति हो जाती है; और वह इस दशा में पहुच कर यह **जानता वा बोध करता है**; कि यह स्त्री **मेरी** माँ है, यह खिलौना **मेरा**

है; **मैंने** वहां पेशाब किया है; यह मिठाई **मेरी** है; **मुझे** भूख नहीं है; **मुझे** नींद आ रही है; मुझे प्यास लग रही है; इत्यादि ।

इन "मैं" "मेरी" "मुझे" आदि के **बोधों** के उत्पन्न हो जाने पर यद्यपि मनुष्य का एक वा दूसरा बच्चा अपनी एक वा दूसरी क्रिया आदि को **अपने साथ** सम्बंधित करता है; तथापि इस बोध के जाग आने पर भी वह एक काल तक यह नहीं जानता, कि यदि मेरे अमुक अमुक कर्म को कोई और जन अपने वा किसी अन्य अस्तित्व के लिए **हानिकारक** बताता है, तो मैं उसके लिए **दायी वा जिम्मेवार हूं,** अर्थात "मैं" उसके लिए **अपराधी हूं,** वा अपराधी समझा जा सकता हूँ; और उसके लिए **मैं दंड पाने का** भी भागी बन सकता हूं। इसलिए बच्चे अपनी वयस के एक विशेष काल तक किसी सुसभ्य गवर्नमैंट के निकट अपने किसी अपराध के लिए दंड पाने के योग्य नहीं समझे जाते।

अहं वा मैं विषयक बोधों की जाग्रति के साथ "पर" का बोध **स्वत:** उत्पन्न हो जाता है। और "पर" के बोध के साथ उसे, **उसका** और **उसकी** के बोधों की भी जाग्रति हो जाती है।

तीसरी श्रेणी की मानसिक शक्तियाँ ।

प्र० । तीसरी श्रेणी की मानसिक शक्तियाँ कितने प्रकार की हैं ?

उ० । यह मानसिक बोध शक्तियाँ नाना प्रकार की हैं, और उनमें से जो जो बोध शक्तियां प्राय: सब मनुष्यों में अल्प वा अधिक बलवती पाई जाती हैं, उनके नाम यह है:-

1. धारणा शक्ति ।
2. स्मरण शक्ति ।
3. अनुकरण शक्ति ।
4. कल्पना शक्ति ।
5. जिज्ञासा शक्ति ।
6. विचार और विवेचना शक्ति ।
7. युक्ति वा तर्क शक्ति ।
8. ध्यान शक्ति ।

संक्षिप्त व्याख्या ।

1. धारणा शक्ति ।

प्र० । धारणा शक्ति क्या होती है ?

उ० । किसी स्त्री की गर्भस्थली में सब प्रकार के आवश्यक अंगों के ठीक ठीक बन जाने पर और फिर ठीक दशा में उससे बाहर आने पर जब मनुष्य का बच्चा पहले पहल अपनी शारीरिक आखों के खुलने पर सूर्य वा लैंप वा दीपक आदि की ज्योति में अपने चारों ओर की जड़ वस्तुओं के विविध आकारों की ओर देखता है, और इस ज्योति के द्वारा उन ज्योतिर्मान आकारों से ज्योति की किरणें उसकी आखों तक पहुचती हैं, और उनके प्रतिबिम्बों को उसकी एक विशेष स्नायु के द्वारा उसके मस्तिष्क में पहुचाती हैं, और उसमें एक प्रकार की सनसनी उत्पन्न करती हैं, तब वह उन के उन आकारों को देखता है। इसी प्रकार जब कोई **शब्द** हवा के द्वारा उसके **कानों** के भीतर पहुच कर और उसके परदों से टकराकर और उन कानों की एक विशेष स्नायु की राह से उसके मस्तिष्क तक पहुच कर उसमें कोई **सनसनी** पैदा करता है, तब उसे उस शब्द का बोध होता है। फिर जब वह दूध पीता है, और यह दूध उसकी स्वाद-बोध-दायिनी मुह की गिल्टियों को स्पर्श करता है, और उसकी सनसनी उसके मस्तिष्क तक पहुचती है, तब उसका आत्मा उसके **स्वाद रस** को अनुभव करता है। इसी प्रकार एक वा दूसरे समय में किसी गंधमय वस्तु के जब छोटे छोटे कण उसकी नाक की घ्राण-बोध-दायनी स्नायु से टकराकर उसके मस्तिष्क में एक वा दूसरे प्रकार की **सनसनी** उत्पन्न करते हैं, तब वह उसकी गंध का बोध लाभ करता है। त्वचा पर फैले हुए स्नायु-जाल के द्वारा किसी एक वा दूसरी वस्तु के स्पर्श से उसकी सनसनी जब उसके मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब वह **शीत वा ताप वा कष्ट वा आराम** बोध करता है। फिर जब उसके पट्ठों पर किसी भारवान जड़ वस्तु के रक्खे जाने पर उसकी सनसनी उसके मस्तिष्क तक पहुँचती है, तब वह उसके भार को अनुभव करता है। इसी प्रकार उसके आंतरिक अंगों में जो स्नायु जाल फैला हुआ होता है, उनमें से उसके **मूत्रकुंड** के भर जाने पर उसकी स्नायु पर जब **मूत्र** का दवाब पड़ता है, तब उसकी सनसनी के उसके मस्तिष्क तक पहुँचने पर उसे **मूत्र** त्याग की और जब उसकी सबसे बड़ी अंतड़ी पर मल का दवाब पड़ता है, तब उसकी सनसनी के उसके मस्तिष्क तक पहुँचने पर उसे **मल** त्याग की और इस विधि से उसे

अपने किसी अंग की **पीड़ा वा कष्ट की** अनुभूति होती है, और किसी ऐसी पीड़ा के चले जाने पर **आराम बोध** होता है। उसकी ऐसी **नाना प्रकार की सनसनियों** को उसके मस्तिष्क में वर्तमान उसकी जो शक्ति ग्रहण करती रहती है, और जिस पर धीरे धीरे उन सनसनियों के एक प्रकार के असर वा निशान पड़ते रहते हैं, उसे **धारणा शक्ति** कहते हैं। इस धारणा शक्ति के द्वारा मनुष्य आत्मा अपने चारों और की वस्तुओं के आकार आदि के भिन्न विविध प्रकार की और बातों के प्रभावों को भी ग्रहण करता है, इसीलिए वह बचपन से क्या अपने प्रतिपलकों और क्या अन्य जनों की बातों को−चाहे वह **सच** हों वा **झूठ** − उनकी बोली के सीखने के साथ साथ **सत्य मान कर ग्रहण करता है।** मनुष्यों की इसी प्रकार की **धारणा-मूलक बातों को संस्कार प्राप्त विश्वास वा अवगति कहते हैं।**

2. स्मरण शक्ति ।

प्र० । स्मरण शक्ति किसे कहते हैं ?

उ० । मनुष्य बचपन से ही अपनी शारीरिक इन्द्रियों और अपने प्रतिपालकों आदि की शिक्षा से जिस जिस प्रकार के प्रभाव लाभ करता है, वह उसकी **धारणा शक्ति** की प्लेट पर मानो ग्रामोफ़ोन की प्लेट की न्याईं अंकित होते रहते हैं। फिर उसकी यह अंकित अवगति एक वा दूसरे अवसर पर **उसकी जिस और शक्ति से परिचालित होकर उसके सन्मुख प्रकट होती है, उस शक्ति को स्मरण शक्ति कहते हैं।** यदि मनुष्य में यह **धारणा** और **स्मरण** नामक दोनों मानसिक शक्तियां ना होतीं, तो वह बचपन से ही कोई भी बात न जान सकता, और न सीख सकता, और न अपने आप को विविध प्रकार के ज्ञान का भण्डार बना सकता।

3. अनुकरण शक्ति ।

प्र० । अनुकरण शक्ति किसे कहते हैं ?

उ० । अनुकरण शब्द का अर्थ नक़ल है। मनुष्य अपनी छोटी वयस में पहले पहल इसी शक्ति के द्वारा अपने प्रतिपालकों की भाषा के नाना शब्द सुन कर और उनके **उचारण की नक़ल करके उन शब्दों को बोलता और उनकी भाषा सीखता है।** फिर किसी भाषा

के शब्दों को **संकेत** के द्वारा प्रकट करने के निमित **अक्षर** आदि विविध प्रकार की जो जो विधियां निकाली गई हैं, उनकी नक़ल करके उन **संकेतों** को सीखता है। इसी प्रकार इसी शक्ति के द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के चित्र खैंचने, नक्शे वा मैप बनाने, कपड़ों पर बेल बूटों और फूलों आदि के काढ़ने, और नाना प्रकार की अन्य कारीगरी के काम भी सीखता है। इसी शक्ति के द्वारा मनुष्य किसी और मनुष्य की पोशाक की नक़ल करके आप भी वैसी पोशाक पहनता है। इसी शक्ति के द्वारा वह किसी की विशेष बोली और किसी की किसी शारीरिक विशेष क्रिया और किसी की और बातों की नक़ल करके एक वा दूसरे प्रकार के ड्रामें वा तमाशे वा खेल दिखाता है। परन्तु कोई मनुष्य अपनी इस शक्ति के द्वारा सिवाए बाहर की नक़ल के **किसी के किसी असल उच्च गुण वा गुणों वा खूबियों की नक़ल करके उन्हें अपने जीवन के द्वारा असल रूप में प्रकट नहीं कर सकता,** क्योंकि नेचर में जिस मनुष्य को जिस किसी अच्छे भाव वा गुण का बीज नहीं मिला, अथवा यदि उसे मिला था, और वह किसी कारण से उसे प्रस्फुटित और उन्नत वा विकसित नहीं कर सका, तो वह उस भाव के प्रकाशक **सच्चे लक्षणों** का अपने जीवन से कभी प्रकाश नहीं कर सकता।

कौवा मोर के परों को अपने परों पर लगा कर और बाहर से कुछ उसके रूप की नक़ल करके भी अपने आपको मोर नहीं बना सकता। इसलिए नेचर के इस अटल नियम के अनुसार कोई जन नक़ल के आधार पर किसी सच्चे गुण के सूचक किसी शब्द वा शब्दों को अपने वा किसी और के साथ लगाकर अपने आपको वा उसे वह विशेष पुरुष नहीं बना सकता, और उसके जीवन के उन सच्चे लक्षणों को अपने वा उस जन के भीतर से प्रकट नहीं कर सकता, और ऐसी नक़ल करके वह अपने आपको एक **भांड वा पाखंडी** ही प्रमाणित कर सकता है।

4. कल्पना शक्ति ।

प्र० । कल्पना शक्ति किसे कहते हैं ?

उ० । मनुष्य की **कल्पना शक्ति** वह **मानसिक शक्ति** है, कि जो किसी एक वा दूसरे प्रकार के **मानसिक चित्र** खेंचकर उसके सन्मुख प्रकट करती है, अथवा यदि कोई और

जन किसी बात के सम्बन्ध में कोई मानसिक चित्र खेंचकर उसका उसके सन्मुख वर्णन करे, तो योग्यता रखने पर वह उसके द्वारा उस मानसिक चित्र को देख वा उपलब्ध कर सकता है। यह बहुत **अदभुत शक्ति** है। यदि यह शक्ति मनुष्यों में वर्तमान न होती, तो **कोई भी मनुष्य किसी मानसिक दृश्य के देखने के योग्य न होता।** मनुष्य की यह मानसिक शक्ति जिस जिस प्रकार के मानसिक चित्र खैंचती है, **वह सब सत्य नहीं होते,** किंन्तु उनमें से कितने ही **मिथ्या** होते हैं। इन चित्रों में से कितने ही चित्र - चाहे वह **पूर्णत: मिथ्या भी हों -** जहां एक वा दूसरे जन को **सत्य और सुखदायक** प्रतीत होते है; वहां कितने ही चित्र - **चाहे वह पूर्णत: सत्य भी हों -** एक वा दूसरे जन को **मिथ्या और कष्टदायक** बोध होते हैं।

शरीर की जाग्रत दशा के भिन्न यह शक्ति मनुष्य की **सोई हुई दशा** में भी जब इसी प्रकार के चित्र बनाने का काम करती है, तब उसके यह चित्र **स्वप्न** कहलाते हैं। स्वप्न के सब चित्र **प्राय मिथ्या** होते हैं। जिन मनुष्यों में एक ओर **विचार और तर्क** विषयक मानसिक शक्तियां **जितनी कम उन्नत दशा में** होती हैं**,** और दूसरी ओर उन में नेचर के सम्बन्ध में किसी **सत्य वा असत्य घटना वा सम्भव और असम्भव का ज्ञान बिलकुल नहीं होता,** वा **अत्यंत थोड़ा होता है,** उन पर उनकी जागृत दशा में भी उनकी **कल्पना शक्ति** का उतना ही **अधिक अधिकार** होता है, और उतने ही अंश वह ऐसे मनुष्यों की अपेक्षा **मिथ्या विश्वासों वा मतों को बहुत अधिक मानने के लिए तैयार रहते और उनमें बहुत अधिक लिप्त होते है, कि जो जन विद्या** की प्राप्ति के द्वारा अपनी **विचार और तर्क शक्ति** को उन से अधिक उन्नत करने के योग्य बन जाते है**,** और **सत्य नेचर के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक सत्य ज्ञान लाभ करते हैं।**

5. जिज्ञासा शक्ति ।

प्र० । जिज्ञासा शक्ति क्या होती है ?

उ० । जिज्ञासा शब्द का अर्थ पूछना है। मनुष्य को जब कोई बात मालूम न हो, और उसे उसके विषय में जानने वा अवगति लाभ करने की **आवश्यकता बोध** होती हो, तब वह ऐसी दशा में उस अवगति की प्राप्ति के निमित अपनी जिस शक्ति के द्वारा काम लेता है,

उसे **जिज्ञासा शक्ति** कहते है। जिस देश के मनुष्यों में **नेचर** के सम्बन्ध में **जिज्ञासा करने** का भाव जितना थोड़ा होता है, और उसके नाना विभागों के नाना अस्तित्वों के रूप वा गुण वा स्वभाव वा कार्य और उसकी विविध घटनाओं और उसके विविध नियमों के सम्बन्ध में **अनुसंधान वा अध्ययन करने का भाव जितना कम होता है, उस देश के रहने वालों में नेचर विषयक ज्ञान भी उतना ही कम होता है।** और जिस देश के रहने वालों में नेचर के विषय में उनकी जिज्ञासा वा अनुसंधान-शक्ति जितना अधिक काम करती है, और वह नेचर के सम्बन्ध में जितना अधिक **वास्तविक वा सत्य ज्ञान** (कल्पित नहीं) लाभ करते हैं, और उसकी शक्तियों के विषय में वह ज्ञानी बनकर उन्हें अपने विविध **अभीष्टों की सिद्धि के लिए अधिक काम में लाने के योग्य बन जाते हैं;** वह किसी ऐसे देश के रहने वालों की अपेक्षा जिनमें नेचर के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासा वा अनुसंधान-शक्ति बहुत कम काम करती है, **अधिक ज्ञानवान और शक्तिमान होते हैं।** और जिस देश के रहने वाले नेचर विषयक सत्य ज्ञान और उसकी विविध शक्तियों को काम में लाने की योग्यता के विचार से जितने अंश किसी और देश वासियों की अपेक्षा हीन होते हैं, उतने ही अंश वह उनकी अपेक्षा **घटिया और कम शक्तिमान वा निर्बल होते हैं।**

6. विचार वा विवेचना शक्ति ।

प्र० । विचार वा विवेचना शक्ति किसे कहते हैं ?

उ० । जब कोई मनुष्य अपनी वा किसी और की किसी आवश्यकता को अनुभव करके उसके **निवारण करने** वा अपने किसी कार्य में **सफलता लाभ करने** वा नेचर की किसी घटना के **कारण के जानने** वा नेचर के किसी विभाग के सम्बन्ध में किसी एक वा दूसरे प्रकार के **ज्ञान** के प्राप्त करने का **आकांक्षी** बनकर और किसी ऐसी आकांक्षा से परिचालित होकर **उनमें से किसी विषय में किसी प्रकार के सोच विचार की क्रिया में प्रवृत होता है,** तब उसमें ऐसी क्रिया **जिस मानसिक शक्ति** के द्वारा उत्पन्न होती है, उसे **विचार वा विवेचना शक्ति कहते हैं।**

कुछ थोड़ी सीमा तक यह शक्ति पशु जगत के जीवों में भी पाई जाती है, परन्तु मनुष्य में साधारणत: यह विवेचना शक्ति **उन्नतशील** दशा में विकसित हुई है।

विद्या की अधिक से अधिक प्राप्ति, ज्ञान वर्द्धक पुस्तकों का अधिक से अधिक अध्ययन, नेचर विषयक विविध तत्वों के अनुसंधान और नाना हितकर विषयों के सम्बन्ध में परस्पर मिलकर आलोचना आदि करने से यह शक्ति **अधिक से अधिक उन्नत होती है।**
जिन देशों में विविध प्रकार की विद्या-दायिनी संस्थाएं अर्थात स्कूल और कॉलेज अधिक संख्या में होते हैं, और ज्ञान-दायिनी विविध प्रकार की पुस्तकों और समाचार पत्रों का अधिक प्रकाशन होता है, पब्लिक पुस्तकालय अधिक होते हैं, और नेचर के विविध विभागों के विविध तत्वों के अनुसंधान करने के निमित अधिक **अनुरागी जन** होते हैं, वह देश उन देशों की अपेक्षा जिनमें अपेक्षाकृत उनका **अभाव** पाया जाता है, ज्ञान और धन आदि के विचार से अधिक उन्नत दशा में होते हैं।

7. तर्क शक्ति।

प्र०। तर्क शक्ति किसे कहते हैं ?

उ०। मनुष्य के-

1. अपने बचपन से **संस्कार प्राप्त** नाना प्रकार के विश्वासों वा मतों,
2. बचपन के अनन्तर औरों के कथनों को सत्य मान लेने पर उन विश्वासों,
3. अपने नीच अनुरागों की प्रेरणाओं से अपने नाना प्रकार के विचारों वा सिद्धांतों,
4. अपनी नीच घृणाओं की प्रेरणाओं से अपने नाना प्रकार के विचारों वा सिद्धांतों,

में विविध प्रकार की जो जो मिथ्या की मिलावट होती है, और वह उनमें अपनी अज्ञानता के कारण **लिप्त होता है,** उनमें से जिन जिन को वह अपनी जिस मानसिक शक्ति की उन्नति से **मिथ्या रूप** में देखने के योग्य बन सकता है, और अपने एक वा दूसरे प्रकार के विश्वास वा मत वा विचार वा सिद्धांत की **भ्रान्ति** को देख सकता है, उसे **तर्क शक्ति** कहते हैं।

यह शक्ति किसी मनुष्य में मिथ्या वा सत्य के निर्णय करने में वहीँ तक सहायता कर सकती है, जहाँ तक वह मनुष्य **उसे स्वतंत्र रूप से काम में लाने की योग्यता रखता हो।** परन्तु जब वह अपने किसी नीच अनुराग वा नीच घृणा के **वशीभूत** होकर उसे **स्वतंत्र** रूप से काम में लाने की योग्यता को खो बैठा हो, तब वह **उसके द्वारा सत्य और असत्य के विषय में न कोई ठीक निर्णय करना चाहता है, और न वह ऐसा कर ही सकता है।**

इसी शक्ति को अंग्रेजी में लाजिक और अरबी में मंतिक कहते हैं।

मनुष्य के नाना प्रकार के विचारों **में से भ्रान्ति** के दूर करने और उसमें नाना प्रकार के **ठीक विचारों** के द्वारा **ठीक सिद्धांत** निकालने की योग्यता के पैदा करने में उसकी **तर्क विषयक मानसिक शक्ति उसकी बहुत बड़ी सहायता करती है।**

8. ध्यान शक्ति ।

प्र० । ध्यान शक्ति किसे कहते हैं ?

उ० । किसी विषय में किसी आवश्यक काल तक अपनी चिन्ता अर्थात सोच विचार की गति को **उसी विषय के साथ लगातार जोड़े रखने की शक्ति को ध्यान शक्ति कहते हैं।** ध्यान की इसी दशा को चित की एकाग्रता और अंग्रेजी में 'कन्सट्रेशन आफ माइंड' और फारसी में मराक़बा कहते हैं।

इसी शक्ति को उन्नत करके ही **कोई मनुष्य अपनी चिंता वा विचार-शक्ति पर प्रभुत्व वा अधिकार लाभ करके** उसे किसी एक ही विषय के साथ आवश्यक काल तक जोड़े रखने और उसी के सम्बन्ध में विचार करने की दशा में रह सकता है; नहीं तो **उसके एक वा दूसरे प्रकार के आकर्षण वा विकर्षण विषयक भाव** उसकी इस चिंता वा विचार शक्ति को अपनी अपनी ओर **घसीटते रहते हैं,** और उसके विचार को किसी एक विषय के सम्बन्ध में **टिककर** काम में नहीं लगने देते। इस ध्यान शक्ति का मनुष्य के प्रत्येक काम के साथ सम्बन्ध है, और उसके बिना उसका कोई भी काम पूर्णत: ठीक वा अच्छा नहीं हो सकता। परन्तु जब तक किसी मनुष्य में **किसी विषय के सम्बन्ध में आकर्षण वा अनुराग न हो, तब तक वह स्वभावत: उस विषय के सम्बन्ध में कुछ चिन्ता करना वा ध्यान देना भी नहीं चाहता;** और इसलिए वह उसके सम्बन्ध में कोई विचार वा पाठ वा अध्ययन भी नहीं कर सकता, और न उसके सम्बन्ध में **किसी सत्य को देख वा उपलब्ध कर सकता है।** इसलिए लाखों और करोड़ों मनुष्य जिन में एक ओर धन सम्पति, सन्तान वा अपने किसी अन्य सम्बन्धी वा मित्र वा सखा वा सखी वा सहेली वा किसी इस वा उस शारीरिक सुख आदि का **नीच अनुराग अपना बहुत अधिकार रखता है,** और दूसरी ओर उनके हृदय में अपने अस्तित्व की मूल वस्तु अर्थात **आत्मा के प्रकृत रूप और**

उसके रोगों वा पतन और उनके महा भयानक फलों और उनसे उसकी मोक्ष वा उसमें उच्च जीवन के विकास की आवश्यकता आदि नाना विषयों में सत्य ज्ञान लाभ करने के लिए कोई आकर्षण नहीं होता; वह इन विषयों के सम्बन्ध में नियमित पाठ विचार, अध्ययन वा सत्संग आदि नहीं कर सकते, और नहीं करना चाहते। और यदि इन विषयों के सम्बन्ध में उन्हें कोई **सच्चा आत्म-तत्व-दर्शी गुरु वा नेता भी प्राप्त हो,** वा प्राप्त हो सकता हो, तो वह उसके चरणों में बैठकर एक **श्रद्धावान जिज्ञासु** की न्याईं इन विषयों के सम्बन्ध में **उससे कुछ पूछना वा जिज्ञासा करना वा उससे कोई उपदेश लेना और ग्रहण करना नहीं चाहते और इन पूर्णत: मुख्य और नितान्त आवश्यक विषयों के सम्बन्ध में आप पूर्ण अन्धकार में रहना और अपने पारिवारिक और अन्य सम्बन्धियों को भी उसी अन्धकार वा अज्ञान की दशा में रखना पसंद करते हैं;** और इसी **महा शोचनीय और पतित दशा** में आप पड़े रहने और अपने सम्बन्धियों और मित्रो और औरों के पड़ा रहने में बहुत तृप्ति लाभ करते हैं।

फिर जिन अपेक्षाकृत थोड़े से सौभाग्यवान जनों में धर्म के नाम से श्रद्धा-मूलक जिज्ञासा का भाव वर्तमान भी होता है, वह एक ओर सच्चे **आत्म-ज्ञान की प्रदर्शक देव-ज्योति से विहीन और दूसरी और उसके सम्बन्ध में नाना प्रकार के महा हानिकारक विश्वासों में लिप्त ऐसे जनों के पास पहुचते हैं, कि जिनके उपदेशों को सुनकर और ग्रहण करके वह गुमरही और हानि के भिन्न अपना कोई सच्चा आत्मिक हित लाभ नहीं कर सकते।** और वह इस **अन्धकार** की दशा में रहकर किसी कहलाने वाली धर्म-पुस्तक का पाठ वा उस की शिक्षा पर विचार करके भी कोई **आत्मिक सत्य ज्ञान नहीं पा सकते; और अन्धकार में ही ठोकरें खा खा कर अपने अमूल्य आत्मिक जीवन को नष्ट करते रहते हैं।**

प्र० । क्या यह आठों प्रकार की मानसिक शक्तियां पशु जगत के जीव-धारियों में विकसित नहीं हुई ?

उ० । सब नहीं; परन्तु इनमें से कुछ अर्थात समझने, पहचानने, विचारने, स्मरण, अनुकरण और कल्पना करने की शक्तियां उनमें एक वा दूसरे अंश तक अवश्य पाई जाती हैं, और वह कितनों में **एक विशेष सीमा तक उन्नत भी होती वा हो सकती हैं,** परन्तु उनकी यह शक्तियां **मनुष्य की न्याईं उन्नतशील नहीं है।**

प्र० । क्या मनुष्य अपनी इन्हीं **उन्नतशील मानसिक शक्तियों** के कारण पशु जगत के जीवों पर धीरे धीरे **अधिकार वा प्रभुत्व** लाभ करने के योग्य हुआ है ?

उ० । जी हाँ। मनुष्य अपनी इन शक्तियों में से कुछ शक्तियों और कुछ अपनी शारीरिक गठन की विशेषताओं के कारण पशु जगत के नाना प्रकार के जीवों पर **प्रभुत्व** लाभ करने के योग्य हुआ है। मनुष्य डंडे की न्याईं केवल अपने दोनों पावों से सीधा खड़ा हो कर जिस प्रकार चल और भाग सकता है, उस प्रकार पशु जगत का कोई जीव नहीं कर सकता। मनुष्य अपनी हथेली और अपनी उँगलियों की विशेष बनावट से उन्हें जिस जिस प्रकार से इधर उधर से मोड़कर उनके द्वारा विविध प्रकार के काम कर सकता है, वह सब काम पशु जगत का कोई जीव नहीं कर सकता।

मनुष्य अपनी अनुकरण आदि शक्तियों के द्वारा **जिस जिस प्रकार की भाषा के विकसित करने के योग्य हुआ है,** वैसी और उतनी भाषा केवल यही नहीं कि पशु जगत का कोई जीव विकसित नहीं कर सका, किंन्तु वह कभी भी विकसित नहीं कर सकता- यहाँ तक कि वह उसे किसी मनुष्य से भी पूरी पूरी सीख नहीं सकता। मनुष्य नेचर की जिन नाना शक्तियों के विषय में ज्ञान लाभ करके उनके द्वारा अपनी अपेक्षा अधिक शारीरिक बल रखने वाले नाना पशुओं को काबू करने के योग्य हुआ है, उन के विषय में पशु जगत के जीव न कोई ज्ञान ही लाभ कर सकते हैं, और न उन शक्तियों के द्वारा वह किसी मनुष्य को काबू कर सकते हैं।

इन्हीं उन्नतशील मानसिक शक्तियों और शारीरिक गठन विषयक विशेषताओं को प्राप्त हो कर मनुष्य ने पशु जगत के जीवों की अपेक्षा कई प्रकार की **श्रेष्ठता** लाभ की है। और उसने अपनी इन मानसिक शक्तियों को उन्नत और नेचर के और जगतों के सम्बन्ध में नाना प्रकार का ज्ञान उपार्जन करके उन पर कई प्रकार का **प्रभुत्व** भी लाभ किया है। इसके भिन्न उनके द्वारा उसने नेचर के सम्बन्ध में अपने ज्ञान को उन्नत करके अपनी **सभ्यता** को भी बहुत कुछ विकसित किया है।

चौथी श्रेणी की मानसिक शक्तियां ।

मनुष्य के आत्मा में जिन चौथी श्रेणी कि मानसिक शक्तियों की उत्पति और उन्नति हुई है,

वह यह है :--

1. आकारों के सम्बन्ध में :-

1. किसी रेखा वा लकीर वा किसी किनारे वा सिरे वा लम्बाई वा ऊँचाई आदि के सीधे वा टेढ़े-पन का बोध।

2. छोटे बड़े वा सम का बोध ।

3. गुलाई का बोध ।

4. दो रेखाओं से बने हुए समकोण का बोध ।

5. कई रेखाओं से घिरे हुए त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज, षष्टभुज, अष्टभुज आदि विविध प्रकार के रूपों का बोध ।

6. समानांतर का बोध ।

7. समतल का बोध ।

8. विविध प्रकार के महराबदार आकारों का बोध ।

2. आकारों के सम्बन्ध में अन्य बोध :-

1. किसी आकार वा रूप के **सौंदर्य** और **कुत्सितपन** का साधारण बोध।

2. किसी आकार वा रूप के विविध अंशों वा अंगों में **सामंजस्य वा असामंजस्य** अर्थात **मेल वा अनमेल, परिपाटी वा अपरिपाटी** का बोध ।

3.किसी आकार वा रूप के **परिष्कृत वा मलिन** होने का बोध,

4. किसी आकार के चमकदार होने न होने का बोध ।

3. शब्दों की थरथराहट वा लहरों में मेल अर्थात स्वर का बोध।

4. गणना, विस्तृत, आदि, अनादि, ससीम, असीम और समय आदि का बोध।

5. जड़ पदार्थों की व्योमिक, वायुवीय, तरल और स्थूल दशा का बोध।

6. जड़ पदार्थों की परस्पर विभिन्नता का बोध।

7. **अजीवित शक्तियों के सम्बन्ध में उनकी गति और उनके बल के विषय में बोध।** उनके एक रूप से दूसरे रूप में बदल जाने का बोध। उनके द्वारा जड़ पदार्थों में विविध प्रकार

के परिवर्तन का बोध। शक्ति और जड़ के परिवर्तन में नेचर के अटल नियमों का बोध।

8. **जीवित शक्तियों की परस्पर विभिन्नता का बोध। गठन प्राप्त जीवित आकारों वा जीवित शरीरों की गठन का बोध**। गठन प्राप्त जीवित शरीरों वा आकारों के स्वास्थ्य वा रोग वा उनकी मृत्यु का बोध। गठन प्राप्त जीवित शरीरों वा आकारों की स्वास्थ्य विषयक उन्नति और अवनति का बोध। इत्यादि।

संक्षिप्त व्याख्या ।

विविध प्रकार के आकारों वा रूपों के सौन्दर्य विषयक बोधों की जाग्रति से मनुष्य जगत में धीरे धीरे विविध प्रकार के कारू और शिल्प कार्य की उत्पत्ति और उन्नति हुई है। जड़ पदार्थों और उनके सम्बन्ध में **ताप शक्ति** के कार्य को जानकर मनुष्य ने विविध प्रकार की धातुओं के पिघलाने वा गलाने की क्षमता लाभ की है। और उसने उन्हें अलग अलग रखकर वा परस्पर मिला कर उनके द्वारा भान्त भान्त की हितकर चीजें बनाई हैं। इसी प्रकार लकड़ी और चमड़े और हड्डियों आदि से उसने भान्त भान्त की सुंदर और हितकर वस्तुओं के बनाने की योग्यता लाभ की है। रुई, ऊन और रेशम आदि के प्रयोगों को जान कर उसने नाना प्रकार के कपड़ों, दरियों, कालीनों, जाजमों, कम्बलों, फलालेनों, चादरों और विविध प्रकार की सुन्दर सुन्दर पोशाकों आदि की उत्पत्ति की है। लोहे से उसने नाना प्रकार की चीजों-यथा सुइयों, कीलों, पेंचों, रेलों, इंजिनों, साइकिलों, मोटरसाइकिलों, मोटरकारों आदि की रचना की है। कंकर, पत्थर, चूने, मिट्टी, रेत आदि से उसने विविध प्रकार के बड़े बड़े मकान और महल और पुल आदि बनाए है। और ऐसे ही कई और बोधों को प्राप्त होकर वह सड़कों और नहरों आदि के निकालने और बनाने के योग्य हुआ है।

शब्द विषयक स्वरों के बोधों को प्राप्त होकर मनुष्य ने पद्द वा काव्य की रचना की है, और उसके ऐसे बोधों से ही विविध प्रकार के गीतों, ग़ज़लों, बाजों और नृत्य विद्या की उत्पत्ति और उन्नति हुई है इत्यादि।

इसलिए जिस देश के लोगों में एक ओर इस प्रकार के मानसिक बोधों की किसी और देश के लोगों की अपेक्षा जहाँ तक अधिक **उत्पत्ति और उन्नति** हुई है, और दूसरी ओर उन में से जिन जिन के प्रति उन में **हितकर आकर्षण की** उत्पत्ति और उन्नति भी हुई है,

उस देश के लोग किसी ऐसे देश के लोगों की अपेक्षा जिन में इस प्रकार के बोधों की **कम उत्पत्ति** और उनके सम्बन्ध में **कम आकर्षण की** जाग्रति हुई है, बहुत **श्रेष्ठ दशा** में पहुच गए हैं। और वह उनकी अपेक्षा अधिक **सुसभ्य,** अधिक **तंदुरुस्त,** और **साहसी** और अधिक **बलवान** भी बन गए हैं।

प्र० । क्या इस प्रकार के सारे बोधों की उत्पत्ति पशु जगत के जीवों में नहीं हुई ?

उ० । नहीं। पशु जगत के किसी किसी प्रकार के जीवों में पत्तों, तीलियों और लकड़ी के टुकड़ों आदि से अपने निवास के लिए घोसलों; कई पौधों के रसदार कणों को निकाल कर उन से एक एक प्रकार के छोटे छोटे घरों से विशिष्ट छत्तों; और मिटटी आदि से एक वा दूसरे प्रकार के अन्य घरों के बनाने के कुछ कुछ सीमा तक अवश्य बोध पाए जाते हैं, और कोई कोई पक्षी किसी किसी स्वर में कुछ बोलते वा गाते भी हैं, और कोई कोई जीव अपने अपने शरीरों को परिष्कार भी करते हैं, परन्तु इससे अधिक उनमें मनुष्य की न्याईं नाना प्रकार के और बोध उत्पन्न नहीं हुए, और नहीं हो सकते।

फिर उन में से जिन जिन में उपरोक्त कई एक बोध उत्पन्न भी हुए हैं, वह भी **उन्नतशील** नहीं।

इसलिए मनुष्य ने उपरोक्त बोधों को प्राप्त होकर उनके द्वारा अपने लिए जिस जिस प्रकार के सुख वा आराम दायक विविध सामान पैदा किए हैं, वह सामान पशु जगत के कोई जीव पैदा नहीं कर सके, और नहीं कर सकते।

****

नवां अध्याय ।

मनुष्य में नाना प्रकार के सुख और दुःख विषयक बोध और उसमें नाना प्रकार के सुखों के लिए आकर्षण वा अनुराग, और दुखों के लिए घृणा भाव; और इन्ही दोनों प्रकार के भावों द्वारा उसकी सब प्रकार की आत्मिक चिंताएं और बाह्यक क्रियाएं ।

पशु जगत से ही मनुष्य जगत की उत्पत्ति हुई है, इसलिए पशु जगत के ही जीवों से उसे कई प्रकार के **सुख और दुःख विषयक बोध** भी मिले हैं। उसके अनन्तर यह बोध उसमें **धीरे धीरे अधिक संख्या में बढ़े** हैं, अर्थात मनुष्य जगत के नाना लोगों में धीरे धीरे जितने और जिस जिस प्रकार के **पूर्णत: नए सुख और दुःख विषयक बोध उत्पन्न हुए हैं,** वह नाना बोध पशु जगत के जीवों में उत्पन्न नहीं हुए, और उन में उत्पन्न हो भी नहीं सकते थे।

दृष्टान्त:-

मनुष्य जगत के विकास क्रम में कितने ही जनों में [सब में नहीं] नेचर के विविध पदार्थों के सम्बन्ध में उनके आकार विषयक कई प्रकार के बोधों के भिन्न **परिष्कारता और अपरिष्कारता, सौन्दर्य्य और असौन्दर्य्य, परिपाटी और अपरिपाटी सम्बन्धी जिन विविध प्रकार के और बोधों की जितनी उत्पत्ति हुई है;** और इन **बोधों** को प्राप्त हो कर वह अपने शरीर, अपने वस्त्र, अपने घर, अपनी दुकान, अपने कारखाने, अपने उद्यान आदि को जिस जिस विधि से जितना **परिष्कार, सुसज्जित** और अपने नाना प्रकार की वस्तुओं को **परिपाटी** की दशा में रखते हैं, और नाना प्रकार की सुन्दर आकार वाली वस्तुएं बनाते वा तैयार करते हैं, और ऐसी वस्तुओं के सौन्दर्य से **सुख** और विपरीत दशा में **दुःख** अनुभव करते हैं, **वह सब बोध पशु जगत के किसी जीव में पाए नहीं जाते।**

फिर नेचर के इसी विकास क्रम में कितने ही मनुष्यों के भीतर विविध प्रकार के शब्दों को सुनकर **उनकी लहरों में मेल वा अनमेल** की उपलब्धि कराने वाले **जो जो बोध** विकसित हुए हैं, और वह इन बोधों को प्राप्त होकर उन्हें जिन विविध प्रकार के **स्वर उत्पादक**

गीतों वा काव्यों की रचना और कई प्रकार के बाजों और विविध प्रकार के **नृत्य** के द्वारा प्रकट करने के योग्य हुए हैं, **वह सब बोध भी पशुओं में नहीं।** और मनुष्य उनके द्वारा जिस जिस प्रकार का **सुख** और विपरीत दशा में **कष्ट** अनुभव करते हैं, वह **सुख वा दुःख विषयक बोध भी पशु जगत के किसी जीव में नहीं।**

इसी क्रम में कितने ही लोगों में गद्य-विषयक रचना के सम्बन्ध में शब्दों में **विन्यास** उत्पन्न करने वाले जो कई प्रकार के **बोध** प्रकट हुए हैं, और वह उनका क्या अपनी **बोली** और क्या अपने **लेखों** में आप प्रयोग करके अथवा किसी और जन की बोली वा उसके कथन वा उसके लेखों में उनका प्रयोग देखकर जिस प्रकार का **हर्ष वा सुख** लाभ करते हैं, और उसकी विपरीत दशा में **दुःख** मालूम करते हैं, **उस प्रकार के सुख दुःख विषयक बोध भी पशु जगत के जीवों में नहीं।**

इसी प्रकार कितने ही मनुष्यों में [सब में नहीं] किसी ऐसे जन के सम्बन्ध में भी कि जिनके साथ उनका पारिवारिक आदि कोई निकट का सम्बन्ध न हो, उसके एक वा दूसरे प्रकार के **दुःख की उपलब्धि कराने वाले जो जो बोध विकसित हुए हैं;** और वह उसकी **किसी रोग-जात पीड़ा वा उसके किसी और शारीरिक कष्ट वा उसके किसी अभाव वा उसके किसी हार्दिक आघात विषयक दुःख को अनुभव करने की जो जो योग्यता रखते हैं,** और उन्हें अनुभव करके वह अपनी अपनी इस अनुभूति की अल्पाधिक गहराई के अनुसार उसकी निवृति में **सहायक वा सेवाकारी** बनते हैं, और अपनी ऐसी क्रिया से जिस प्रकार **सुख** लाभ करते हैं, वा किसी की किसी **निर्दयता- मूलक क्रिया** को देख कर कष्ट बोध करते हैं, **वह सब सुख दुःख विषयक बोध भी पशु जगत के जीवों में नहीं।**

इनके भिन्न सुख दुःख विषयक और कितने ही प्रकार के बोध हैं, कि जो मनुष्य जगत के कितने ही लोगों में विकसित हुए हैं, परन्तु वह पशु जगत में विकसित नहीं हुए, और नहीं हो सकते थे।

इन नाना प्रकार के सुख दुःख विषयक बोधों को पाकर और ऐसे विविध सुखों के लिए आकर्षण वा इससे भी बढ़कर उनमें से कितनों के प्रति अनुराग और उनके विपरीत नाना दुखों के लिए विकर्षण वा इससे भी बढ़कर विराग वा अति घृणा भावों के उत्पन्न हो जाने से यही सुख विषयक आकर्षण वा अनुराग और दुःख विषयक विकर्षण वा

विराग वा घृणा भाव मनुष्य के परिचालक बन गए; और इसीलिए प्रत्येक मनुष्य इन्ही सुख विषयक अनुराग वा दुःख विषयक घृणा भावों से परिचालित होकर अपनी सब प्रकार की आंतरिक चिन्ताएं और अन्य सब प्रकार की बह्यक क्रियाएं करता है।

फलत: मनुष्य जगत के लोगों में जितने प्रकार के बुरे वा भले कर्म होते हैं, एक दूसरे के सम्बन्ध में जान बूझ कर **जिस जिस प्रकार की मिथ्या** का व्यवहार होता है, मिथ्या विश्वासों की उत्पत्ति की जाती है; प्रवंचना, प्रताड़णा, विश्वासघातकता, चोरी, ठगी, रिश्वत, बटमारी, डाकामारी, धरोहर-हरण, उत्पीड़न और हत्या आदि कहलाने वाले विविध प्रकार के **अन्याय वा अत्याचार मूलक कर्म होते हैं;** विविध प्रकार की स्वाददार और नशेदार चीज़ें खाई वा पी जाती हैं; व्यभिचार, अति मैथुन वा हस्त मैथुन आदि जारी हैं; मांसाहार, वाणिज्य, शिकार और बलि आदि के लिए पशु जगत के **लाखों जीवों की हत्या की जाती है;** और नाना प्रकार की अन्य हानिकारक प्रथाएं और रस्में जारी हैं; **उन सबका मूल कारण मनुष्य के यही नाना प्रकार के सुख विषयक अनुराग और दुःख विषयक घृणा भाव हैं।**

प्र० । तब क्या संसार में प्रत्येक मनुष्य जितने और जिस प्रकार की क्रियाएं करता है, वह सब अपने विविध **सुख दुःख विषयक बोधों के द्वारा ही परिचालित होकर करता है ?**

उ० । निश्चय। **मनुष्य होकर और मनुष्य रहकर** प्रत्येक मनुष्य ही अपनी सब प्रकार की क्रियाएं (जिनमें उसकी आंतरिक चिन्ताएं भी संयुक्त हैं) **अपने विविध प्रकार के सुख विषयक अनुरागों और दुःख विषयक घृणा भावों से परिचालित होकर ही करता है।** इसीलिए क्या उसे अपने और क्या किसी और के सम्बन्ध में जिस जिस क्रिया से **सुख मिलता हो,** और कोई दुःख न बोध होता हो, उसे वह करना चाहता है और करता है। और उसे अपनी जिस किसी क्रिया से कोई **सुख ना मिलता हो** वा इससे भी बढ़कर **दुःख मिलता हो**, वह चाहे उसके वा किसी और के लिए कैसी **ही हितकर वा शुभकर** भी हो, उसे वह **करना नहीं चाहता,** और इसीलिए नहीं करता।

इसी प्रकार उसे जिस **सत्य** के सम्बन्ध में **विचार करने,** जिस किसी **सत्य के बोलने,** जिस किसी **सत्य के ग्रहण करने,** जिस किसी **सत्य के प्रचार करने** अथवा जिस किसी **सत्य-मूलक अन्य क्रिया के करने** से एक ओर कोई **सुख ना मिलता हो,** वा उससे उल्टा **दुःख**

वा कष्ट प्राप्त होता हो, उसे भी वह **करना नहीं चाहता,** और इसीलिए **नहीं करता।** उसे यदि **किसी शुभ के लिए** अपने किसी **सम्बन्धी** वा अपने धन वा अपनी **सम्पति** वा अपनी किसी **शारीरिक वा मानसिक शक्ति के समर्पण वा त्याग करने से कोई सुख ना मिलता हो, वा उसके विपरीत दुःख मिलता हो; तो उस क्रिया को भी वह कभी नहीं करना चाहता; और इसलिए नहीं करता। और वह नेचर के अटल नियमानुसार इस प्रकार की कोई क्रियाएं कर भी नहीं सकता।** इसीलिये ऐसी दशा में वह **अनजाने वा जानबूझ कर विविध प्रकार की मिथ्याओं का विश्वासी और अपने और नेचर के अन्य अस्तित्वों के सम्बन्ध में विविध प्रकार के मिथ्या और अशुभ-मूलक कर्मों का कर्ता और नाना प्रकार की मिथ्याओं और नाना प्रकार के अशुभों का अनुरागी बन जाता है।**

प्र० । तब क्या मनुष्य अपने **सुख विषयक अनुरागों और दुःख विषयक घृणा भावों** से परिचालित होकर अपने वा किसी और अस्तित्व के लिए कोई **शुभ उत्पादक** क्रिया नहीं कर सकता, वा नहीं करता ?

उ० । **मनुष्य मुख्यत: अपने एक वा दूसरे सुख अनुराग वा दुःख विषयक घृणा भाव से परिचालित होकर ही कोई क्रिया करता है। यद्यपि यह सच है, कि उसकी कई क्रियाओं से एक वा दूसरे प्रकार के शुभ की उत्पत्ति भी हो जाती है,** अर्थात मनुष्य अपने विविध प्रकार के **सुख अनुरागों और दुःख विषयक घृणा भावों** से परिचालित होकर जहाँ नाना प्रकार की मिथ्या, अमिताचार, अत्याचार आदि मूलक विविध प्रकार की **महा पतनकारी क्रियाएं करता है,** वहां वह नाना संबंधों में कई प्रकार की ऐसी क्रियाएं भी करता है कि जो नेचर के विविध जीवित और अजीवित अस्तित्वों के लिए **हितकर** होती हैं। परन्तु वह इस प्रकार की विविध हितकर क्रियाओं को **मुख्यत: अपने किसी न किसी प्रकार के सुख अनुराग से परिचालित होकर ही करता है।**

प्र० । तब क्या जिन मनुष्यों के द्वारा नाना प्रकार की मिथ्याओं और नाना प्रकार के अमिताचारों और अत्याचारों और अन्य दुराचारों की उत्पत्ति होती है, उन्हीं में से **नाना जनों की एक वा दूसरी सुख-लक्ष्य विषयक क्रिया से एक वा दूसरे प्रकार के शुभ की भी उत्पत्ति हो जाती है ?**

उ० । जी हाँ। इसीलिए कितने ही मनुष्य शराब, तम्बाकू, भंग, चरस, चंडू आदि के पीने

और अफीम और कोकेन आदि नशेदार और ज़हरीली चीज़ों के खाने वाले, रिश्वत लेने वाले, व्यभिचारी वा मांसाहारी, झूठे, धोखेबाज़, कपटी, विश्वासघाती आदि होकर भी अपने भीतर के किसी **दया वा मान बड़ाई विषयक भाव के सुख की प्राप्ति,** अथवा किसी **मिथ्या देवते के विश्वासी होने पर उसे प्रसन्न करके उससे उसके बदले** में **किसी इस वा उस प्रकार के सुखों के मिलने के लालसी होकर,** अथवा किसी के सम्बन्ध में किसी **नीच अनुराग** से बन्धे हुए होने के कारण अपने उस अनुराग विषयक सुख के लिए ऐसी कई प्रकार की क्रियाएँ करते हैं, कि **जो औरों के लिए भी थोड़ी वा बहुत शुभदायक होती है।**

प्र० । क्या मनुष्य अपने लिए किसी एक वा दूसरे प्रकार के **सुख की प्राप्ति के निमित्त** कभी कोई दुःख भी ग्रहण करता है ?

उ० । जी हाँ। वह एक वा दूसरे प्रकार के **सुख के लाभ करने के लिए नाना अवसरों में कई प्रकार के दुःख भी ग्रहण करता है,** और कई दशाओं में वह बहुत बड़े बड़े और महा-भयानक दुःख ग्रहण करता है, और कई अवसरों में उसकी प्राप्ति के लिए अपनी जान तक दे देता है।

प्र० । यह क्यों ?

उ० । इसलिए कि नेचर के अटल नियमानुसार उसकी जो **शक्ति** किसी और **शक्ति** की अपेक्षा **बलवती** होती है, वह उससे **टकराने** पर उस पर **विजयी** हो जाती है। इसी हेतु से जिस किसी मनुष्य में **जिस किसी सुख का अनुराग जितना अधिक बलवान होता है, उस अधिक बलवान सुख अनुराग** से परिचालित होकर उसकी प्राप्ति के निमित्त **वह जान बूझ कर भी, परन्तु विवश होकर ऐसी विविध क्रियाएं करता है, कि जो न केवल उसके आत्मा के लिए दुखदायक होती है, किन्तु कई दशाओं में उसके शरीर के लिए भी बहुत अहितकर, यहाँ तक कि प्राणनाशक तक प्रमाणित होती है।** फलतः मनुष्य **सुख अनुरागी** होकर जब नेचर के नियमानुसार उसका **दास** बन जाता है, तब वह इस महा पतनकारी दासत्व के कारण क्या अपने और क्या औरों के लिए **विविध प्रकार का शारीरिक और आत्मिक अशुभ उत्पन्न करता है।**

प्र० । क्या किसी परोपकार सम्बन्धी सुख की प्राप्ति के लिए भी कोई मनुष्य अपने

जीवन वा अपने धन वा अपनी सम्पति को समर्पण अथवा एक वा दूसरे प्रकार का दुःख ग्रहण करते हैं ?

उ० । जी हाँ। जिस प्रकार नशे, व्यभिचार आदि विषयक नाना सुखों के प्रबल अनुरागी कितने ही जन अपनी अपनी सारी सम्पति उसकी प्राप्ति के निमित खर्च कर देते हैं, उसी प्रकार कोई कोई जन दया विषयक भाव के प्रबल सुख अनुराग से परिचालित होकर रोगियों की शुश्रूषा के लिए अपना जीवन समर्पण कर देते हैं, कितने ही जन अपना बहुत सा धन देकर बड़े बड़े चिकित्सालय स्थापन करते हैं। कितने ही जन किसी कहलाने वाले एक वा दूसरे धर्म मत के गाढ़ विश्वासी और अनुरागी होकर उसके प्रचार विषयक सुख की प्राप्ति के निमित अपना अपना जीवन वा अपनी अपनी सारी सम्पति भेंट कर देते हैं। इसी प्रकार नाना जन एक वा दूसरे प्रकार की मानसिक शिक्षा के अनुरागी होकर उसके प्रचार के निमित एक वा दूसरी हितकर संस्था के लिए धन की बड़ी बड़ी रकमें दान करते हैं। परन्तु जहाँ नाना जन इस प्रकार के कई सुख विषयक प्रबल अनुरागों से प्रेरित होकर परोपकार विषयक कई प्रकार की बहुत प्रशंसनीय क्रियाएं करते हैं, वहां वह अपने अन्य विविध प्रकार के प्रबल सुख अनुरागों से प्रेरित होकर **अपने और औरों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की अशुभ उत्पादक क्रियाएँ भी करते हैं।** अर्थात वह अपने नाना संबंधों में विविध प्रकार की **अन्याय वा पाप मूलक क्रियाएँ करते हैं।** अपने शरीर के सम्बन्ध में नाना प्रकार से **असंयमी** बनते हैं। कई प्रकार की सामजिक **कुरीतियों** का साथ देते हैं। उनमें से कितने ही जन **मांस** खाते हैं, कितने ही जन एक वा दूसरे प्रकार के **नशों** के अभ्यासी होते हैं, कितने ही अपने कहलाने वाले धर्म मतों के प्रचार के लिए नाना प्रकार की **मिथ्याँ** घड़ते और फैलाते हैं। और ऐसे **सभी लोग** अपने अपने आत्मा के गठन प्राप्त रूप, उस के पतन और उस के पतन विषयक भयानक फलों और उन फलों से सत्य मोक्ष की विधि और आत्मिक जीवन के विकास आदि विषयक विविध प्रकार के अति आवश्यक और अति मूल्यवान सत्यों के ज्ञान से पूर्णत: शून्य और अंधकार की दशा में होते हैं।

प्र० । क्या विविध सुखों के अनुरागी और विविध दुखों के घृणा-कारी प्रत्येक मनुष्य के लिए यह **अनिवार्य है,** कि वह उन के कारण अपने और नेचर के अन्य नाना अजीवित

और जीवित अस्तित्वों के सम्बन्ध में जान बूझ कर भी नाना प्रकार से **अशुभचारी और मिथ्याचारी** बने ?

उ० । जी हाँ। नेचर के अटल नियमानुसार ऐसे प्रत्येक मनुष्य के लिए ऐसा होना लाज़मी है। **सुख के प्रति अनुराग और दुःख के प्रति घृणा भाव रख कर प्रत्येक मनुष्य के लिए अशुभ और असत्य मूलक विविध प्रकार की आतंरिक और बाह्यक चेष्टाएं वा गतियां करना अनिवार्य है।**

प्र० । तब यदि मनुष्य की इस महा शोचनीय दशा के अनुसार उसकी यह परिभाषा (डेफिनिशन वा तारीफ़) की जाये कि:-

"मनुष्य वह है कि **जो सुख का अनुरागी हो, और दुःख को घृणा करता हो,** और जो अपने इन दोनों प्रकार के भावों के कारण अपने और अपने नेचर-मूलक विविध संबंधों में नाना प्रकार के **अशुभों** और नाना प्रकार की **मिथ्याओं** का अनुरागी हो;" तो क्या उसकी यह ठीक तारीफ़ न होगी ?

उ० । पूर्णत: ठीक होगी, और इसलिए यह पूर्णत: ठीक है।

प्र० । क्या मनुष्य इसलिए **किसी मिथ्या वा किसी बुराई वा किसी पाप वा किसी अपराध के करने के लिए विविश तैयार हो जाता है, कि एक ओर ऐसा करने के लिए उसका एक वा दूसरा प्रबल सुख अनुराग उसके हृदय में प्रबल प्रेरणाएं उत्पन्न करता है, और दूसरी ओर ऐसी क्रिया करके उसे सुख जरूर अनुभव होता है; परन्तु कोई दुःख अनुभव नहीं होता ?**

उ० । जी हां इसीलिए इस पृथ्वी के सारे देशों के ही मनुष्यों में विविध प्रकार के मिथ्या, अमिताचार और अन्याय वा अत्याचार मूलक सब प्रकार के कर्म होते है, और मनुष्य की ऐसी दशा में उनका होते रहना **लाज़मी** है।

प्र० । क्या इसीलिए मनुष्य सत्य मूलक किसी मत वा विश्वास वा शुभ मूलक किसी चिन्ता वा पाठ वा विचार वा साधन वा अभ्यास वा संग वा क्रिया को ग्रहण नहीं करता कि उससे उसे कोई सुख नहीं मिलता ?

उ० । जी हां।

प्र० । क्या इसीलिए कोई मनुष्य किसी हितकर क्रिया वा किसी हितकर साधन आदि को

आरम्भ करके फिर उसे छोड़ देता है, कि पहले उसके करने में उसे जो **सुख** मिलता था, वह सुख उसे फिर मिलना बन्द हो गया ?

उ० । जी हां।

प्र० । क्या इसीलिए मनुष्य किसी और से अपना कोई सम्बन्ध काट लेता है कि उसे पहले उससे जो **सुख** मिलता था, वह सुख उसे किसी कारण से फिर **नहीं** मिलता, वा उसे उस सुख की तुलना में **दुःख अधिक** मिलता है ?

उ० । जी हां। सत्य यह है कि मनुष्य जगत की सब प्रकार की चिन्ताओं, उसके सब प्रकार के विचारों, उसकी सब प्रकार की क्रियाओं वा उसकी सब गतियों के परिचालक उसके यही **सुख विषयक बोध** और उसके यही **सुख विषयक अनुराग,** और उनसे उत्पन्न **दुःख विषयक घृणा भाव हैं,** और उनके भिन्न और कुछ नहीं।

******

दसवां अध्याय ।

सुख और दुःख के आधार पर ही मनुष्य जगत में धर्म के नाम से भी आत्मा के सम्बन्ध में वह सब पूर्णत: मिथ्या और महा हानिकारक नाना प्रकार की शिक्षाएं प्रचलित की गई थीं कि जिनके दूर करने के निमित्त देवात्मा का आविर्भाव हुआ।

प्र० । क्या इस पृथ्वी में **धर्म के नाम से भी मनुष्य जगत में जितनी और जिस जिस प्रकार की शिक्षा प्रचलित की गई है, वह भी केवल एक वा दूसरे प्रकार के सुखों की प्राप्ति और एक वा दूसरे प्रकार के दुखों से निवृत्ति पाने के आधार पर ही स्थापित है ?**

उ० । जी हाँ। इस पृथ्वी के प्रत्येक देश और प्रत्येक सम्प्रदाय में **धर्म वा मज़हब के नाम से भी जितनी शिक्षाएं और क्रियाएं प्रचलित की गई हैं, उन सबका उद्देश्य भी एक वा दूसरे प्रकार के सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति या मुक्ति ही बतलाया गया है, परन्तु यह सब शिक्षाएं और क्रियाएं नेचर के आत्मिक जगत के शुभ और सत्य विषयक अटल नियमों के विरुद्ध होने के कारण जैसे पूर्णत: मिथ्या हैं, वैसे ही वह उनके विश्वासी प्रत्येक मनुष्य के लिए नाना प्रकार से महा हानिकारक वा पतनकारी भी हैं।**

प्र० । तब क्या **इस पृथ्वी में धर्म वा मज़हब के नाम से परन्तु नेचर के आत्मिक जगत के शुभ और सत्य विषयक नियमों के पूर्णत: विरुद्ध जितने और जिस जिस प्रकार के विश्वास वा मत फैलाए गए वा फैलाए जाते हैं,** और जितने और जिस जिस प्रकार के **देवी देवते** माने गये वा माने जाते हैं, और जिन जिन **कहलाने वाले देवतों और देवियों की** जिस जिस प्रकार की **पूजाएँ** होती हैं, और उनके सम्बन्ध में **जितने और जिस जिस प्रकार के पाठ, भजन और जप, यज्ञ वा होम आदि कर्म होते हैं,** वा उनमें से जिन जिन के निमित्त **बलि वा कुर्बानी** के नाम **से विविध प्रकार के पशुओं की हत्या** की जाती है, अथवा नाना सम्प्रदायों में जितने प्रकार के **त्याग** और **तप, व्रत, उपवास, दान और स्नान** आदि होते हैं, नाना स्थानों को **तीर्थ** कहकर उनकी **यात्राएं** होती हैं, अथवा जिन जिन सम्प्रदायों में कई प्रकार के **शारीरिक वेश वा चिन्ह** आदि धारण किये जाते हैं, और कई

प्रकार की और ऐसी ही बातें की जाती हैं, उन सब की उत्पत्ति मनुष्यों के इसी **सुख अनुराग** से ही हुई हैं ?

उ० । निश्चय। इस पृथ्वी में धर्म वा मजहब के नाम से भी जितने और जिस जिस प्रकार के सम्प्रदाय वा फिरके जारी हुए हैं, उन सब की तह वा जड़ में यही सुख विषयक अनुराग है, अर्थात सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति; और इन दोनों के भिन्न और कुछ नहीं।

इसलिए अधिकारी मनुष्यों को इस सुख दुःख के आधार पर स्थापित सब प्रकार की मिथ्या शिक्षा और सब प्रकार के मिथ्या धर्म मतों, मिथ्या साधनों, मिथ्या मूलक व्यवहारों और अनुष्ठानों और सब प्रकार की अशुभ चिन्ताओं और अशुभ कर्मों और उनके विकारों से मोक्ष देने और उन्हें नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमों और उसकी अटल घटनाओं पर स्थापित सत्य धर्म विषयक मतों और विश्वासों का ज्ञान देने, उनमें आत्मिक जीवन उत्पादक और वर्द्धक नाना श्रेष्ट और सात्विक भावों के उत्पन्न करने और इस प्रकार से मनुष्य जगत का नेचर के ही नियमानुसार जहां तक सम्भव हो, सर्वांग कल्याण साधन करने के लिए उसके करोड़ों वर्षों के विकास- क्रम में शुभ और सत्य के बोधी और शुभ और सत्य के पूर्ण अनुरागी सत्यदेव देवात्मा का आविर्भाव हुआ है।

मनुष्यात्माओं और देवात्मा में मूल अन्तर ।

प्र० । देवात्मा ने इन **शुभ और सत्य विषयक बोधों और देव-अनुरागों को प्राप्त होकर** मनुष्यात्माओं की अपेक्षा अपने आत्मा में क्या क्या विशेषताएं लाभ कीं ?

उ० । उन्होंने इन **देव-बोधों और देव-अनुरागों** को प्राप्त होकर मनुष्य जगत के **सब प्रकार के मनुष्यों की तुलना में** अपने आत्मा में जिस जिस प्रकार की **विशेषताएं** लाभ कीं, और जिन विशेषताओं के कारण ही उनका **सब मनुष्यात्माओं से सदा के लिए मूल अंतर उत्पन हो गया, वह यह है :-**

1. देवात्मा अपने आत्मा में शुभ और सत्य विषयक अदितीय देव-बोधों और उनके प्रति आकर्षण भावों को प्राप्त होकर उन्हें अपने विविध प्रकार के सब आवश्यक समर्पणों और त्यागों और नेचर की विकासकारी अन्य शक्तियों से विविध प्रकार की सहायता

पाकर उनके प्रति जिन देव-अनुरागों को क्रम क्रम से विकसित करने और उनके विकास से जिस सत्य और अद्वितीय देव-जीवन को लाभ करने के योग्य हुए, उन सच्चे देव-अनुरागों और उनसे उत्पन्न सच्चे देव-जीवन से सारा मनुष्य जगत शून्य था; अर्थात यह देव-बोध और यह देव-अनुराग मनुष्य जगत के किसी मनुष्यात्मा वा मनुष्य जगत के कहलाने वाले किसी भी धर्म सम्प्रदाय के किसी संस्थापक वा किसी शिक्षक में न थे।

2. देवात्मा अपने आत्मा में शुभ और सत्य विषयक देव-अनुरागों के विकास के साथ साथ नेचर के आत्मिक जगत के नियमानुसार जिस अद्वितीय और उन्नतशील देव-ज्योति को क्रमशः विकसित करने के योग्य हुए, वह देव-ज्योति भी मनुष्य जगत के किसी मनुष्य वा उसमें प्रचलित किसी कहलाने वाले धर्म सम्प्रदाय के किसी संस्थापक वा उसके किसी शिक्षक में न थी।

इसीलिये इस देव-ज्योति के द्वारा ही मनुष्य के आत्मा का जो वास्तविक और अति सूक्ष्म परन्तु गठन-प्राप्त रूप प्रकाशित होता है, और उसकी जिस गठन और उस गठन के रोगों, उसके पतन और उसके महा भयानक फलों, उनसे उसकी मोक्ष और उसके जीवन विषयक विकास के सम्बन्ध में जिन नेचर-मूलक नाना प्रकार के सत्यों का प्रकाश होता है, और जिन सत्यों के दर्शन और ज्ञान से ही सत्य धर्म का ज्ञान होता है, उस धर्म विषयक सत्य ज्ञान से भी मनुष्य जगत के सब लोग और उन में से कहलाने वाले धर्म सम्प्रदायों के सब संस्थापक और शिक्षक भी पूर्णत: रहित थे।

3. देवात्मा अपने आत्मा में शुभ और सत्य विषयक देव-अनुरागों के विकास के साथ साथ नेचर के आत्मिक जगत के नियमानुसार जिन सब प्रकार के सुख अनुरागों और उनसे उत्पन्न सब प्रकार की घृणा और सब प्रकार की मिथ्यायों और सब प्रकार के अशुभों के प्रति जिस उच्च घृणा और उच्च दुःख उत्पादक अद्वितीय देव-तेज के विकसित करने के योग्य हुए, वह देव-तेज भी मनुष्य जगत के किसी मनुष्य वा उस में प्रचलित, किसी कहलाने वाले धर्म सम्प्रदाय के किसी संस्थापक वा शिक्षक में न था; अर्थात वह सब उस देव-तेज से पूर्णत: रहित थे।

4. देवात्मा ने अपनी देव-ज्योति के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में विविध प्रकार के सत्यों को देखकर और एकमात्र नेचर पर स्थापित धर्म विषयक जिस सत्य ज्ञान की मनुष्य जगत

को शिक्षा दी, उस धर्म विषयक सत्य ज्ञान की शिक्षा मनुष्य जगत के कहलाने वाले किसी धर्म सम्प्रदाय के किसी संस्थापक वा शिक्षक वा गुरु वा किसी कहलाने वाले देवते वा देवी के किसी भक्त वा अवतार वा नबी वा पैगम्बर वा किसी कहलाने वाले ऋषि वा मुनि वा योगी वा संत वा महंत वा बुद्ध वा सिद्ध वा तीर्थंकर आदि ने नहीं दी थी, **क्योंकी उस देव-ज्योति से विहीन होने के कारण न तो उन में से कोई धर्म विषयक सत्य ज्ञान लाभ कर सकता था, और न इसीलिए उसकी शिक्षा दे सकता था।**

5. **देवात्मा** ने **शुभ और सत्य विषयक देव-अनुरागों** को प्राप्त होकर और उनके पूर्ण अधिकार में आकार और उन्हीं के द्वारा परिचालित होकर अपने आविर्भाव का जो **अद्वितीय परम लक्ष्य प्रकट किया, वह परम लक्ष्य** भी **इन देव-अनुरागों से विहीन** मनुष्य जगत के कहलाने वाले किसी अवतार वा नबी वा पैगम्बर वा धर्म शिक्षक वा गुरु वा भक्त वा योगी वा सन्त वा महन्त वा ऋषि वा मुनि वा जिन्न वा सिद्ध वा बुद्ध वा तीर्थंकर आदि ने कभी प्रकट नहीं किया था; **क्योंकि उन देव-अनुरागों से विहीन होने के कारण उनमें से किसी का ऐसा परम लक्ष्य हो नहीं सकता था।**

6. **देवात्मा** ने शुभ और सत्य विषयक **देव-अनुरागों को प्राप्त होकर** और उन्हीं के द्वारा **परिचालित होकर** क्या मनुष्य जगत के विविध प्रकार के सम्बन्धियों और क्या उससे नीचे के जगतों के अस्तित्वों के साथ **केवल शुभ और सत्य मूलक सम्बन्ध** रखने का जो अद्वितीय दृष्टांत प्रदर्शन किया, और अपने इस दृष्टांत से उन्होंने मनुष्य जगत के लिए **जिस सर्वोच्च और परम कल्याणकारी आदर्श** को प्रकट किया; वह दृष्टांत और वह आदर्श **देव-अनुरागों से विहीन** मनुष्य जगत के कहलाने वाले किसी अवतार वा नबी वा पैगम्बर वा धर्म शिक्षक वा गुरु वा भक्त वा योगी वा सन्त वा महन्त वा ऋषि वा मुनि वा जिन्न वा सिद्ध वा बुद्ध वा तीर्थंकर आदि ने **कभी प्रकट नहीं किया था,** क्योंकी इन **देव-अनुरागों से विहीन होने के कारण** उनके लिए ऐसा करना **असम्भव था।**

7. **देवात्मा** ने शुभ और सत्य विषयक **देव-अनुरागों को प्राप्त होकर** और **उन पर स्थापित अपने परम लक्ष्य की सिद्धि** के निमित्त जिस जिस प्रकार के **सब आवश्यक पूर्ण समर्पण** और जिस जिस प्रकार के **सब आवश्यक पूर्ण त्याग** किये, उस उस प्रकार के **सब समर्पण और त्याग इन देव-अनुरागों से विहीन** मनुष्य जगत में से कहलाने वाले

किसी अवतार वा नबी वा पैगम्बर वा धर्म शिक्षक वा गुरु वा भक्त वा योगी वा सन्त वा महंत वा ऋषि वा मुनि वा जिन्न वा सिद्ध वा बुद्ध वा तीर्थंकर आदि ने नहीं किये थे, क्योंकी इन **देव-अनुरागों से विहीन होने के कारण जैसे उन का यह परम लक्ष्य नहीं था, और नहीं हो सकता था,** वैसे ही उस परम लक्ष्य की सिद्धि के लिए जिस जिस प्रकार के समर्पण और त्यागों की आवश्यकता थी, उन समर्पण और त्यागों का करना भी उनके लिए सम्भव न था।

8. देवात्मा ने इस अद्वितीय देव-ज्योति और इस अद्वितीय देव-तेज को पाकर और इस पृथ्वी के अन्धकारग्रस्त आत्मिक जगत में देव-सूर्य की न्याईं प्रकट होकर उसमें जिस जिस प्रकार का उच्च परिवर्तन उत्पन्न किया, अर्थात उनकी इस अदितीय देव -ज्योति और उनके इस अदितीय देव-तेज की किरणों को पाकर अधिकारी मनुष्यों में अपने अपने आत्मा के सम्बन्ध में धर्म के नाम से एक वा दूसरे सुखदायक परन्तु पूर्णत: मिथ्या विश्वासों वा मतों और नेचर के विविध अस्तित्वों के सम्बन्ध में अपने एक वा दूसरे प्रकार के सुखदायक परन्तु अशुभ वा अन्यायमूलक कर्मों के प्रति जिस उच्च घृणा वा इस से भी बढ़कर उन में से नाना जनों में जिस प्रकार की उच्च दु:ख की उत्पति हुई, और होती है, और इस उच्च घृणा और इस उच्च दु:ख के उत्पन्न होने से उन में जिस जिस प्रकार का उच्च परिवर्तन हुआ और होता है, उस प्रकार का आत्मिक उच्च परिवर्तन मनुष्य जगत में से कहलाने वाले किसी धर्म-सम्प्रदाय के किसी संस्थापक वा शिक्षक वा गुरु वा पैगम्बर वा किसी कहलाने वाले ऋषि वा मुनि वा योगी वा संत वा महंत वा सिद्ध वा बुद्ध वा तीर्थंकर वा जिन्न आदि के द्वारा **नहीं हो सका था, नहीं हो सकता था, और नहीं हो सकता।**

9. **देवात्मा** कई प्रकार के सुख दुख विषयक बोध रखकर भी शुभ और सत्य विषयक **देव-अनुरागों को प्राप्त होने के कारण** नेचर के अटल नियमानुसार किसी भी **सुख के अनुरागी नहीं हो सकते थे, और न वह सुख प्राप्ति विषयक अपना कोई लक्ष्य रख सकते थे; इसीलिए वह मनुष्य जगत के लोगों की न्याईं जैसे किसी भी सुख के अनुरागी नहीं बने, वैसे ही उनका सुख प्राप्ति विषयक कोई लक्ष्य भी नहीं हुआ।**

10. **देवात्मा** शुभ और सत्य विषयक **देव-अनुरागों को प्राप्त होकर, मनुष्य जगत के**

लोगों की न्याईं जैसे किसी मनुष्य, पशु, पौधे और जड़ पदार्थ के साथ किसी **सुख- भाव से जुड़कर वा बंधकर उसके सम्बन्धी नहीं बन सकते थे, वैसे ही वह उन में से किसी के साथ अपने किसी सुख भाव से जुड़कर सम्बन्धी नहीं बने।**

11. **देवात्मा** शुभ और सत्य विषयक **देव-अनुरागों को प्राप्त होकर** और नेचर के किसी जीवित वा अजीवित अस्तित्व के साथ **सुखमूलक सम्बन्ध न रख कर उन में से किसी के पक्षपाती नहीं बन सकते थे;** इसलिए **मनुष्य जगत के लोगों की न्याईं वह उन में से किसी के पक्षपाती नहीं बने।**

12. **देवात्मा** शुभ और सत्य विषयक **देव-अनुरागों को पाकर** और किसी भी सुख के अनुरागी न होने के कारण मनुष्य जगत के नर नारी जनों की न्याईं **किसी भी सुख के दास नहीं बन सकते थे, इसलिए वह किसी भी सुख के दास नहीं बने।**

फलत: नेचर के विकास क्रम में जैसे **अजीवित** जड़ पदार्थों की तुलना में **जीवित** जड़ पदार्थों की, और जीवित जड़ पदार्थों की तुलना में **संगठन प्राप्त** जीवित पौधों और पशुओं की, और उन सब की तुलना में **मनुष्यों** की विशेषता है, **वैसे ही मनुष्य जगत के सब प्रकार के मनुष्यों की तुलना में देवात्मा की विशेषता है।**

इसलिए यह देवात्मा इन सच्ची और अदितीय देव-शक्तियों को प्राप्त होकर जैसे इस पृथ्वी के मनुष्य जगत के विकास में सर्वश्रेष्ट और सर्वांग हितकर वा शिरोमणि आविर्भाव हैं, वैसे ही वह सच्ची और अदितीय देव-शक्तियों और उन की सब प्रकार की विशेषताओं को प्राप्त होकर मनुष्य जगत के प्रत्येक मनुष्य से अपना उसी प्रकार मूलतः अंतर वा प्रभेद रखते हैं, जिस प्रकार मनुष्य जगत के लोग अपने अपने आत्मा में नेचर से कई प्रकार की विशेष शक्तियों को पाकर पशु जगत के प्रत्येक जीव से अपना अपना मूलतः अंतर वा प्रभेद रखते हैं।

इस पृथ्वी के कहलाने वाले सब प्रकार के देवतों और देवियों और उपास्यों के साथ देवात्मा का मूल अंतर वा प्रभेद ।

प्र० । इस पृथ्वी के कहलाने वाले नाना धर्म-सम्प्रदायों में जो जो देवते कहलाते हैं वा उपास्य माने जाते हैं, उनमें और **देवात्मा** में मूलतः क्या अंतर है ?

उ० । मनुष्य जगत में कहलाने वाले जिन जिन देवतों वा कहलाने वाली जिन जिन देवियों वा कहलाने वाले जिन जिन उपास्यों का प्रचार हुआ है, वह चाहे मनुष्य जगत के लोगों में से थे, चाहे पशु जगत में से, चाहे उदभिद वा भौतिक जगत में से और चाहे पूर्णत: मन घडंत थे; **वह सभी उन सच्ची देव-शक्तियों से विहीन वा शून्य थे, कि जिनका देवात्मा में प्रकाश और विकास हुआ है।**

अब यद्यपि **पूर्णत: मन घडंत** देवतों और देवियों का तो **सिरे से ही कभी कोई वास्तविक अस्तित्व न था,** परन्तु मनुष्य, पशु, उदभिद और भौतिक जगत के जिस किसी सचमुच के अस्तित्व को भी देवता वा देवी वा उपास्य कहकर वा मान कर वा बताकर प्रचार किया गया, **वह सचमुच का प्रत्येक अस्तित्व भी देवात्मा की सच्ची देव-शक्तियों से विहीन था;** और फिर उनमें से मनुष्यों में से जो जो जन देवता कहलाए वा माने गए, वह सब के सब **अपने अपने आत्मा में मनुष्य-प्रकृति रखने के कारण केवल सुख अनुरागी थे; और वह उन सच्ची देव-शक्तियों से पूर्णत: विहीन थे,** कि जो नेचर के विकास क्रम में **देवात्मा** में प्रकट हुईं। **इसलिए उन सब के साथ देवात्मा का वही प्रभेद है, और समझना चाहीए, जो सब प्रकार के और मनुष्य आत्माओं से है।**

******

ग्यारहवां अध्याय ।

मनुष्य जगत में भिन्न भिन्न प्रकार के सुख अनुराग ।

प्र० । मनुष्य जगत में कितने प्रकार के सुख अनुरागों की उत्पत्ति हुई है ?

उ० । मनुष्य जगत के यह सुख अनुराग जिन **आठ** प्रकार की बड़ी बड़ी श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं, वह यह हैं :--

(1) शरीर सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।

(2) “अहं” सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।

(3) संतान सम्बन्धी सुख अनुराग ।

(4) धन सम्पति सम्बन्धी सुख अनुराग ।

(5) संस्कार, संग वा अभ्यास सम्बन्धी सुख अनुराग ।

(6) हिंसा सम्बन्धी सुख अनुराग ।

(7) मिथ्या विश्वास सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।

(8) उच्च वा सात्विक भाव सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।

इन विविध प्रकार के सुख अनुरागों में से **प्रत्येक के विरुद्ध** किसी घटना के उपस्थित होने पर मनुष्य के आत्मा में जो **आघात** लगता है, उस से उस में **दुःख** की उत्पत्ति होती है; और ऐसे नाना दुखों की उत्पत्ति से उस में नाना प्रकार की **घृणाओं** की उत्पत्ति होती है।

आगे चलकर इन विषयों के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन होगा।

******

बारहवां अध्याय ।

मनुष्य के आत्मा की गठन में शरीर सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।

मनुष्य में पहले पहल कई प्रकार के **शारीरिक सुखों और दुखों की अनुभूति उत्पन्न होती है;** फिर इन बोधों के प्रकट हो जाने पर उस में **सुखों के लिए आकर्षण और दुखों के लिए विकर्षण विषयक दो अलग अलग भावों का प्रकाश होता है।** इसके अनन्तर उसमें **जिस जिस सुख** के लिए **आकर्षण बढ़ता जाता है,** उसका वह धीरे धीरे **अनुरागी** बन जाता है; और उसके उस **सुख** में जो जो जन वा कोई और **रोक वा विध्नकारी बने,** वह उसके और उसके भिन्न अपने प्रत्येक सुख के विपरीत **प्रत्येक दुख** के लिए **घृणा भाव अनुभव करता है।**

प्र० । मनुष्य के आत्मा में **शारीरिक सुख विषयक अनुरागों** की उत्पत्ति से क्या अभिप्राय है ?

उ० । मनुष्य को अपने शरीर की जिन जिन **इन्द्रियों के द्वारा जो जो सुख बोध होता है,** उनमें से जिन जिन की प्राप्ति के लिए उसमें **प्रबल लालसा वा वासना** उत्पन्न हो जाती है, उसकी उस **प्रबल लालसा वा उसके उस प्रबल आकर्षण को शरीर सम्बन्धी सुख अनुराग कहते हैं।**

प्रत्येक मनुष्य में अपने जन्म काल से ही अपनी **इन्द्रियों के द्वारा कई प्रकार के सुखों और दुखों की अनुभूति आरम्भ हो जाती है।** अर्थात जब कुछ वस्तुएं उसके मुहं में डाली जाती हैं, तब उसे अपनी जीभ से संलग्न विविध प्रकार की **स्वाद-बोध दायिनी गिल्टियों** के द्वारा **उन का पृथक पृथक स्वाद बोध होता है,** जिनमें से उसे कोई वस्तु **सुखदायक वा आकर्षणीय और कोई कष्टदायक वा विकर्षणीय प्रतीत होती है।** ऐसी दशा में वह सुखदायक वस्तु को **ग्रहण** और कष्टदायक वस्तु को **त्याग** करना चाहता है। वह किसी विशेष दशा की गर्म वा सर्द हवा में **कष्ट,** और किसी अन्य विशेष दशा की हवा में **आराम वा सुख** बोध करता है, और इसीलिए पहली दशा की हवा को अपने लिए **कष्टकर** पाकर

उसके प्रति विकर्षण वा **घृणा** और दूसरी प्रकार की हवा को अपने लिये **सुखकर** पाकर उसके लिए अपने भीतर **आकर्षण** बोध करता है। फिर धीरे धीरे उसमें और कई प्रकार के **स्नायु मूलक बोधों** की उत्पत्ति और उन्नति होती है।

अपने स्नायु मूलक विविध **सुखों और दुखों का बोधी होकर मनुष्य बाल्यकाल** से ही उनमें से एक वा दूसरे प्रकार के **शारीरिक सुखों का लालसी और शारीरिक दुखों के प्रति घृणाकारी** बन जाता है। वह **सुख को चाहता है-**चाहे वह अपने फल के विचार से उसके लिए **कैसा ही हानिकारक और अशुभ उत्पादक भी हो।** वह दुःख को नहीं चाहता, चाहे वह अपने फल के विचार से उसके लिए **कैसा ही लाभदायक वा शुभ वा हित-उत्पादक भी हो।**

फिर किसी **सुख का लालसी** बनते बनते जब मनुष्य उसका **अनुरागी** बन जाता है, तब वह स्वभावतः **अपनी स्वाधीनता को खोकर उसका दास भी बन जाता है।** और वह **जिस जिस सुख का अनुरागी** बन कर उसका **दास** बन जाता है, उसका **दास** बन जाने के कारण वह क्या अपने **शरीर** और क्या अपने आत्मा दोनों की गठन की विविध प्रकार से **हानि** करता है। इसीलिए **सुख का दास बन कर वह अपने अस्तित्व का आप ही शत्रु और हानिकर्ता बन जाता है।**

प्र० । मनुष्य अपने जिन जिन शारीरिक सुखों का अनुरागी वा दास बन कर अपने अस्तित्व का आप शत्रु **वा हानिकर्ता** बन जाता है, वह क्या क्या हैं ?

उ० । वह सुख अनुराग कई प्रकार के हैं। यथा :-

1. स्वाद सुख अनुराग ।
2. नशा सुख अनुराग ।
3. काम सुख अनुराग ।
4. आलस्य सुख अनुराग । इत्यादि ।

यह सब सुख अनुराग मनुष्य के शरीर की स्नायु प्रणाली से **साक्षात् सम्बन्ध** रखते हैं; इसीलिए यह सब शारीरिक सुख अनुराग हैं।

(1) स्वाद सुख अनुराग ।

इस नीच अनुराग के **वशीभूत** होकर वा उसका **दास** बन कर मनुष्य -

1. कितनी ही ऐसी चीजें खाता वा पीता है, कि जो उसे यद्यपि सुस्वाद बोध होने पर **सुखदायक** मालूम होती हैं, तथापि वह ऐसी चीजें होती हैं, जो उसके **शारीरिक स्वास्थ्य की नाशक** होती हैं, और जिन्हें **नेचर** ने किसी मनुष्य के **आहार वा पान के निमित हितकर नहीं बनाया, और जिनका खाना वा पीना उचित** नहीं रक्खा और जिनका व्यवहार उसके शुभ नियम के सर्वथा विरुद्ध है।

2. जिस किसी वस्तु के खाने वा पीने से उसके शरीर में **किसी रोग की उत्पति होती हो, उसे भी खाना चाहता है;** और उसके **लालच** से अपने आपको रोक नहीं सकता। और ऐसी दशा में विविध प्रकार से **अमिताचारी** बनकर **अपने शरीर की स्वास्थ्य और उसके बल और अपनी शारीरिक आयु को नष्ट करता है।**

3. न केवल अखाद्य किंन्तु खाद्य वस्तुओं को भी **उचित वा परिमित मात्रा से अधिक खाने का अभ्यासी बन जाता है।** और जब वह इस प्रकार **उचित से अधिक मात्रा में** खाने -पीने का अभ्यासी बन जाता है, तब उसके पाचनकारी विविध शारीरिक अंग अपने ऊपर अपनी योग्यता से बहुत अधिक बोझे के आ पड़ने से उन खाई वा पी हुई वस्तुओं को **भली भांत जीर्ण व हज़म नहीं कर सकते,** और उसके शरीर की पालना के लिए जितने **शुद्ध रुधिर** की आवश्यकता है, **वह नहीं बनता;** और उसके साथ ही उसके रुधिर में कई प्रकार के **विषाक्त और हानिकारक पदार्थ** मिल जाते हैं, कि जिन के कारण उसमें नाना प्रकार के **रोगों** की उत्पत्ति होती है।

4. मांसाहारी बनकर **मांस खाने के निमित** पशु जगत के जीवों को **आप वध करके वा औरों से वध करा के अन्यायकारी बनता** है; अथवा औरों के इसी प्रकार के अन्याय वा अत्याचार मूलक कर्मों में सहायक बनता है। इसके भिन्न उनके मांस में **रोग-उत्पादक** जो कई प्रकार के पदार्थ वर्तमान होते हैं, उन्हें खाकर **एक वा दूसरे प्रकार के रोगों से भी रोगी बनता है।**

5. ऐसे नमक के खाने का अभ्यासी बनता है, कि जो ज़मीन की खानों वा खारी जल वा शोरा मट्टी से निकाला जाता है, और **जिसे नेचर ने मनुष्य की खुराक नहीं बनाया; क्योंकि खनिज पदार्थों को जीवित रूप में बदल देने की योग्यता नेचर की ओर से केवल उदभिद**

जगत की ही जीवनी- शक्तियों को प्राप्त हुई है; अर्थात वही **उन्हें अजीवित दशा से जीवित और संगठित दशा में परिवर्तित करके उन्हें अपने शरीर का अंश बना सकती है;** और उनके भिन्न पशु वा मनुष्य जगत का कोई जीव ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए मनुष्य को अपने शरीर की रक्षा और पालना के लिए जिन नाना प्रकार के "लवणों" वा **"नमकों" की आवश्यकता है, वह सब उसके लिए उदभिद जगत के पौधों में ही बनते हैं,** और नेचर के हितकर नियमानुसार **उसे वह सब नमक उदभिद जगत के ही खाद्य पदार्थों से प्राप्त करने चाहीए, और उसे खनिज नमक** कभी न खाना चाहीए।

स्वाद और अभ्यास और रवाज के वशीभूत होकर ही लोग **खनिज नमक** खाते हैं। मनुष्य की जीवनी-शक्ति खनिज-नमक को **जीवित रुधिर में बदल नहीं सकती है, और उसे अपने जीवित अंगों का अंश नहीं बना सकती;** इसलिए जो लोग **खनिज वा कानी नमक** खाते हैं, वह कुछ मात्रा में तो उनके मूत्र आदि के साथ उनके शरीर से बाहर निकल जाता है, और कुछ उनके शरीर के ही एक वा दूसरे प्रकार के पठ्ठों के भीतर लिपटा रह जाता है, और वहां रहकर उनके शरीर में कई प्रकार के स्वास्थ्य नाशक रोगों की उत्पत्ति करता है।

6. चाय और काफ़ी आदि कई प्रकार की अनावश्यक और अनुचित वस्तुओं के पीने का अभ्यासी बन जाता है। इन चीजों में जो **विषाक्त पदार्थ** मिले हुए होते हैं, उनके कारण वह चीजें मनुष्य के पीने के योग्य नहीं। क्योंकि **विषाक्त पदार्थ** उसके शरीर में एक वा दूसरे **रोग** की उत्पत्ति करते हैं।

7. कई प्रकार के ऐसे **गरम मसालों** के खाने का अभ्यासी बन जाता है, कि जो मनुष्य की खुराक नहीं; इसीलिये उनके खाने का अभ्यासी बनकर वह अपने शारीरिक स्वास्थ्य की कई प्रकार से हानि करता है।

8. विविध प्रकार के **अमिताचार** के द्वारा अपने शरीर में **विविध प्रकार के रोग** उत्पन्न करके और **रोगी** बनके नाना प्रकार के **कष्ट** - कई बार **अति दारुण और असहय कष्ट** भोगता है। और कई दशाओं में किसी कष्ट के अधिक सहने के अयोग्य हो जाने पर अपने ही हाथ से अपने शरीर की **हत्या** तक भी कर लेता है।

(2) नशा सुख अनुराग ।

प्र० । नशा सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । विषाक्त वा ज़हरीली चीज़ों के खाने वा पीने से मनुष्य के शरीर की स्नायु प्रणाली के अनुचित रूप से उत्तेजित हो जाने से उसे जो एक प्रकार का **सुख** अनुभव होता है, उसे **नशा-सुख** कहते हैं; और इस प्रकार के नशे विषयक सुख की **प्रबल वासना** वा नशे विषयक सुख के प्रबल आकर्षण को **नशा-सुख-अनुराग** कहते हैं।

पशु जगत के जीव भूखे होकर भी भंग वा पोस्त वा तम्बाकू आदि किसी ज़हरीले पौधे को नहीं खाते; प्यासे होने पर भी शराब वा भंग के मिले हुए पानी को नहीं पीते, और उनके द्वारा अपने शरीर की हानि नहीं करते। परन्तु मनुष्य **नशे के नीच सुखों का अनुरागी बनकर** भंग और पोस्त के भिन्न शराब, अफीम, मारफ़िया, चरस, चंडू, कोकेन और तम्बाकू आदि ज़हरीली चीज़ों को खाता वा पीता है। नेचर ने **नशे के सुख के लिए** उपरोक्त वस्तुओं में से किसी भी वस्तु को **विधेय वा जायज नहीं किया;** क्योंकि उनके सेवन से **शारीरिक स्वास्थ्य को बहुत हानियाँ पहुंचती हैं,** और उसके शरीर के श्रेष्ठ अंग खराब हो जाते हैं; और उनके खराब हो जाने से उसमें **नाना रोगों की उत्पत्ति होती है।**

नशेदार चीज़ों के खाने वा पीने से मनुष्यों में जिस जिस प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं, वह यह हैं :--

(1) मस्तिष्क वा दिमाग की बीमारियाँ। यथा :--स्मरण शक्ति का क्षय अर्थात निसयान, पागलपन, राशा वा अंग-कम्पन, सकता, फालेज़ वा लकवा आदि।

(2) पाचनकारी अंगों की बीमारियाँ । यथा :-- कब्ज़ (कोष्ट बद्धता), पेचिश वा मरोड़, यरकान, जलोदर, ज़ियाबतीस (पेशाब से चीनी का निकलना) आदि।

(3) दिल की बीमारियाँ । यथा :-- दिल की धडकन, आदि।

(4) गुर्दों की बीमारियाँ । यथा :-- जोड़ों का दर्द और गठिया आदि।

इनके भिन्न आँखों और गले आदि की विविध बीमारियाँ भी पैदा हो जाती हैं ।

(3) काम सुख अनुराग।

प्र० । काम सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । किसी नर और नारी को अपने जननेंद्रिय के द्वारा जो एक प्रकार की **सुखदायक** सनसनी बोध होती है, उसे **काम भाव** कहते हैं; और इस **सुख** की प्रबल वासना वा उसके लिए प्रबल आकर्षण को **काम सुख अनुराग** कहते हैं। इस काम विषयक **सुख के अनुराग के दास** बनकर उसकी प्राप्ति के निमित्त बहुत से मनुष्य:

(1) कितनी ही ऐसी क्रियाएं करते हैं, कि जो नेचर के शुभ नियम के विरुद्ध हैं। यथा :--

(अ) हस्त मैथुन,

(इ) किसी लड़के वा पुरुष वा स्त्री के साथ उसके मल द्वार के द्वारा मैथुन,

(उ) किसी पशु के साथ मैथुन,

(ए) अपनी ही पत्नी वा अपने ही पति के साथ अतिशय मैथुन,

(क) अपनी पत्नी के साथ उसकी रजस्वला की दशा में मैथुन,

(ख) अपनी ही पत्नी वा अपने ही पति के साथ अपनी वा उसकी किसी विशेष रोगी दशा में मैथुन,

(ग) व्यभिचार-मूलक मैथुन ,

(घ) बलात वा अत्याचार-मूलक मैथुन ,

(च) अपनी पत्नी वा अपने पति के भिन्न किसी और स्त्री वा पुरुष की ओर काम भाव-मूलक दृष्टिपात,

(छ) अपनी पत्नी वा अपने पति के सम्बन्ध में उचित अवसर के भिन्न काम भाव की तृप्ति के लिए किसी अन्य स्त्री वा पुरुष वा लड़के वा लड़की के किसी शारीरिक अंग का स्पर्श वा चुम्बन; आदि ।

(2) काम भाव उत्तेजक चिंता, बातचीत, साहित्य पाठ, गीत गान वा श्रवण, नृत्य दर्शन, नृत्य करण और हंसी मखौल आदि क्रियाओं के द्वारा अपनी कई प्रकार की हानि करते हैं।

(3) हस्त मैथुन और पुरुष होकर पुरुष के साथ मैथुन करते हैं और ऐसे अभ्यास के द्वारा अपने दिल के भिन्न अपने शारीरिक बड़े बड़े अंगों - विशेषकर अपने मस्तिष्क अर्थात दिमाग की बहुत बड़ी तबाही करते हैं; और ऐसी हानि करके अपने आपको अच्छे विद्वान और विचारशील बनने की योग्यता से वंचित रखते हैं; और ऐसी क्रियाओं से कई प्रकार

के रोगों में ग्रस्त होकर **विविध प्रकार के कष्ट भोगते** हैं; और एक वा दूसरी दशा में किसी **अति निराशा** और अतिशय **दुःख** के उत्पन्न हो जाने पर, और उसके सहने के लिए जिस बल की आवश्यकता है, उससे **रहित** होने पर, अपने हाथ से ही अपनी **हत्या** तक कर लेते हैं।

(4) व्यभिचार विषयक पाप के द्वारा अपने आत्मिक जीवन का **पतन** करने के भिन्न अनेक दशाओं में उन विशेष गंदे और अत्यंत बुरे और ज़हरीले रोगों से रोगी बन जाते हैं कि जिनके द्वारा वह केवल अपने ही शरीर में **उन के अति हानिकारक फल नहीं भोगते**, किंतु **औरों तक** उन रोगों के बुरे असर पहुंचा कर **उनकी भी तबाही** करते हैं; और ऐसे किसी रोग के हो चुकने के बाद यदि वह कोई **संतान** उत्पन्न करने के योग्य हों, तो कई दशाओं **में उनकी एक वा दूसरी संतान को भी उनके किसी ऐसे रोग का बहुत बुरा फल भोगना पड़ता है।**

(5) विवाह करके भी जब इस सुख की प्राप्ति के लिए **अतिशय मैथुन** करते हैं, तब वह अपने स्नायु बल को धीरे धीरे नष्ट करके अनेक दशाओं में इतने **निर्बल** हो जाते हैं, कि वह **क्षयी आदि कई प्रकार के सांघातिक रोगों के उत्पादक नाना प्रकार के सूक्ष्म कीटाणुओं के आक्रमण से अपने शरीर की रक्षा करने के अयोग्य हो जाते हैं,** और इसीलिये कितने ही जन युवा अवास्था में ही किसी ऐसे रोग से रोगी हो जाते हैं, और उसके द्वारा घुल घुल कर **अकाल मृत्यु** को प्राप्त हो जाते हैं।

(6) पुरुष होकर किसी की बेटी, किसी की पत्नी, किसी की बहन, किसी की माँ आदि को किसी विधि से **अपने प्रति आकृष्ट कर के** वा उसे बहका-फुसला के वा उसे कोई लालच दे के और उसे उसके सम्बन्धियों से **विश्वासघाती** बना के उसके घर से निकाल वा भगा ले जाते हैं, और उसे **व्यभिचारिणी** बनाकर अनेक बार उसे एक वा दूसरे कारण से **त्याग देते हैं**; और वह ऐसी दशा में अनेक बार अपने लिए कोई और आश्रय स्थान न देखकर **वेश्या** बन जाती है, और अपने सतीत्व को बेचकर और दिनों-दिन नीच और पतित बन कर **इस व्यभिचार बिषयक क्रिया को अपना व्यवसाय बना लेती है,** और अपने महा पतित स्वभाव के द्वारा और बहुत से नर नारियों को **अपनी न्याईं व्यभिचारी बनाती है।**

(7) पुरुष होकर धन रखने पर केवल यही नहीं कि व्यभिचार विषयक व्यवसाय करने वाली **वेश्या वा कुलटा स्त्रियों के द्वारा अपने काम-वासना की तृप्ति करते हैं,** किन्तु उनमें से कितने ही जन गृहस्थी स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करके और उन्हें **व्यभिचारी** बनाकर उनके सम्बन्धियों के सम्बन्ध में उन्हें **विश्वासघाती** बनाते हैं।

(8) जो पुरुष होने पर **व्यभिचार के द्वारा** अपने काम सुख को लाभ करना नहीं चाहते, और **किसी उचित विधि से** अपना **विवाह** भी नहीं कर सकते, वह किसी लड़की के बाप वा भाई वा उसकी माँ वा उसके किसी संरक्षक को बहुत सा रुपया दे कर उस लड़की को उन से **खरीद** लेते हैं। और उसे अपने पास रखकर अपने अभीष्ट को पूरा करते हैं। अथवा जिन स्थानों में अविवाहित लड़कीयों वा अविवाहित स्त्रियों के **बेचने की प्रथा जारी हो,** वहां से उन्हें खरीद कर इसी अभिप्राय के लिए अपने पास रखते हैं, और फिर जब उन्हें उन में से किसी को अपने पास रखने की आवश्यकता मालूम न हो, तब उन्हें **अपनी बारी में इसी मतलब के लिए किसी और पुरुष के हाथ बेच देते हैं।** इत्यादि ।

4. आलस्य सुख अनुराग ।

प्र० । आलस्य सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । अपने वा किसी और के लिए कुछ काम न करने अथवा थोड़े से थोड़ा काम करने के भाव को **आलस्य भाव** कहते हैं; और इस भाव के **सुखार्थी** बनकर जो लोग क्या अपने वा क्या किसी और के लिए जहाँ तक सम्भव हो अपनी ओर से कुछ काम करने के आकांक्षी नहीं रहते, वह **आलस्य सुख अनुरागी** कहलाते है; और उनके इसी नीच सुख को **आलस्य सुख अनुराग** कहते हैं।

प्र० । आलस्य सुख अनुरागी जन इस आलस्य सुख के **दास बनकर** अपने अस्तित्व के द्वारा किस किस प्रकार के लक्षण प्रकाश करते हैं ?

उ० । आलस्य सुख अनुराग के **दास** बनकर कितने ही लोग

1. औरों के सम्बन्ध में अपने विविध प्रकार के **कर्तव्य कर्मों** को पालन नहीं करते वा नहीं कर सकते;

2. अपने पूर्वजों से धन सम्पति के मिल जाने पर यदि वह उनके निर्वाह के लिए यथेष्ट हो,

तो उसी पर गुज़ारा करते हैं, और आप अपने उद्योग वा परिश्रम से कुछ नहीं कमाते, और निकम्में पड़े रहते हैं;

3. जो अपने निर्वाह के लिए पूर्वजों से कोई धन सम्पति नहीं पाते, और अपने पास भी कोई धन सम्पति नहीं रखते, वह एक वा दूसरी विधि से औरों को **ठग कर वा औरों से उधार के नाम से धन लेकर** अपना गुज़ारा करते हैं;

4. जब आप कमाने के लिए मजबूर होकर धन के बदले में किसी और का कोई काम करना स्वीकार भी करते हैं, तब वह जहाँ तक सम्भव हो, उसके लिए **थोड़े से थोड़ा** काम करने की चेष्टा करते हैं; और वह अपनी इस ठगी विषयक क्रिया के सम्बन्ध में अपना यह मूल मन्त्र रखते हैं --

"करूँ बहुत थोड़ा सा काम,
मुझ को मिले बहुत सा दाम";

5. "साधु" वा "फ़क़ीर" बनकर और **भीख** मांग कर अपना गुज़ारा करते हैं, और लोगों पर अपने विविध प्रकार के खाने पीने आदि का **अत्यंत अनुचित वा अधर्म–मूलक बोझा डालते हैं**, और उनमें से सैंकड़ों जन नाना लोगों को ठग कर उनकी कमाई पर जीने की चेष्टा करते हैं;

6. पहले कुछ काल तक काम करने और उसके द्वारा कुछ धन उपार्जन कर लेने के अनन्तर एक वा दूसरे कारण से निकम्में बन जाते हैं, और फिर अपने जीवन के शेष दिन वृथा नष्ट करते हैं;

7. सुस्त पड़े रह कर काम भाव उतेजक हंसी मखौल करके वा **औरों की किसी हानि वा बुराई** के सम्बन्ध में आप कोई **निन्दा** करके वा औरों से किसी ऐसी निन्दा को सुनकर अपना समय वृथा नष्ट करते है, और ऐसा करके अपनी बहुत बड़ी आत्मिक हानि भी करते हैं;

8. औरों की कोई सहायता वा सेवा तो कही रही, "अपनी आप सहायता (Self help)" के नियम के पालन करने के भी योग्य नहीं रहते। अर्थात वह अपने शरीर, अपने घर और अपनी विविध वस्तुओं आदि की साधारण रक्षा का भी कोई काम नहीं कर सकते; वह प्यासे होकर भी जब तक सम्भव हो, आप पानी उठा कर वा कहीं से लाकर पीना नहीं

चाहते; वह अपनी चारपाई वा अपना बिस्तरा आप बिछाना नहीं चाहते; वह अपने घर और अपनी वस्तुओं को मौसम के प्रतिकूल असरों से बचाने की कोई हिम्मत नहीं रखते, और उन्हें सम्हाल कर नहीं रखते, वह स्नान नहीं करते और अपने कपड़े नहीं धोते, और बहुत मैले कुचैले और फूहड़ रहते हैं।

इस प्रकार के लाखों लोग **आत्म–सम्मान के भाव से भी पूर्णत: रहित** होते हैं, और अपनी आत्मिक दशा के विचार से बहुत **पतित और घटिया दर्जे के** आदमी होते हैं।

******

तेरहवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा की गठन में अहं सम्बन्धी कई सुख अनुराग ।

प्र० । अहं सम्बन्धी सुख अनुराग क्या होते हैं ?

उ० । मनुष्य में "अहं" अर्थात "मैं" विषयक **बोध** के उत्पन्न हो जाने पर जब "मेरा" वा मेरी "मुझे" अथवा **अपना** और **अपनी** के भी **बोध** उत्पन्न हो जाते हैं, तब वह इस "मेरा" और "मेरी" के भाव से क्या अपने और क्या नेचर के अन्य नाना जीवित और अजीवित अस्तित्वों के साथ अपना अहं-मूलक सम्बन्ध स्थापन करता है, और इस प्रकार के **अहं-मूलक सम्बन्ध से** उसे जिस **सुख** की अनुभूति होती है, उस **सुख** के प्रति उसकी गाढ़ लालसा को **अहं सम्बन्धी सुख अनुराग** कहते हैं।

मनुष्य का कोई बच्चा जब तक यह नहीं जानता, कि यह **मेरा** सिर है, यह **मेरे** सिर के बाल हैं, यह **मेरा** मुहँ है, यह **मेरी** आखें हैं, यह **मेरा** नाक है, यह **मेरी** जीभ है, यह **मेरे** हाथ हैं। यह **मेरी** अंगुलियाँ हैं, यह **मेरी** छाती है, यह **मेरा** पेट है, यह **मेरे** पाँव हैं, यह **मेरी** टोपी है, यह **मेरा** जूता है, यह **मेरा** खिलौना है, इत्यादि; तब तक वह इन में से **किसी का कभी अनुरागी नहीं होता।**

इसलिए यदि वह अपने सिर में कोई टोपी और पाँव में जूते पहनता हो, किसी खिलौने से खेलता हो और उनमें से यदि कोई वस्तु भी ख़राब वा गुम हो जाये, वा चोरी हो जाये, तो ऐसा होने से उसे कोई **दुख** नहीं होता, और न इससे उसे **अपनी** कोई **हानि** अनुभव होती है। वह चीजें यद्यपि उसके काम आती हैं, और वह उसके लिए **हितकर** भी प्रमाणित होती हैं, तथापि उसमें जब तक उनके सम्बन्ध में "मेरी" वा "मेरा", "अपनी" वा "अपना" का **बोध** उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह उनके साथ **अपना कुछ भी सम्बन्ध** अनुभव नहीं करता।

इसके भिन्न जब तक किसी मनुष्य के बच्चे में "अहं" बोध उत्पन्न न हुआ हो, और वह अपने अस्तित्व वा अपने भिन्न किसी और अस्तित्व को अपना मानने वा जानने के योग्य न हुआ हो, तब तक यदि तुम उसकी किसी आखं वा उसकी नाक वा उसके किसी कान

वा उसके चेहरे वा उसके किसी हाथ वा पावं आदि की बनावट को **दूषित** देख कर **दूषित** कहो, वा **दूषित** बताओ, तो तुम्हारी इस बात को सुनकर वह अपने हृदय में कोई **आघात वा कष्ट** अनुभव नहीं करेगा; परन्तु जब उसमें यह “अहं” विषयक बोध उत्पन्न हो जायेगा, और वह अपने शरीर के किसी भी अंग को “अपना” वा “मेरा” अंग वा किसी अन्य वस्तु को **अपनी वा मेरी** वस्तु मानने लगेगा, तब यदि उनमें से किसी को तुम **दूषित** वा **बुरा** बताओ, तो वह इससे **खुश नहीं होगा**, किन्तु **कष्ट वा दुख** अनुभव करेगा। और यदि तुम **उसके** शरीर सम्बन्धी किसी अंग वा उसकी किसी और वस्तु की जिसे वह **अपनी** जानता हो, **प्रशंसा** करो-यहाँ तक कि **झूठी प्रशंसा** करो-तो भी वह उससे **खुश** होगा, और ज्यादा खुश होने पर मुस्कराने लगेगा, और अपने इस ख़ुशी के प्रकाश से वह तुम पर इस बात को प्रकट करेगा, कि वह जैसे **अपनी वा अपनी किसी वस्तु की अप्रशंसा से अप्रसन्न वा दुखी होता है, वैसे ही अपनी वा अपनी किसी वस्तु की प्रशंसा से सुख वा हर्ष लाभ करता है।**

मनुष्य में इस “अहं” बोध के अनन्तर उसी से सम्बंधित न केवल प्रशंसा विषयक सुख अनुराग की उत्पत्ति हुई है, किन्तु कई और प्रकार के **सुखों** और सुख अनुरागों की उत्पत्ति भी हुई है।

प्र० । मनुष्य के इस प्रकार के सब सुख अनुराग क्या क्या हैं ?

उ० । उसके इस प्रकार के सब सुख अनुराग यह हैं :--

1. प्रशंसा सुख अनुराग ।
2. मान सुख अनुराग ।
3. बड़ाई सुख अनुराग ।
4. स्वार्थ सुख अनुराग ।

(1) प्रशंसा सुख अनुराग ।

प्र० । प्रशंसा सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । प्रशंसा का अर्थ तारीफ़ वा वाह वाह है। किसी और के मुहं से अपनी तारीफ़ वा वाह वाह के सुनने वा किसी और के लेख में अपनी तारीफ़ के पढने वा अपने मुहं वा

लेख से भी **अपनी तारीफ़ के करने से जो सुख मिलता है, उस सुख की प्रबल लालसा को प्रशंसा सुख अनुराग कहते है।**

अहं बोध के जागने के अनन्तर यह भाव बाल्य काल से ही मनुष्यों में उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य जगत में कोई जन ऐसा नहीं, कि जिसे किसी के मुहं से **अपनी प्रशंसा** सुनकर वा किसी लेख में **अपनी प्रशंसा** पढ़कर वा जान-कर **हर्ष वा सुख** बोध न होता हो। यही नहीं कि किसी और के ही मुहं वा लेख से अपनी **प्रशंसा** के सुनने वा जानने से मनुष्य को **सुख वा हर्ष** मिलता है, किन्तु एक वा दूसरे अवसर पर वह **अपने** मुहं वा लेख से भी अपनी **प्रशंसा** करके सुख लाभ करता है।

प्रशंसा-सुखार्थी प्रत्येक मनुष्य को जैसे **अपनी प्रशंसा से सुख** मिलता है, वैसे ही वह जिस जिस जन वा पशु वा पौधे वा किसी वस्तु के लिए किसी प्रकार का **आकर्षण वा अनुराग** रखता हो, **उसकी** प्रशंसा के सुनने वा **उसकी** प्रशंसा के करने से भी उसे **सुख** मिलता है। और उसे जैसे अपनी किसी अप्रशंसा के सुनने से **दुख वा कष्ट** बोध होता है, वैसे ही वह जिस किसी मनुष्य वा पशु वा अन्य वस्तु के प्रति प्यार वा अनुराग का भाव रखता हो, उसकी अप्रशंसा से भी उसे दु:ख वा कष्ट बोध होता है - चाहे ऐसी अप्रशंसा **पूर्णत: सत्य** भी हो।

इसी सुख अनुराग के कारण नेचर के नियमानुसार प्रत्येक मनुष्य **किसी ऐसे मनुष्य के लिए भी** अपने हृदय में **आकर्षण** अनुभव करता है, कि जो **उसकी वा उसके किसी प्यारे** मनुष्य वा **प्यारे** पशु वा **किसी प्यारी वस्तु की प्रशंसा करता हो,** और अपने इस **आकर्षण** के कारण वह उसे **अपना मित्र** अनुभव करता है, और आप **उसका मित्र** बन जाता है।

लाखों लोग यह जानकार कि मनुष्य अपनी **प्रशंसा** को सुनकर **खुश** होता है, उसे अपनी ओर **आकृष्ट करने** और उससे अपना कोई काम निकालने की नियत से केवल यही नहीं, कि उसके सन्मुख उसकी कोई **सच्ची प्रशंसा** करते हैं, किन्तु नाना अवसरों में जान बूझ कर उसकी **मिथ्या प्रशंसा** भी करते हैं, जिसे सुनकर भी वह हर्ष से फूल उठता है, और वह उनकी ओर **आकृष्ट** होकर उन का **पक्षपाती** बन जाता है, और इस दशा में पहुँच कर वह न केवल उनके किसी उचित **अभीष्ट** के पूरा करने के लिए, किन्तु उसके विपरीत उनके किसी **पूर्णत: अनुचित वा अन्याय-मूलक अभीष्ट के भी** पूरा करने वा उसमें

सहायक बनने के लिए तैयार हो जाता है।

मनुष्य के इसी प्रशंसा-सुख-अनुराग को जान कर हजारों कामी पुरुष किसी जवान कुमारी लड़की वा विवाहीता स्त्री वा विधवा के रूप की **झूठी प्रशंसा** करके वा उस में झूठमूठ किसी सद्गुण को बताकर उसे अपनी ओर **आकृष्ट** करते हैं, और अन्य उपायों के भिन्न इस उपाय से भी उसे अपना अनुरागी बनाकर **उसके सतीत्व को नष्ट करने की** चेष्टा करते हैं।

इसी प्रशंसा सुख के सैंकड़ों अनुरागी जन औरों को धन आदि देकर **उनके द्वारा अपनी झूठी प्रशंसा कराते और उसे अन्य लोगों में फैलाते हैं।**

इसी प्रशंसा सुख अनुराग से परिचालित होकर नाना अधम जनों ने भी अपने मरने के अनन्तर **प्रेतात्मा** बन जाने पर लोगों से अपनी **झूठी स्तुति वा झूठी प्रशंसा का सुख** लाभ करने के निमित अपने आपको **झूठमूठ देवता और नेचर के नियमों के पूर्णत: विरुद्ध** अपने भीतर नाना प्रकार की **अदभुत शक्तियों** की वर्तमानता को बताकर उनमें **मिथ्या विश्वासों** की उत्पत्ति की है।

इसी प्रशंसा सुख अनुराग के भेद को जान कर हज़ारों लोग नितान्त आवश्यक और उचित होने पर भी अपने किसी मित्र वा निकट के सम्बन्धी के किसी अपराध वा उसकी किसी बुराई को उस पर इसलिए प्रकट करने का **साहस नहीं करते,** कि उसे सुनकर वह जन **दु:खी** होगा, और वह इस दु:ख विषयक आघात को पाकर उनसे फटकर दूर हो जायेगा; और उससे उनका परस्पर का सम्बन्ध **कड़वा** हो **जायेगा**; और उससे उनकी कई प्रकार की **हानि** होगी। इसीलिये लाखों **माँ बाप तक** अपनी किसी बड़ी उमर की ऐसी सन्तान पर भी कि जो **उनकी रक्षा में रहती हो,** और जिसकी किसी बुराई से रक्षा करने के लिए वह **ज़िम्मेदार** हों, **जानबूझ कर** भी उसकी किसी शारीरिक वा आत्मिक बुराई को उस पर प्रकट नहीं करते; और उसे चुपचाप देखते रहते और होने देते हैं, और कई बार वह इसलिए भी उसकी किसी बुराई को जिसे **वह खुद भी** बुराई जानते हैं, **उस पर प्रकट करने का साहस नहीं करते;** कि ऐसा करने से वह **उनकी अप्रशंसा वा निन्दा करेगा, कि** जिसे जानकार उन्हें **दु:ख** पहुंचेगा।

इसी प्रशंसा सुख अनुराग के **दास** नाना सम्प्रदायों के हज़ारों जन यद्यपि अपने

सम्प्रदाय के किसी कहलाने वाले धर्म मत को **सत्य नहीं जानते** और नहीं मानते, फिर भी वह अपने सम्प्रदाय के लोगों से **अप्रशंसित होने के डर से** अपने आन्तरिक विश्वास के विरुद्ध अपने आपको उसी मत का विश्वासी बताते वा प्रकट करते हैं, और कपटी बनकर अपना **आत्मिक पतन** करते हैं।

इसी प्रशंसा सुख अनुराग के **दास** हजारों जन किसी प्रचलित **अनुष्ठान** वा किसी प्रचलित **प्रथा को मिथ्या वा बुरी जानकार भी** लोगों से **अप्रशंसित होने के डर से** अपने ज्ञान के विरुद्ध कपटी बनकर उसे पूरा करते हैं; और अपनी इस कपटता के द्वारा अपना **आत्मिक पतन** करते हैं।

इसी प्रशंसा सुख अनुराग के **दास** हज़ारों जन किसी इस वा उस सम्प्रदाय के **बाह्यक शारीरिक चिन्हों को अनावश्यक वा हानिकारक जान कर भी** परन्तु कुछ लोगों से **अप्रशंसित** होने के डर से उन्हें न केवल आप रखकर **कपटी** बनते और रहते हैं, किन्तु अपनी सन्तान को भी उन चिन्हों के धारण करने का उपदेश देकर और उनके धारण करने का अभ्यासी बनाकर **मिथ्या** का साथ देते हैं, और अपने ऐसे कपटता-मूलक आचरण के द्वारा **अपने अपने आत्मा को पतित करते हैं।**

प्र० । क्या इस प्रशंसा सुख अनुराग से मनुष्य में किसी नीच घृणा की भी उत्पत्ति होती है ?

उ० । जी हां । प्रत्येक सुख अनुराग के साथ **नीच-घृणा** का सम्बन्ध है, अर्थात जिस जन में जो जो सुख अनुराग वर्तमान होता है, उसके उस उस सुख अनुराग के विरुद्ध जब कोई घटना उत्पन्न होती है, तब उस में नेचर के अटल नियमानुसार **घृणा** भी अवश्य उत्पन्न हो जाती है।

इसलिए यदि तुम किसी प्रशंसा अनुरागी जन के सन्मुख कोई ऐसी **सत्य बात** भी कहो, कि जो उसकी प्रशंसा के **विरुद्ध हो,** तो वह उससे अपने **हृदय में कष्ट** लाभ करेगा, और इस कष्ट वा दुख के मिलने से उसके भीतर तुम्हारे प्रति **घृणा** भाव की उत्पत्ति हो जाएगी, और वह तुम से फटकर दूर हो जायेगा। और यदि तुम्हारे प्रति उसमें यह **घृणा भाव** बहुत प्रबल रूप से उत्पन्न हो गया हो, और उससे पहले यदि वह जन तुम्हारा **मित्र** होकर तुम्हारी कोई **सहायता** वा मदद करता था, तो उससे भी वह अपना हाथ हटा लेगा। और

यदि वह **घृणा भाव** उसमें और भी **अधिक प्रबल रूप** में उत्पन्न हो गया हो, तो वह तुम्हें मित्र के स्थान में **शत्रु के रूप में देखेगा,** और तुम्हारा **द्वेषी** वा शत्रु बनकर और विविध प्रकार से तुम्हारा आप **अहित करके वा किसी और से कराके अपने इस नीच भाव की तृप्ति करेगा।**

फलत: प्रशंसा सुख अनुरागी प्रत्येक मनुष्य के लिए नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार जैसे नाना अवसरों में **नाना प्रकार की मिथ्याओं की ओर गति करना अनिवार्य है; वैसे ही उसके लिए नाना अवसरों में एक वा दूसरे प्रकार की अन्य अशुभ-मूलक क्रियाएं करना भी अनिवार्य है।**

(2) मान सुख अनुराग ।

प्र० । मान सुख अनुराग क्या है ?

उ० । मान वा सन्मान का अर्थ 'इज्ज़त' है। अत: **अपने लिए औरों से सम्मान वा इज्ज़त पाने की प्रबल वासना को मान सुख अनुराग कहते हैं।** इस मान सुख के **दास** होकर हजारों लोग -

(1) इस वा उस प्रकार के **माननीय राज वा पोलेटीकल पद** के लाभ करने के लिए सैंकड़ों और हजारों और कई दशाओं में लाखों रुपया खर्च करते हैं; और जिन जिन जनों को प्रसन्न करने से उन्हें किसी ऐसे **पद** की प्राप्ति की आशा हो, उनकी **झूठी स्तुति** करके वा उनके लिए कोई **अनुचित वा बुरा कर्म करके** वा उनमें **अपनी झूठी महीमा** फैलाके और उन्हें उनका **विश्वासी** बनाके उस पद को लाभ करने की चेष्टा करते हैं।

(2) किसी गवर्नमेंट से इस वा उस **उपाधि वा खिताब** के लाभ करने के निमित **बहुत सा रुपया** खर्च करने के भिन्न, जिनके द्वारा उनकी यह मनोकामना पूर्ण हो सकती हो, उनकी **मिथ्या स्तुति** करते हैं; उन्हें विविध प्रकार की **भेंटें** देकर वा यथावश्यक उनके लिए कोई **अनुचित कार्य करके उन्हें प्रसन्न करते हैं;** और अपनी इस पूजा से उन्हें खुश करके उनके द्वारा अपने अभीष्ट को सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं।

(3) किसी गवर्नमेंट के किसी पोलेटिकल **दरबार् में बैठने का मान** प्राप्त करने के लिए विविध प्रकार के ऐसे **उपाय** ग्रहण करते हैं कि जो कई दशाओं में **अपराध वा पाप-मूलक**

होते हैं।

(4) किसी सम्प्रदाय वा समाज वा सोसाइटी वा बिरादरी में कोई **माननीय पद** वा उसके लोगों में **सन्मान वा इज़्ज़त** लाभ करने के निमित यथावश्यक कई प्रकार के **अनुचित कर्म** करते हैं।

प्र० । क्या इस मान सुख के अनुरागी जन अपने इस प्रकार के किसी सुख में किसी जन से कोई आघात पाकर उसके लिए **घृणाकारी** और **हानिकारक** भी बन जाते हैं ?

उ० । जी हां । यदि कोई जन **उनके इस नीच अनुराग के सम्बन्ध में उनके किसी अपराध वा पाप वा किसी अनुचित वा अशिष्ट कर्म के विषय में कोई सत्य बात भी प्रकट करे, तो वह उस से आघात और कष्ट पाकर उसके प्रति घृणा अनुभव करते है**, और इस घृणा भाव के उत्पन्न हो जाने पर उससे फट जाते हैं, और यदि वह पहले उसकी कोई सहायता करते थे, तो कई दशाओं में वह उसकी कोई सहायता करना नहीं चाहते और नहीं करते और यदि यह **घृणा भाव** उनमें बहुत **प्रबल रूप** में उत्पन्न हो गया हो, तो वह उसके द्वेषी बनकर उसकी वा उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले जनों की **विविध रूप से हानि करने के लिए भी विविध प्रकार के उपाय सोचते और अवलम्बन करते हैं, और आप उसकी हानि करके वा किसी और से कराके अपने इस महानीच घृणा भाव की तृप्ति और उसका महानीच सुख लाभ करते हैं।**

(3) बड़ाई सुख अनुराग ।

प्र० । बड़ाई सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । और मनुष्यों की तुलना में अपने आप को बढ़ चढ़ कर बड़ा वा बढ़िया विश्वास करने वा बड़ा वा बढ़िया बताने वा बड़ा वा बढ़िया माने वा कहलाए जाने और बड़ा वा बढ़िया दिखाने से मनुष्य को जिस **सुख** की प्राप्ति होती है, उस **सुख** के प्रति उसमें जब प्रबल लालसा की उत्पत्ति हो जाती है, तब उसे **बड़ाई सुख अनुराग** कहते हैं।

इस सुख अनुराग के **वशीभूत होकर -**

(1) लाखों लोग अपनी अपेक्षा किसी **वास्तविक** निपुण वा ज्ञानी वा श्रेष्ठ वा उच्च जन से भी **अपने आपको बढ़िया** विश्वास करते, **बढ़िया** समझते और **बढ़िया** बताते हैं, और उस

जन को अपनी अपेक्षा घटिया विश्वास करते, घटिया समझते और घटिया प्रकट करते हैं।

(2) लाखों लोग झूठ-मूठ भी अपने में किसी **गुण** की वर्तमानता, अथवा जो गुण उनमें वर्तमान भी हो, उसे **झूठ-मूठ बहुत अधिक वर्णन करके उसकी डींग मारते हैं।**

(3) सैंकड़ों लोग औरों के, विशेषकर अपने जैसे लोगों के सन्मुख एक वा दूसरे अवसर पर अपने किसी **अवगुण** वा अपनी **किसी बुरी क्रिया** को भी अभिमान (फ़ख़र) के साथ वर्णन करते हैं।

(4) सैकड़ों लोग अपने से बढ़िया जनों के साथ **अकारण वा अनुचित मुठभेड़ करके** अपनी नाना प्रकार की **हानियाँ** करते हैं।

(5) लाखों लोग अपने आपको औरों के सम्मुख बड़ा वा बढ़िया दिखाने के निमित अपना **बहुत सा धन वृथा नष्ट करते हैं।**

(6) हजारों लोग किसी विषय में आप **अनजान** होकर भी अपनी हेठी के डर से उसके सम्बन्ध में किसी और जानकार वा योग्य जन से कोई बात नहीं पूछते, और उससे कोई **परामर्श** नहीं लेते, और उस विषय में अपने आप ही अंधाधुंध कोई क्रिया करके अपनी वा दूसरों की बहुत हानि करते हैं।

(7) सैंकड़ों लोग किसी विषय में आप पूर्णत: **अनजान या बहुत थोड़ी योग्यता** रखने पर भी अपनी अपेक्षा किसी अधिक जानकार वा योग्य जन को **अपनी ओर से अकारण और पूर्णत: अपमान सूचक एक वा दूसरी बात बताने वा सिखाने की चेष्टा करते हैं;** और ऐसा करके कई दशाओं में उससे खुद **झाड़** खाते और **लज्जित** और अपमानित होते हैं।

(8) हज़ारों लोग अपने किसी **बड़े और माननीय जन** के सम्बन्ध में **कुछ भी अथवा जितना चाहिए उतना सन्मान प्रदर्शन करना नहीं चाहते, और नहीं करते।**

(9) लाखों लोग अपने पारिवारिक वा वंशीय बड़े वा किसी अन्य **माननीय** जन के सम्बन्ध में **कई प्रकार की अपमान सूचक क्रियाएं करते हैं।**

(10) लाखों लोग अपने किसी भी सच्चे **दोष वा अपराध वा पाप** वा अपनी किसी सच्ची **हीनता को स्वीकार नहीं करते।**

प्र० । क्या इस बढ़ाई सुख के अनुराग से भी परिचालित होकर उसकी प्राप्ति के निमित नाना प्रेत आत्माओं ने अपने आपको **झूठ-मुठ देवता** और अपने भीतर **झूठ-मुठ कई**

प्रकार की शक्तियों की वर्तमानता बताकर लोगों को अपने सम्बन्ध में विविध प्रकार से **मिथ्या विश्वासी** बनाया है, और क्या इस सुख अनुराग से परिचालित होकर उसकी प्राप्ति के निमित इस पृथ्वी के अन्य नाना स्थूल देहधारी मनुष्यों ने भी अपने सम्बन्ध में विविध प्रकार के **झूठ फैलाए** हैं ?

उ० । जी हां --

(1) इस पृथ्वी के मनुष्यों में से नाना **स्थूल देह त्यागी** परन्तु प्रेतरूप-धारी जनों ने अपने आपको **झूठ-मुठ** नेचर के नाना जगतों का **सृष्टा, शासनकर्ता** और विविध प्रकार की **अदभुत घटनाओं** वा मोजज़ों का उत्पन्न-कर्ता, किसी से **प्रसन्न** होने पर वर देकर उसकी और उसके परिवार और जत्थे के लोगों की नाना प्रकार की **मनोकामनाओं** का पूर्णकर्ता, और **कुपित** होने पर उसे, उसके परवार वा जत्थे को **शाप** देकर उसकी विविध प्रकार की हानियों का कर्ता और दुखदाता बता के, और अपने सम्बन्ध में उनके भीतर इस प्रकार के **मिथ्या विश्वास उत्पन्न करके** उन्हें अपना **अन्ध विश्वासी** बनाया है।

(2) इसी प्रकार इस पृथ्वी के **नाना स्थूल देहधारी** जनों ने भी **अपने आपको नाना प्रकार की पूर्णत: झूठी “करामातों” वा नाना प्रकार के पूर्णत: झूठे “मोजज़ों” के दिखाने की शक्ति से संपन्न और लोगों की विविध प्रकार की मनोकामनाओं वा मुरादों का पूर्ण करने वाला प्रकट करके,** और **अज्ञानी** लोगों में अपने सम्बन्ध में इस प्रकार के मिथ्या **विश्वास उत्त्पन्न करके उन्हें अपना अनुगत वा अनुयायी बनाया है।**

(3) इस पृथ्वी के **नाना स्थूल देहधारी** जनों ने **अपने आप को किसी एक वा दूसरे मिथ्या देवते का अवतार वा उसकी ओर से नियुक्त शिक्षक वा शासनकर्ता आदि** बताकर और लाखों लोगों में अपने सम्बन्ध में इस प्रकार के मिथ्या विश्वास उत्पन्न करके उन्हें **अपना अन्ध विश्वासी और अनुयायी बनाया है।**

(4) इस पृथ्वी के नाना स्थूल देहधारी जनों ने अपने आपको **किसी इस वा उस कहलाने वाले प्रसिद्ध देवता के साथ अपना कोई विशेष सम्बन्ध** बताकर और लोगों को उस देवता की इच्छा के विरुद्ध कर्म करने पर पूर्णत: कल्पित दुखों से भरपूर किसी **नरक** आदि में डाले जाने का **डरावा** देकर, और उनके एक वा दूसरे मत के मान लेने पर उन्हें उस देवता से उनके पापों के दण्ड से **क्षमा** दिला देने और इससे भी बढ़कर उन्हें किसी

कहलाने वाले भोग विलास के सामानों से भरपूर **बैकुंठ वा स्वर्ग वा बहिश्त** आदि नामक स्थान में पंहुचा देने की अपने भीतर **शक्ति रखने वाला** प्रकट करके और **हजारों लोगों में अपने विषय में इस प्रकार पूर्णत: मिथ्या विश्वास उत्पन्न करके उन्हें अपना अन्ध विश्वासी वा अनुयायी बनाया है।**

प्र० ।क्या इसी बड़ाई सुख अनुराग से ही किसी मनुष्य में घमंड की उत्पत्ति होती है ?

उ० ।जी हां ।

प्र० ।वह किस प्रकार ?

उ० ।जब किसी मनुष्य में **अपने प्रति** इतना अनुराग वा प्रेम उत्पन्न हो जाता है, कि फिर इस अनुराग के कारण वह अपने शरीर, अपने शरीर के प्रत्येक अंग, अपने शरीर के बल, अपनी बुद्धि, अपनी समझ, अपनी बोली वा वाक्-शक्ति, अपनी विद्या, अपने मत और अपने विश्वास आदि को न केवल **सुन्दर और निर्दोष रूप में,** किन्तु उन्हें किसी और की अपेक्षा झूठ मूठ भी **बढ़ चढ़ कर** देखता वा विश्वास करता है, और किसी गुण के विचार से किसी और को अपनी अपेक्षा झूठमूठ भी **घटिया** जानता वा विश्वास करता है, तब उसका अपने सम्बन्ध में इस प्रकार का मिथ्या विश्वास **घमंड भाव** कहलाता है।

घमंडी लोग केवल यही नहीं कि अपने ही विषय में किसी सत्य को मिथ्या और किसी मिथ्या को सत्य देखते हैं, किन्तु नेचर के विविध जगतों में **जिन नाना प्रकार के श्रेष्ठ वा उच्च गुणों का विकास हुआ है, उनके सच्चे सौन्दर्य** और उनकी सच्ची महिमा के देखने के भी वह योग्य नहीं रहते; अर्थात, वह अपने इस घमंड भाव के कारण इस प्रकार के सौन्दर्य के देखने की योग्यता को - यदि ऐसी कोई योग्यता उनमें पहले से वर्तमान हो - धीरे-धीरे खोकर **अन्धे** बन जाते हैं। और वह अन्धे होकर केवल यही नहीं, कि नेचर में मनुष्य जगत के विकास क्रम में जिन जिन आत्माओं में **कई प्रकार के सुन्दर, सराहनीय, श्रेष्ठ वा उच्च गुणों का प्रकाश हुआ है,** उन्हें देखने के योग्य नहीं रहते, और इसीलिए उनकी सच्ची प्रशंसा वा स्तुति नहीं कर सकते, किन्तु उन उच्च गुणों के सौन्दर्य वा उनकी महिमा के देखने के योग्य बनने से किसी मनुष्य के आत्मा में जिस **सच्चे सात्विक श्रद्धा भाव** की जागृति होती है, उसे भी वह अपने आत्मा में विकसित नहीं कर सकते।

इसके भिन्न घमंडी जन नाना विषयों में **मिथ्या दृष्टा और मिथ्या विश्वासी होकर भी अपने**

आपको सदा ठीक ठाक विश्वास करते हैं, और जो जन किसी विषय में भी उनका सा कोई मत वा उनका सा कोई विश्वास न रखता हो, वह उसी को सदा भ्रांत वा भ्रष्ट वा विपथ-गामी (गुमराह) विश्वास करते वा समझते वा प्रकट करते हैं।

प्र० । क्या ऐसे घमंडी लोगों में से ही नाना बलशाली जनों ने किसी कहलाने वाले देवता वा उसके किसी मध्यवार्ती के सम्बन्ध में अपना जैसा विश्वास वा अपना जैसा मत न रखने पर और उनके प्रति अपने **हृदय में महा नीच और प्रबल घृणा भाव के उत्पन्न हो जाने पर** लाखों लोगों पर भान्त-भान्त के महा भयानक अत्याचार किये हैं, और उन्हें नाना प्रकार से सताया और इससे भी बढ़कर उनकी हत्याएं की हैं ?

उ० । जी हाँ । ऐसे ही लोगों ने धर्म वा मजहब के नाम से मनुष्य की मत वा विचार विषयक **जन्मजात सच्ची स्वाधीनता को नष्ट किया है,** और लोगों को भान्त भान्त से उत्पीड़ित करने के भिन्न लाखों जनों की हत्या तक करने का महा घोर पाप और महा अधर्म कार्य किया है।

प्र० । क्या घमंडी लोग अपनी अपेक्षा किसी विषय में किसी और जन को **श्रेष्ठ वा बढ़िया सुन कर कष्ट** बोध करते हैं ?

उ० । जी हाँ । वह जब किसी को किसी विषय में अपनी अपेक्षा बढ़िया **विश्वास नहीं करते,** तब उनके लिए किसी विषय में भी अपनी अपेक्षा किसी को **बढ़िया** सुनकर **कष्ट** बोध करना अनिवार्य है।

प्र० । परन्तु घमंडी लोग औरों की **झूठी अप्रशंसा करके** तो सुखी होते हैं ?

उ० । जी हाँ, बहुत। इसीलिये इस पृथ्वी के करोड़ों लोग औरों के सम्बन्ध में **झूठी बकवास करके बहुत खुश होते हैं,** और इसीलिये इस प्रकार की झूठी बकवास वा निंदा प्रत्येक देश के लोगों में बहुत फ़ैली हुई है।

प्र० । क्या इस बड़ाई सुख के अनुरागियों वा घमंडी जनों में अपने इस सुख के विरुद्ध किसी से कोई **सत्य बात सुनकर** उसके प्रति **नीच घृणा** की भी उत्पत्ति होती है ?

उ० । निस्सन्देह । नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार उनमें **नीच घृणा का अल्पाधिक गहराई में उत्पन्न होना अनिवार्य है।** और इस **नीच घृणा** के उत्पन्न होने पर उनके हृदय का उससे **फट जाना वा दूर हो जाना** और उससे परे परे रहना, वा उसका

मुंह न देखना, वा उससे कोई बातचीत न करना, वा उसके सम्बन्ध में दुश्चिंताएं करना वा कई प्रकार के मिथ्या कलंक लगाना और फैलाना वा उसकी कोई उचित सहायता न करना—चाहे वह उनका कैसा ही उपकारी भी क्यों न हो - और कई दशाओं में इस घृणा भाव के बहुत बढ़ जाने पर उसकी कोई और **बड़ी हानि** करना वा किसी और से **कराना** भी अनिवार्य है।

ऐसे ही जनों के आत्माओं में जब अपने से बड़ों और सन्मान के योग्य सम्बन्धियों वा अन्य माननीय जनों के सम्बन्ध में यह **घृणा भाव** भड़क उठता है, और उनके **हृदय** पर अधिकार लाभ करता है, तब उनके भीतर उनके सम्बन्ध में भी जिस जिस प्रकार के भाव और विचार उठते है, वह प्राय: इस प्रकार के होते वा हो सकते हैं :-

वह बड़े होंगे, तो अपने लिए बड़े होंगे, मैं उन्हें बड़ा नहीं मानता।

आप मुझे क्या सिखाते हैं, यह काम मैं आप से बहुत बेहतर कर सकता हूँ।

एक बार मेरी माँ ने मेरी एक **क्रिया को बुरा बताया,** मैंने झल्लाकर **उसके विरुद्ध** उसे कई ऐसी बातें कह सुनाई, कि जिससे वह आखिरकार **हार कर** चुप हो गई।

मेरे पिता जब कभी **मेरे खिलाफ** किसी विषय में मुझे कुछ कहते हैं, तब मैं भी **उनके खिलाफ** दो चार बातें सुनाकर **उनका मुंह बंद कर देता हूँ।**

मेरे बड़े भाई मुझ से **अपमानित होने के डर से** मेरे किसी मामले में मुझे कभी कुछ नहीं कहते।

एक बार मेरे पिता ने किसी और जन के सम्बन्ध में मेरे मत के विरुद्ध अपना मत प्रकाश किया; इससे मुझे बहुत **आघात** लगा, और मेरे भीतर उनके प्रति **इतनी घृणा** उत्पन्न हुई, कि मैंने उनसे बोलना और बातचीत करना छोड़ दिया। और अब तक मैं उनके साथ कोई बातचीत नहीं करता।

एक बार मेरी माँ ने मेरी किसी कामना को पूरा नहीं किया, इससे मुझे बहुत कष्ट पहुंचा। इस पर मैंने खाना न खाया, और इस तौर से मैंने भी उसे बहुत कष्ट दिया।

मैं अपने ऐसे पिता का भी मुंह देखना नहीं चाहता, कि जो मेरी किसी क्रिया को बुरा कहते वा प्रकट करते हों।

मैं जब अपने **पिता** वा बड़े भाई के कुछ रुपये वा पैसे चुरा लेता हूँ, तब उनके बार बार

पूछने पर भी मैं उनका चुरा लेना **स्वीकार नहीं करता -** यहाँ तक कि जब वह मुझे मारना पीटना भी आरम्भ करते हैं, तब मैं बड़ी बड़ी कष्टदायक चोटें खाकर भी अपनी इस **चोरी** को कबूल नहीं करता।

मैं जब किसी रास्ते पर से जाता हूँ, तब चाहे कोई बूढ़ा, निर्बल, रोगी, स्त्री वा कोई सन्मान के योग्य जन भी मेरे सामने से आ रहा हो, फिर भी मैं उसके लिए अपनी ओर से रास्ता छोड़ना पसन्द नहीं करता।

मैंने अमुक समाज से इसलिए अपना सम्बन्ध काट लिया, कि मैं जब उसकी कार्य-वाहक और प्रतिनिधि सभा का मेम्बर था, तब उन्हीं दिनों उन दोनो के जो जो और जन मेम्बर थे, वह सब **मेरे मत** की पोषकता नहीं करते थे, किन्तु नाना अवसरों में **मेरे मत के विरुद्ध अपना मत प्रकाश करते थे।**

मुझे जब किसी रास्ते पर जाते हुए अपना कोई **पुराना शिक्षक** वा उस्ताद वा कोई और परिचित परन्तु **सन्मान के योग्य जन भी** मिल जाता है, तब मैं **अपनी ओर से प्रणाम वा सलाम नहीं करता, और उसे अपनी ओर से कोई सन्मान नहीं देता।**

मैं यद्यपि कई काम ऐसे कर बैठता हूँ, कि जिन से **मैं बहुत हानियाँ भी उठाता हूँ,** और यदि मैं **अपने से किसी निपुण जन** से उनके विषय में **परामर्श** ले लूं, तो ऐसी हानियां न उठाऊं तथापि ऐसा करने में मैं **अपनी हेठी** समझ कर किसी ऐसे जन से **कोई परामर्श नहीं लेता।**

मैं देवात्मा को अपना उपास्य मानने में अपनी **हेठी** समझता हूँ, इसलिए **मैं उन्हें देवात्मा ही स्वीकार नहीं करता।**

सत्य यह है, कि जिस देश के निवासियों में परस्पर के सम्बन्ध में **घमंड और घृणा भाव** की जितनी **अधिकता** होती है, वह एक दूसरे से उतना ही अधिक **अनमेल** और एक दूसरे से अधिक विरोध रखते हैं, और वह परस्पर के सम्बन्ध में नाना प्रकार के **पूर्णत: मिथ्या भेद उत्पन्न करके** एक दूसरे से फटते रहते हैं। इसीलिए ऐसी दशा रखकर वह कोई समृद्धिशाली "**नेशन**" नहीं बनते, और नहीं बन सकते; और न कोई "नेशनल बल**"** लाभ करते वा कर सकते हैं।

घमंड और घृणा भाव मनुष्य के **महा पतनकारी और महा नीच भाव हैं** ।

(4) स्वार्थ सुख अनुराग ।

प्र० । स्वार्थ सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । स्वार्थ का अर्थ है, “अपने लिए” अर्थात **जो मनुष्य केवल अपने किसी सुख को मुख्य रख कर अपनी कोई मानसिक चिंता वा शारीरिक क्रिया करता है, वा उसके निमित धनादि विषयक अपनी किसी अन्य शक्ति को काम में लाता है; उसे स्वार्थ सुख अनुरागी वा स्वार्थ परायण और उसके इस अनुराग को स्वार्थ सुख अनुराग कहते हैं।**

प्र० । क्या जो जन विवाह करके अपनी पत्नी वा उसके भिन्न अपने बच्चों के सुख के लिए एक वा दूसरा काम करते हैं, और अपना धनादि खर्च करते हैं, वह भी स्वार्थ सुख अनुरागी होते हैं ?

उ० । जी हां। यदि वह अपनी अपनी पत्नी से काम मूलक सुख लाभ करते हैं वा उसके भिन्न कई प्रकार के और **सुख** पाते हैं; यदि वह अपनी संतान के साथ वात्सल्य अनुराग से बंधकर उसका **सुख** पाते हैं, यदि उनकी पत्नियां भी उन से इसी प्रकार के कोई **सुख** पाती हैं, और उनके बच्चे उन दोनों से कई प्रकार के **सुख** पाते हैं, और वह सब आपस में इसी **सुख** सूत्र से बंधे हुए हैं, तो वह सभी **अपने अपने सुख के लिए** एक दूसरे से सम्बन्ध रखते और एक दूसरे के सम्बन्ध में विविध प्रकार के काम करते हैं।

परन्तु जहाँ किसी स्वार्थ सुख अनुरागी मनुष्य को किसी और मनुष्य वा पशु वा वृक्षादी की सेवा से **कोई सुख न मिलता हो,** वा उसे उनसे किसी प्रकार के सुख मिलने की कभी भी आशा न हो, तब वह किसी और के किसी सुख के लिए अपने आप कोई क्रिया करना नहीं चाहता और नहीं करता।

इसीलिए जिन लोगों को किसी और के भले के लिए किसी शारीरिक परिश्रम वा मानसिक विचार वा विद्या वा धनादि के दान से **कोई सुख बोध न होता हो,** वह उसके लिए इस प्रकार की कोई क्रिया नहीं कर सकते। और इसीलिए वह किसी **परोपकार** विषयक काम के लिए अपनी ओर से किसी प्रकार का कोई **समर्पण वा त्याग भी नहीं** कर सकते, और नहीं करना चाहते। ऐसे लोग पूर्ण स्वार्थ सुख अनुरागी होते हैं।

प्र० । पूर्ण स्वार्थ सुख अनुरागी मनुष्यों के साधारण लक्षण क्या हैं ?

उ० । पूर्ण स्वार्थ सुख अनुरागी मनुष्य अपनी किसी शारीरिक वा मानसिक शक्ति वा अपनी विद्या वा अपने धन वा अपनी सम्पत्ति आदि को अपने कुछ ऐसे जनों आदि के भिन्न, कि जिन से उन्हें **कोई न कोई सुख मिलता हो,** वा जिन से कभी किसी सुख के मिलने की आशा हो, नेचर के और अस्तित्वों के **भले के लिए** काम में नहीं ला सकते, और नहीं लाते। इसीलिये,

पूर्ण स्वार्थ सुख अनुरागी मनुष्य अपने धन वा अपनी सम्पति को **परोपकार** विषयक किसी काम के लिए **दान नहीं करते।**

वह अपनी किसी विद्या वा अपने किसी हुनर को **परोपकार** विषयक किसी काम के लिए अर्पण नहीं करते।

वह किसी और से एक वा दूसरे प्रकार का **शारीरिक उपकार** पाकर भी **उसके** लिए आप सेवाकारी बनना नहीं चाहते, और इसीलिये **उसकी** कोई सेवा नहीं करते।

वह किसी **सच्चे आत्मिक हितकर्ता** से अपने लिए कोई **आत्मिक हित** पाकर भी उसके लिए किसी प्रकार से **सेवाकारी** बनना नहीं चाहते, और इसलिए नहीं बनते।

वह **पशु जगत** के नाना जीवों से अपने शरीर के लिए विविध प्रकार के **उपकार** पाकर उस जगत के भले के लिए **अपनी ओर से कुछ करना नहीं चाहते, और इसलिए नहीं करते।**

वह **उद्भिद्द जगत** के नाना अस्तित्वों से अपने शरीर के लिए विविध प्रकार के **उपकार** पाकर **उसके लिए** किसी प्रकार से **सेवाकारी** बनना नहीं चाहते, और इसलिए उस जगत के सम्बन्ध में सेवाकारी नहीं बनते।

वह पृथ्वी, जल, वायु आदि **भौतिक जगत** के नाना अस्तित्वों के द्वारा अपने लिए **रात दिन** विविध प्रकार के **उपकार** पाकर उस जगत के किसी भले के लिए **आप सेवाकारी बनना नहीं चाहते और इसलिए नहीं बनते।**

पूर्ण स्वार्थ-सुख-अनुरागी-मनुष्य जिस प्रकार के मंत्र का जप और रात दिन साधन करते हैं, वह यह है :-

“मैं जहाँ तक सम्भव हो, **अपने लिए** किसी **और से** कोई न कोई **सुख** प्राप्त कर लूं, परन्तु मैं किसी **और के सुख वा भले के लिए** कभी काम न आऊं - यहाँ तक कि मैं किसी से

दाम लेकर भी उनके बदले में उसका पूरा पूरा वा ठीक ठीक काम न करूं।"

पूर्ण स्वार्थ सुख अनुरागी मनुष्य **नेचर के किसी विभाग के विकास कार्य का सहकारी वा सहचर बनना नहीं चाहता,** किन्तु इसके **विरुद्ध** वह अपने **स्वार्थ सुख अनुराग** से परिचालित होकर यथावश्यक **नेचर के प्रत्येक विभाग के विविध अस्तित्वों की नाना प्रकार से हानि करने के लिए सदा तैयार रहता है,** और अवसर होने पर उन की विविध प्रकार से हानि वा उनका **विविध प्रकार से अहित वा बुरा करके सुखी होता है।**

स्वार्थ सुख अनुरागी प्रत्येक मनुष्य की यह **स्वार्थ-परता** विषयक प्रकृति अधम वा **राक्षसी प्रकृति** होती है।

जिस देश के लोगों में यह **स्वार्थ-सुख-मूलक अधम वा राक्षसी प्रकृति** जितनी अधिक होती है, वह देश उतना ही अधिक **पतित दशा में** होता है।

प्र० । क्या स्वार्थ सुख अनुराग से स्वेच्छाचार की भी उत्पत्ति होती है ?

उ० । जी हां। **अपनी ही** किसी सुखदायक वासना वा कामना की तृप्ति चाहना, और अपने सम्बन्ध में किसी और की किसी **उचित और शुभ इच्छा** को भी अपने **किसी सुख के विरुद्ध पाकर** उसे पूरा करना न चाहना और उससे पीछा छुड़ाने का यत्न करना **स्वेच्छाचारिता** कहलाती है।

स्वेच्छाचारी मनुष्य एक ऐसे घोड़े की न्याईं होता है, कि जो अपने सेवाकारी मालिक को भी अपनी पीठ पर चढ़ाना वा उसके लिए किसी गाड़ी में जुतना न चाहता हो, और यदि वह उसकी पीठ पर चढ़ने वा उसे किसी गाड़ी में जोतने की कोशिश करे, तो वह इससे **कुपित हो**कर उसे अपने मुह से काटने वा लात मारने वा किसी और विधि से हानि पहुचाने के लिए तैयार हो जाता है।

यह महा नीच अनुराग लाखों मनुष्यों में पाया जाता है। इस भाव से परिपूर्ण मनुष्य का **एक एक छोटा बच्चा तक** उसके लक्षण प्रकाश करता है। वह अपनी माता वा अपने पिता की किसी उचित और **ऐसी भली बात** के मानने वा उसके अनुसार चलने से भी घबराता और कष्ट मालूम करता है, कि जो उसके **अपने किसी सुख अनुराग के विरुद्ध हो,** और यदि उनमें से किसी के लिए उसके भीतर इतना अधिक **भय** न हो, कि जिससे उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलने में जो सुख मिलता है, उस सुख की तुलना में उनसे

किसी बड़े कष्ट पाने की संभावना दिखाई देती हो, और जिसके ग्रहण करने के लिए उसका दिल तैयार न हो, तो वह उनके किसी ऐसे आदेश को नहीं मानता। और यदि उस की इस गति में उसके माता पिता कोई रोक उत्पन्न करने के लिए अपने भीतर कोई बल वा साहस न रखते हों, तो वह अपनी ऐसी गति के द्वारा दिनों दिन **स्वेच्छाचारी** बनता चला जाता है। और फिर वह अपने परिवार वा अपनी सोसाईटी के किसी ऐसे आवश्यक और हितकर नियम वा अपने किसी विहित शासनकर्ता की किसी ऐसी उचित आज्ञा के पालन करने के योग्य नहीं रहता, कि जो उसके किसी सुखदायक भाव के विरुद्ध हो।

प्र० । क्या स्वेच्छाचारी लोग अपने किसी ऐसे उचित लाभ के निमित भी कि जिसे वह सभी उचित और आवश्यक मानते हों, आपस में मिल कर कोई **बड़ा जत्था** नहीं बना सकते ?

उ० । नहीं । कोई संगठन–प्राप्त जत्था न तो बाध्यता के नियम को छोड़कर बन सकता है, और न उसके बिना उसका कोई लक्ष्य ही भली भान्त पूरा हो सकता है; और न किसी संगठित जत्थे के बिना कोई **सम्मिलित शक्ति** उत्पन्न हो सकती है। इसीलिए जिस देश के रहने वाले परस्पर के प्रति नीच घृणा भाव के कारण अपने   किसी साधारण भले के लिए भी आपस में जुड़ नहीं सकते, वह **कोई बड़ा जत्था वा दल नहीं बन सकते,** और उनकी अपेक्षा **बहुत निर्बल दशा** में होते हैं, कि जो परस्पर के प्रति **इतनी घृणा नहीं रखते;** और किसी सम्मिलित लाभ की प्राप्ति के लिए आपस में मिलकर जिस **बाध्यता** के नियमानुसार चलने की आवश्यकता है, उस नियम के पालन करने की योग्यता रखते हैं, और इसीलिए इस योग्यता के कारण **बड़े बड़े जत्थे वा दल संगठित** कर सकते हैं।

प्र० । क्या स्वेछाचार के साथ दुराग्रह का भी सम्बन्ध है ?

उ० । जी हां । जब कोई मनुष्य **अपने किसी सुख का इतना अधिक दास** बन जाता है, कि उसे वह **किसी तरह छोड़ना नहीं चाहता,** और जिस किसी जन से उसकी प्राप्ति होती वा हो सकती हो, **उससे उसकी प्राप्ति के लिए अनुचित रूप से आग्रह वा हठ वा ज़िद करता है,** तब उसकी ऐसी क्रिया **दुराग्रह** कहलाती है।

मनुष्य जगत के लाखों बच्चे बाल्यकाल से ही जैसे **स्वेच्छाचारी** बनते हैं, वैसे ही जब वह अपनी किसी सुखप्रद कामना वा इच्छा को अपने माता-पिता आदि से पूर्ण कराने के

निमित अड़ बैठते हैं, अर्थात उसके लिए हठ वा ज़िद करते हैं, तब उन की ऐसी प्रत्येक क्रिया दुराग्रह कहलाती है।

प्र० । क्या कोई जवान और बूढ़े मनुष्य भी दुराग्रह करते हैं ?

उ० । जी हां । ऐसे लोग भी जब अपने किसी सम्बन्धी वा अन्य जनों के सम्बन्ध में अपनी किसी **अनुचित इच्छा वा कामना** की पूर्ति के लिए **आग्रह** करते हैं, तब वह भी दुराग्रही बन जाते हैं।

प्र० । क्या दुराग्रह के विपरीत कोई सदाग्रह भी होता है ?

उ० । जी हां । जब कोई मनुष्य अपने आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में किसी मिथ्या विश्वास वा मत वा किसी पतनकारी वा हानिकारक क्रिया का **सच्चा बोधी हो जाने पर** फिर किसी के दबाव वा डर से कभी भी उस विश्वास वा मत को मानना वा उस क्रिया को करना नहीं चाहता; और अपने आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में किसी भली वा हितकर क्रिया का **सच्चा बोधी हो जाने पर** उसे अवश्य पूरा करना चाहता है, और ऐसा करने में उसके विरुद्ध अपने माता पिता, भाई-बहन, चाचा ताया, नाना नानी, मामा मामी, बुआ आदि किसी सम्बन्धी वा अपने किसी अन्य जन वा किसी जनसमूह की कोई बात सुनना वा मानना नहीं चाहता, और उनकी ओर से **किसी लालच वा भय की कुछ परवाह नहीं करता,** और अपने इस **सच्चे बोध** पर आरूढ़ रहता है, और उस पर आरूढ़ रहने के लिए **आग्रह** करता है, तब उसका यह कार्य **सदाग्रह** कहलाता है।

जिस देश में दुराग्रही जनों की जितनी कमी हो, और सदाग्रही जनों की जितनी वृद्धि हो, वह देश ऐसे देशों की अपेक्षा, जिनमें इसके विपरीत दशा पाई जाती हो, अधिक श्रेष्ठ होता है।

प्र० । क्या जो लोग किसी के द्वारा अपनी किसी आकांक्षा वा कामना के पूरा न होने पर, जब अपने हृदय में आघात वा कष्ट पाकर, उसके प्रति **घृणा भाव** धारण करते हैं, और अपने इस घृणा भाव के कारण उसे **कोई उचित सन्मान तक भी देना नहीं चाहते वा नहीं देते;** और अपनी इस क्रिया को यह कहकर कि ऐसा करना उनके **"आत्मसन्मान"** के विरुद्ध है, उचित और आवश्यक समझते वा बताते है, तब उनका ऐसा समझना वा बताना ठीक हो सकता है ?

उ० । कदापि नहीं। किसी ऐसी **नीच घृणा** के साथ सच्चे आत्मसन्मान (Self Respect) का कोई सम्बन्ध नहीं।

अपने परिवार, अपनी समाज, अपने सम्प्रदाय और अपने देश के राज्य शासन आदि के सम्बन्ध में जिस किसी मनुष्य का जो कोई पद वा स्थान हो, उस पद की सच्ची मर्यादा (Dignity) के विरुद्ध किसी प्रकार की **अनुचित क्रिया** का करना तो अवश्य **आत्म-सन्मान** के विरुद्ध होता है; परन्तु जो जन किसी कारण से तुम्हारे किसी मत को नहीं मानता, वा तुम जिस विषय में अपने ख़याल में अपने आपको योग्य समझते हो, उस विषय में वह तुम्हे योग्य नहीं समझता, उसके ऐसे मत को अपने मत के अनुकूल न पाने पर, उसके प्रति उस की मर्यादा के अनुसार सन्मान न देने और इससे भी बढ़कर **अपमान** करने की ठान लेने का नाम कभी भी **आत्म-सन्मान नहीं हो सकता।** किसी को **अपने मत के अनुकूल न पाकर उसके प्रति जो जन घृणा अनुभव वा धारण करते हैं,** और इस घृणा भाव से भरकर उसे **उचित सन्मान न देने** वा इससे भी बढ़कर उसका **अपमान करने के लिए** किसी एक वा दूसरी विधि को अवलम्बन करते हैं, उनके ऐसे कर्म का केवल यही नहीं कि सच्चे आत्म-सन्मान से कोई सम्बन्ध नहीं, और उन का ऐसा कर्म किसी भी सच्चे आत्म-सन्मान का सूचक नहीं, किन्तु उनका ऐसा कर्म **सुनीति और न्याय के विरुद्ध अर्थात पूर्णत: अन्याय मूलक होता है।** और इसीलिए वह कभी भी ठीक नहीं।

प्र० । क्या स्वेच्छाचारी जन भी स्वेच्छाचार विषयक सुख के विपरीत किसी की ओर से कोई **बाधा** वा **रोक पाने पर** उसके प्रति अपने **हृदय में घृणा अनुभव** करते है ?

उ० । जी हां । वह अपने इस सुख में किसी से **उचित वा विधेय रोक टोक के मिलने पर भी** उसके प्रति **घृणा भाव** से भर जाते हैं; और उसके सम्बन्ध में **उल्टा दृष्टा** होकर उसे उलटे रूप में देखते और प्रकट करते हैं। और यदि उन में यह **घृणा भाव** बहुत प्रबल रूप में उत्पन्न हो गया हो, तो वह इससे भी बढ़कर आप उसकी कोई और **हानि** करने वा किसी और से कराने के लिये भी तैयार हो जाते हैं।

****

चौदहवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा की गठन में सन्तान सम्बन्धी सुख अनुराग ।

पशु जगत के दूध पिलाने वाले जीवों के विकास के क्रम में मनुष्य की उत्पत्ति हुई है, इसीलिए उसी जगत के जीवों से उसमें **संतान विषयक अनुराग भाव भी आया है।** परन्तु पशु जगत के लाखों जीवों में जो सन्तान सुख अनुराग पाया जाता है, उसमें वह नीचताएं नहीं, कि जो मनुष्यात्माओं के भीतर अपनी सन्तान के सम्बन्ध में इस सुख-अनुराग के कारण धीरे धीरे पैदा हो गयी हैं; और जो उनके और उनकी सन्तान के आत्मिक जीवन के लिए विशेष रूप से हानिकारक हैं।

लाखों मनुष्य अपने इस संतान सुख अनुराग के कारण उसे **प्रसन्न** करने और उससे आप भी **प्रसन्न** होने के निमित उसे उसके **चाहने वा दुराग्रह करने पर** खाने पीने की ऐसी नाना वस्तुएं देते हैं, कि जो **उसके शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं।** और केवल खाने पीने की ही अनुचित वस्तुएँ नहीं, किन्तु उसकी और नाना प्रकार की **ऐसी रुचियों वा कामनाओं** को भी पूरा करते हैं, कि जो दोनों के लिए हानिकारक होती हैं; और जिस प्रकार की हानियां पशु जगत के जीव अपने बच्चों की पालना में नहीं करते।

प्र० । क्या मनुष्य जगत के लाखों बच्चे अपने अनुरागी माता पिता से ही कई प्रकार के **पूर्णत: मिथ्या और महा हानिकारक संस्कार वा विश्वास** और कई प्रकार के **महा हानिकारक अभ्यास** भी लाभ करते हैं ?

उ० । जी हां। पशु जगत की सन्तान इस प्रकार की हानियों से पूर्णत: सुरक्षित होती हैं।

प्र० । क्या लाखों सन्तान अनुरागी मनुष्य अपनी अपनी सन्तान में कई प्रकार के **महा हानिकारक सुख अनुरागों और घृणा भावों की उत्पत्ति और वृद्धि में** भी सहायक बनते हैं ?

उ० । जी हां । ऐसे ही लाखों लोग अपनी सन्तान में कई प्रकार के नशों—यथा, तम्बाकू, भंग, शराब, अफीम आदि- के सेवन, मांस और अंडों आदि के भक्षण और चाय और

काफी आदि के पान के प्रति महा हानिकारक **सुख अनुराग** उत्पन्न कर देते हैं; और किसी इस वा उस सम्प्रदाय वा मत वा जाति वा श्रेणी वा वर्ण वा रंग वा इस वा उस प्रकार के व्यवसायी जनों को **अपनी अपेक्षा झूठ-मुठ हीन वा घटिया** बताकर उनमें उनके प्रति विविध **मिथ्या विश्वासों और नीच घृणा भावों** की उत्पत्ति वा वृद्धि करते हैं, और अपने ऐसे कर्मों से उनकी और अपनी कई प्रकार से बहुत बड़ी हानि करते हैं।

प्र० । क्या लाखों सन्तान अनुरागी जन अपनी संतान को धीरे धीरे अपनी शिक्षा और अपने दृष्टान्तों के द्वारा कपटी, ठग, वा प्रवंचक आदि नीच कर्मी भी नहीं बना देते हैं ?

उ० । जी हां, निश्चय बना देते हैं ।

प्र० । क्या लाखों जन अपने इसी सन्तान सुख अनुराग के कारण उसके **पक्षपाती** बनकर **उस के किसी अपराध वा अवगुण के छिपाने के निमित** जान बुझकर भी नाना अवसरों पर **मिथ्या** नहीं बोलते ?

उ० । जी हां; अवश्य बोलते हैं; क्यों कि इस अनुराग के कारण उनके लिए इस प्रकार से **मिथ्या का साथ देना अनिवार्य है।**

प्र० । क्या लाखों जन अपने इसी सन्तान अनुराग के कारण अपनी सन्तान के **पक्षपाती** बन जाने पर जब किसी और के सम्बन्ध में उसकी (अपनी सन्तान की) किसी बुरी वा अनुचित वा अपराध-मूलक क्रिया के विषय में **कोई शिकायत** सुनते है, तब जहाँ तक सम्भव हो, **झूठ** आदि के द्वारा उस पर पर्दा डालने और उसे निर्दोष प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं ?

उ० । जी हां; अवश्य ऐसा करते हैं। और इसके भिन्न शिकायत करने वाले के प्रति उल्टा अपने हृदय में **घृणा** भी अनुभव करते हैं, और अपनी इस **नीच घृणा** के कारण उससे फट जाते और उसके सम्बन्ध में असद-भाव पोषण करते हैं।

प्र० । क्या लाखों जन इस सन्तान सुख अनुराग जनित **पक्षपात** और अपनी सन्तान में से किसी के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत **कम** और किसी के प्रति **अधिक** अनुराग के कारण उनके परस्पर के किसी झगड़े के अवसर पर अपनी अधिक प्यारी सन्तान का अधिक साथ देकर दूसरी कम प्यारी सन्तान पर **अन्याय वा अत्याचार** नहीं करते ?

उ० । निश्चय करते हैं। इस नीच अनुराग को रखकर उनके लिए इस प्रकार का **पाप**

करना अनिवार्य है।

फिर इस प्रकार की भयानक बुराइयों के भिन्न **सन्तान अनुरागी लोग** यह जानकार और अपनी आखों से देखकर भी, कि उनका एक वा दूसरा बेटा **युवा** होकर अपने शरीर की आप पालना करने के योग्य बन चुका है और विवाह करने वा विवाहित होने की दशा में अपने भिन्न अपनी पत्नी वा अपनी सन्तान की भी **आप पालना करने के योग्य** है, और अब वह बाल्य-काल की **असहाय** अवस्था से निकल कर अपना **स्वतंत्र जीवन** व्यतीत कर सकता है, फिर भी वह अपने उस सारे धन वा अपनी उस सारी सम्पति को जिसे वह अपने और देश के अन्य जनों के एक वा दूसरे प्रकार के शुभ वा भले के लिए **दान** करके उनका और अपने अपने आत्माओं का भला कर सकते हैं, उसे किसी **परोपकारी संस्था** वा किसी **परोपकार विषयक उद्देश्य** के निमित दान नहीं करते, और अपने इस महा नीच अनुराग के कारण नेचर के **विकास** विषयक शुभ नियम को **भंग** करके और उससे **विमुख** बनके उसे अपनी उसी सन्तान के चरणों में **अर्पण** करके अपने इस **नीच सुख** की तृप्ति चाहते हैं, और इस प्रकार से **असत्य और अशुभ के साथी बनकर क्या अपना और क्या अपनी सन्तान का आत्मिक अहित करते हैं, और उनकी यह आत्म-सन्मान से रहित और पूर्ण स्वार्थ- परायण कुपात्र सन्तान भी अपने लिए उसके ग्रहण करने में कोई संकोच अनुभव नहीं करती; वह धन सम्पति की लालसी होकर अपने पिता माता की ऐसी सब सम्पति को भी आप ले लेना चाहती है, कि जिस को उसके माता पिता दान करके अपना और जन समाज का भला कर सकते थे।**

फिर कितने ही सन्तान अनुरागी जन इस अनुराग के कारण अपनी अपनी सन्तान के सम्बन्ध में यहां तक **अंधे** हो जाते हैं, कि जब उनकी कोई संतान उनकी आखों के सामने उनकी सम्पति को अपने नाना प्रकार के बुरे कर्मों के द्वारा बर्बाद करती है, और ऐसे पाप कर्मों के द्वारा उनकी सम्पति के भिन्न अपनी और औरों की विविध प्रकार से हानि करती है, तब भी उन्हें अपने धन वा अपनी सम्पत्ति को किसी ऐसी बुराई में खर्च होते देखकर और यह जानकर की उनके मरने के बाद उनकी यह सम्पति उनकी उस संतान को दिनोंदिन और भी अधिक बुरा वा नीच बनाने और पाप कर्मों के फैलाने में सहायक बनेगी, और वह भी अपने धन वा अपनी उस सम्पति को उसे देकर उन पाप कर्मों और

उनके महा भयानक फलों के उत्पन्न करने में सहायक वा भाग लेने वाले बनेंगे, तो भी वह अपनी संतान प्रेम की अन्धता के कारण अपना सब धन और अपनी सब सम्पति अपनी उसी संतान को दे जाना चाहते हैं; और क्या अपने जीते जी और क्या अपनी किसी वसीयत के द्वारा अपने मर जाने पर उसे किसी परोपकार विषयक कार्य के लिए दान करना, और दान करके उसके द्वारा अपना आत्मिक हित करना और अपनी किसी हितकर समाज वा अपने स्वदेशी वा विदेशी जनों के लिए सेवाकारी बनना नहीं चाहते; किन्तु उसे अपनी उसी पापी और दुराचारी संतान के ही चरणों में अर्पण करना चाहते हैं। ओह ! ऐसे लाखों संतान अनुरागी जनों की यह कैसी महा शोचनीय दशा !

फिर संतान-अनुरागी जन यह सत्य देखकर भी कि जिस **धन वा सम्पति** को उन्होंने **अपने परिश्रम** से उपार्जन किया है, उसे यदि वह अपनी किसी संतान को अर्पण करें, कि जो उस धन वा सम्पति को किसी भी **परोपकार के काम के लिए कदापि अर्पण वा दान न करेगी, और किसी ऐसे दान से नेचर के जिस जिस जगत के जिन जिन अस्तित्वों का जो जो कुछ भला हो सकता है, वह भला भी कदापि न होगा, तो भी वह अपने संतान सम्बन्धी नीच-अनुराग के दास होने के कारण ऐसे भले वा पुण्य कार्य के साथी बनना नहीं चाहते, किन्तु उलटा उससे विमुख बनते हैं,** और किसी ऐसे वेश्या-अनुरागी जन की तरह कि जो न केवल अपना धन, किन्तु कई दशाओं में अपनी पत्नी का भी धन वा जेवर छीनकर अपनी उस वेश्या के चरणों में भेंट रख देना चाहता है, और उसे किसी **सच्चे परोपकार विषयक कार्य के लिए दान देना और किसी का हित साधन करना नहीं चाहता, और अपने ऐसे आचरण से मानो औरों के हित को ही घृणा करता है; सन्तान अनुरागी जन भी अपने और औरों के सच्चे हित और नेचर के विकास विषयक शुभ नियम से विमुख होकर अपने धन वा अपनी अन्य सम्पति को अपनी संतान के चरणों में भेंट रखकर ही तृप्ति पाते हैं।** ओह ! मनुष्यात्माओं की यह कैसी महा शोचनीय और पतनकारी दशा !! इसके भिन्न सन्तान अनुरागी जन अपने इस नीच अनुराग के **दास** होने के कारण अपनी सन्तान की ऐसी कई बातों को **उसके आग्रह करने पर मान लेने के लिए तैयार हो जाते हैं, कि** जिनको वह आप भी **बुरी वा पाप-मूलक जानते हैं,** और उसकी एक वा दूसरे प्रकार की **किसी बुरी वा पाप क्रिया** के सम्बन्ध में इस डर से कोई

रोक टोक नहीं करते, कि वह कहीं उनसे **अपना सम्बन्ध न काट ले;** और इस प्रकार से वह **क्या उसका और क्या अपना कई प्रकार का अशुभ करते हैं।**

फिर कितने ही ऐसे जन यह जानकर भी कि वह अपनी जिस सन्तान के अनुरक्त हैं, वह सन्तान उसके प्रति कोई अनुराग वा कृतज्ञ भाव नहीं रखती, और अन्य समयों को छोड़कर वह उनकी किसी विशेष बीमारी वा विशेष विपद आदि के समय में भी उनकी कोई सेवा शुश्रूषा वा सहायता नहीं करती, और इससे भी बढ़कर उन्हें अपनी कई प्रकार की बुरी क्रियाओं से **सताती और आघात पहुँचाती रहती है,** और उनमें से कोई कोई **उनकी धन सम्पत्ति पर शीघ्र अधिकार पाने के निमित्त उनके शीघ्र मर जाने तक की भी आकांक्षाएं करती है,** अथवा उनकी शत्रु, बनकर उनके प्रति कई प्रकार से अपनी **शत्रुता** का आचरण प्रदर्शन करती है, फिर भी अपने **सन्तान विषयक नीच अनुराग के कारण** केवल यही नहीं, कि वह **यह सब कुछ अशुभ होने देते हैं;** किन्तु उससे अपना इस प्रकार का **यह अहित उत्पादक और दोनों के लिए महा हानिकारक सम्बन्ध काट तक नहीं सकते।** और इससे भी बढ़कर उनकी सन्तान अपने **जिन जिन बुरे कर्मों के द्वारा** अपना एक वा दूसरा नीच सुख ढूंढती है, उसकी उन्हीं बुरे कर्मों की तृप्ति में **सहायक बनने के लिए,** अपने धन और अपनी सम्पति को उसी को दे देना चाहते हैं, और इस प्रकार से वह **अधर्म के साथी और सहायक बनते हैं ।**

****

पन्द्रहवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा की गठन में धन सम्पत्ति सुख अनुराग ।

प्र० । आत्मा में धन सम्पति सुख अनुराग से क्या अभिप्राय है ?

उ० । जब किसी मनुष्य में धन वा किसी भी पदार्थ के प्रति अनुराग की उत्पत्ति हो जाती है, तब उसके इस अनुराग को धन सम्पत्ति सुख अनुराग कहते हैं।

छोटी उमर से ही जब मनुष्य के किसी बच्चे को यह ज्ञान हो जाता है, कि वह जिस जिस **स्वाददार** वस्तु के खाने का अनुराग रखता है, वह वस्तु **पैसों** के द्वारा मोल ली जा सकती है, तब वह ऐसी दशा में पहुंचकर अपनी छोटी वयस से ही **धन की आवश्यकता और उसके प्रति लालसा वा लालच का भाव अनुभव करने लगता है।** और तब से ही साधारणत: उसकी यह **धन लालसा** बढ़नी आरम्भ हो जाती है, और फिर धीरे धीरे वह उसका अनुरागी बन जाता है। फिर वयस के बढ़ने के साथ साथ उसे अपने नाना और सुखों की प्राप्ति के निमित्त भी उसकी और अधिक **आवश्यकता बोध होती है;** और धन के भिन्न विविध प्रकार की अन्य सम्पति के लाभ करने के लिए भी उसकी लालसा बढ़ जाती है; और **वह अपनी इस लालसा की उन्नति के साथ साथ धन और विविध प्रकार की अन्य सम्पति का अनुरागी बन जाता है।**

प्र० । इस धन सम्पति विषयक नीच अनुराग से क्या क्या **बुराइयाँ** पैदा होती हैं ?

उ० । धन सम्पति विषयक नीच अनुराग के पैदा हो जाने से जो बहुत **बड़ी बुराई उत्पन्न होती है;** वह यह कि धन और सम्पति का उपार्जन करना लाखों जनों का **परम लक्ष्य** बन जाता है; और वह **सारी उमर** उन्हीं के उपार्जन करने में लगे रहते हैं, और जब तक उनका शरीर मर न जाए, वा वह किसी ऐसे रोग में ग्रस्त न हो जाएँ, कि जिसके कारण उनके लिए उसका कमाना **असम्भव** हो जाए, तब तक वह इस नीच अनुराग के दास होकर उन्हीं की प्राप्ति के लिए **अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ खर्च करते रहते हैं।** फिर धीरे धीरे इस महा नीच अनुराग के **दास** बनकर लाखों जन अपने आत्मा को इतना कठोर बना लेते हैं कि वह इस दशा में इस सत्य के देखने वा उपलब्ध करने के भी

योग्य नहीं रहते, कि धन सम्पति मनुष्य की एक वा दूसरी शारीरिक वा आत्मिक आवश्यकता के पूर्ण करने का **केवल उपाय वा ज़रिया है,** न कि वह उसके जीवन का **लक्ष्य है।** इसलिए वह अपने इस **आत्मिक अन्धकार में किसी लक्ष्य और लक्ष्य की सिद्धि के निमित किसी उपाय में जो मूलतः बहुत बड़ा अंतर है, उस** अंतर विषयक **सत्य के देखने के ही पूर्णत: अयोग्य हो जाते हैं।** और केवल यही नहीं, किन्तु इसके विपरीत वह **मिथ्या-दृष्टा** भी बन जाते हैं; अर्थात वह **लक्ष्य को उपाय के रूप में** और **उपाय को लक्ष्य के रूप में देखते हैं,** और इस प्रकार से **मिथ्ता दृष्टा** बनकर **मिथ्या के साथी और सहायक बन जाते हैं।**

प्र० । इस नीच अनुराग से और क्या क्या बुराई उत्पन्न होती है ?

उ० । इस नीच अनुराग से **नाना प्रकार के अपहरण वा पाप कर्मो** की उत्पति होती है। अर्थात इस नीच अनुराग के **दास** होकर,

(1) लाखों पुरुष और स्त्रियाँ दूसरों के धन, जेवरों, कपड़ों, बर्तनों, पशुओं, फलों और अन्य नाना पदार्थों की **चोरी** करते हैं।

(2) सैंकड़ों लोग एक वा दूसरे प्रकार के **जाली कागज़** और नाना दस्तावेज और कितने ही लोग एक वा दूसरे प्रकार के जाली सिक्के वा नोट बनाते हैं।

(3) कितने ही चिकित्सा व्यवसायी और अन्य स्त्री पुरुष स्त्रियों का गर्भपात कराते हैं।

(4) हजारों लोग रूपये पैसे आदि की बाज़ी लगाकर कई प्रकार का जुआ खेलते हैं।

(5) हजारों लोग नशेदार चीजों की दुकाने खोलते हैं।

(6) हजारों लोग पशु जगत के नाना प्रकार के जीवों की आप हत्या करके वा औरों से कराके वा औरों के द्वारा वध किये हुए जीवों की लाशों को मोल लेकर उनके अंगों को वा ऐसे जीवित जीवों को मांसाहार के लिए औरों को बेचते हैं।

(7) कितने ही लोग किसी से रुपया या कोई और वस्तु **उधार** लेकर फिर उसे **दबा** लेते हैं, अथवा उसके न देने के निमित नाना प्रकार के बुरे वा पाप मूलक उपाय करते हैं।

(8) हजारों जन अपनी विविध प्रकार की वस्तुओं की बिक्री के लिए तरह तरह के झूठे **इश्तहार** देते हैं, ग्राहकों को अपनी वस्तुओं के सम्बन्ध में आकृष्ट करने के लिए जान बूझकर अपने मुहँ से भी उन वस्तुओं की **झूठी प्रशंसा** करते और अन्य नाना प्रकार की

झूठी बातें बोलते हैं।

(9) हजारों लोग किसी से **रिश्वत** लेकर उसका कोई काम - यहाँ तक कि **पूर्णत: अन्याय -मूलक काम भी** पूरा कर देते हैं।

(10) कितने ही लोग बटमारी वा राहज़नी करते हैं, अर्थात रास्ते पर से गुज़रते हुए किसी जन की कोई वस्तु छीन लेते हैं।

(11) हजारों लोग विविध प्रकार के मुकद्दमों में झूठी गवाहियाँ देते हैं।

(12) कितने ही लोग डकैती करते हैं; अर्थात किसी के घर वा कारखाने वा उसकी दुकान पर धावा करके **बलपूर्वक** उस का धन वा अन्य माल लूट लेते हैं।

(13) कितने ही लोग किसी से उजरत लेकर किसी मनुष्य का खून कर देते हैं ।

(14) कितने ही लोग अपने आपको झूठ मूठ भविष्य-ज्ञाता वक्ता बताकर अपने विश्वासियों का धन झाड़ लेते हैं।

(15) कितने ही लोग अपनी बेटियों से व्यभिचार विषयक बुरा कर्म कराके वा इसी अभिप्राय के लिए उन्हें किसी के पास बेच कर धन लाभ करते हैं।

(16) सैंकड़ों लोग अपनी बेटियों वा अपने बेटों का मूल्य लेकर उनका किसी के साथ विवाह करते हैं।

(17) कितने ही लोग अपनी विवाहित पत्नियों से भी **व्यभिचार** कराते हैं, अथवा इसी अभिप्राय के निमित्त यदि वह पहले से व्यभिचार करती हों, और वह धन उनके पास आता हो, वा उनके किसी के साथ व्यभिचारी बनने से यदि किसी सम्पत्ति के मिल जाने की आशा हो, तो भी वह उन्हें व्यभिचारी बनने देते हैं।

(18) कितने ही लोग किसी से धन लेकर अपनी पत्नियों को भी बेच देते हैं।

(19) लाखों स्त्रियाँ खुल्लमखुल्ला बाज़ार में बैठकर वा अपने अपने घरों में रहकर परन्तु छिप कर **व्यभिचार** का व्यवसाय करती हैं।

(20) कितने ही लोग अपने आपको **देश भक्त** प्रसिद्ध करके किसी भले काम के नाम से लोगों से चंदा इकट्ठा करके खुद खा जाते हैं; अथवा अपनी ओर से वा अपने जैसे दो चार जनों की कमेटी बनाकर किसी महामारी विषयक रोग वा दुर्भिक्ष आदि के समय पीड़ित जनों की सहादृता करने के नाम से अपील करके रुपया इकठ्ठा करते हैं; और उनमें से

कुछ रुपया उस अभिप्राय के लिए खर्च करके शेष रुपये को अपनी सोसायटी के एक वा दूसरे काम के लिए रख लेते हैं।

(21) हजारों लोग अपने अपने विविध प्रकार के व्यवसाय के सम्बन्ध में विविध प्रकार की ठगी के द्वारा विश्वासघाती बनकर औरों का धन अपहरण करते हैं।

(22) हजारों लोग किसी के धन वा जेवर वा किसी भी अन्य वस्तु को जो उसने उनके पास धरोहर वा अमानत में रक्खी हो, दबा लेते हैं।

(23) कितने ही लोग जुवे वा सट्टे आदि का अनुचित व्यवसाय ग्रहण करते हैं ।

(24) सैंकड़ों लोग औरों से रुपया उधार लेकर बड़े बड़े व्यापार विषयक काम जारी करते हैं, कि जिसे वह अपने किसी ऐसे व्यापार में घाटा पड़ जाने वा उसमें सफलता न होने पर अदा नहीं कर सकते।

(25) सैंकड़ों लोग कुछ वा बहुत संख्यक सांझियों के साथ कोई कारखाना जारी करके और आप उसके प्रबंधकर्ता वा परिचालक बनके अपनी बेईमानी के द्वारा उसमें इतना घाटा डाल देते हैं, कि जिससे फिर उनके और सांझी उसे जारी रखना नहीं चाहते, और वह उनसे थोड़े दामों में खरीद कर उसे फिर अपने नाम से चलाते हैं।

(26) कितने ही लोग किसी के निज के नौकर होकर वा किसी कारखाने वा बैंक वा दुकान आदि में किसी पद के मिल जाने पर **विश्वासघाती** बनकर एक वा दूसरी तरकीब से सैंकड़ों वा हजारों वा लाखों रुपया उड़ा लेते हैं।

(27) कितने ही लोग किसी गवर्नमेंट वा राज्य में नौकर होने पर उस राज्य का अथवा किसी हितकर संस्था में कोई अधिकार पाने पर उस संस्था का एक वा दूसरे असद उपाय से धन अपहरण करते हैं।

(28) कितने ही लोग औरों के घर वा उनकी ज़मीन को **बलात छीन कर** आप उसके मालिक बन जाते हैं।

(29) कितने ही लोग छोटे छोटे बच्चों को उनकी इच्छा के विरुद्ध बलात उठा ले जाते हैं, और उन्हें किसी और के पास बेच देते हैं।

(30) कितने ही लोग एक वा दूसरे उपाय से किसी राज्य को अपने अधिकार में लाने की चेष्टा करते हैं, और किसी प्रदेश वा देश वा देश के किसी टुकड़े को किसी और के

अधिकार से छीन कर आप उसके प्रभु वा राजा वा राणा वा नवाब वा बादशाह वा शासन कर्ता बन जाते हैं।

(31) कितने ही लोग अपने आपको रासायनिक वा कीमियागर बताकर और किसी घटिया धातु को चान्दी वा सोने की शकल में बदल देने की शक्ति रखने की झूठी गप्प फैला कर अपने नाना मिथ्या विश्वासियों को धोखा देकर लूटते हैं।

(32) सैंकड़ों लोग किसी मन्त्र वा यंत्र वा जप वा पाठ वा प्रार्थना वा दुआ के द्वारा किसी की किसी कामना को पूरा करने का झूठा जाल फैलाकर अथवा अपने आपको कोई करामाती साधु वा संन्यासी वा बैरागी वा फ़कीर वा सांई आदि बताकर वा झूठमूठ किसी एक वा दूसरे प्रकार के सरकारी नौकर का स्वांग भरकर औरों का धन अपहरण करते हैं।

(33) हज़ारों लोग अपने किसी भाई वा अपनी किसी बहन वा अपने किसी अन्य सम्बन्धी की सम्पत्ति को मार लेने के निमित्त उसके सम्बन्ध में विविध प्रकार के अन्याय मूलक कर्म अर्थात् अत्याचार करते हैं।

(34) हजारों लोग अपने सेवाकारी एक वा दूसरे प्रकार के पशुओं को मांसाहारियों के मांस खाने के निमित्त कसाइयों और अन्य जनों को बेच देते हैं, कितने ही लोग रेशम के कीड़ों से बेकटा रेशमी सूत प्राप्त करने के लिए लाखों रेशमी कीड़ों की हत्या करते हैं; और कितने ही लोग नाना सुंदर रूपधारी जीवों की सुन्दर खालों वा उनके सुन्दर परों वा उनके तेल आदि की बिक्री करके धन कमाने के निमित्त ऐसे ह्ज़ारों निर्दोष और निरपराधी पशुओं को निहत करते हैं।

(35) हज़ारों लोग कई प्रकार के सेवाकारी पशुओं के सम्बन्ध में अन्याईं बनकर उनकी योग्यता से बहुत अधिक काम लेते हैं।

(36) हज़ारों लोग नशेदार चीज़ों - यथा भंग, तम्बाकू, गांजा, अफ़ीम और शराब आदि की दुकानें खोल कर वा किसी जगह छिप छिपाकर नशई लोगों में उनकी बिक्री करते हैं।

(37) कितने ही लोग जवान और सुन्दर लड़कीयों को मोल लेकर वा उन्हें
धोखा देकर अपने साथ भगा ले जाकर चकले की **दुकानें** खोलते हैं, अथवा उन्हें किसी

और के पास बेचकर रुपया कमाते हैं। और कितने ही स्त्री पुरुष आपस में मिलकर और अपनी किसी प्रवंचना के द्वारा किसी जन को फंसा कर और फिर उस पर कोई चट्टी लगाकर धन लाभ करते हैं।

(38) कितने ही लोग छोटे छोटे बच्चों की आँखें फोड़ कर और उन्हें अन्धा कर वा उनकी टांगें तोड़ कर उन्हें लंगडा वा उनके हाथ तोड़ कर उन्हें लुंजा बना कर उन्हें बड़े बड़े रास्तों पर भीख मांगने के लिए बिठा देते हैं, और वह भीख के द्वारा जितने पैसे लाते हैं, उनमें से कुछ पैसे उनके खाने पीने में खर्च करके शेष को अपने काम में लाते हैं।

(39) कितने ही लोग शराब की दुकान खोलकर उसके एक वा दूसरे ग्राहक को अपनी दुकान में बिठाकर और उसे बहुत सी शराब पिला कर बेहोश कर देते हैं, और उस के पास जो कुछ रुपया आदि हो, वह लेकर उसे दुकान से बाहर निकाल देते हैं ।

(40) कितने ही लोग अपने भीतर घटिया दाम के नोटों को बढ़िया दाम के नोटों और थोड़े दाम के जेवरों को बढ़िया दामों के ज़ेवरों में बदल देने की शक्ति रखने का किसी जन में झूठा विश्वास उत्पन्न करके उसे ठग लेते हैं। इत्यादि ।

प्र० । क्या इन नाना प्रकार की महा बुराइयों के भिन्न इस नीच अनुराग से कोई और **बुराई** भी उत्पन्न होती है ?

उ० । जी हाँ । इस नीच अनुराग के दासत्व से कृपणता की भी उत्पत्ति होती है, अर्थात् धन सम्पत्ति के लाखों अनुरागी जन केवल यही नहीं कि विविध प्रकार से औरों के धन और उनकी सम्पत्ति को **अपहरण** करते हैं, किन्तु हजारों जन कृपण बन कर क्या अपने अपने **आश्रित जनों और क्या अपने शरीर आदि की भी विविध प्रकार से हानि करते हैं।**

प्र० । वह किस प्रकार ?

उ० । धन के **दास वा गुलाम बनकर** और **कृपण** होकर वह, जहां तक सम्भव हो, उसे क्या अपनी और क्या अपने आश्रित जनों की सच्ची आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी खर्च करना नहीं चाहते; और अपनी और उनकी शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा वा उन्नति वा अपनी वा उनकी किसी रोग से निवृत्ति और अपनी वा उनकी किसी मानसिक उन्नति के लिए भी धन के खर्च करने में **बहुत कष्ट और संकोच** अनुभव करते हैं; और इसीलिए उसे खर्च नहीं करते। और इस प्रकार से क्या अपने और क्या अपने आश्रित

जनों के लिए कई प्रकार से अपहरणकारी वा हानिकारक बनते हैं।

फिर जब ऐसे जन जो **कृपण** बनकर अपना और अपने आश्रित जनों और **आश्रित पशुओं** आदि की साधारण आवश्यकताओं को निवारण करने के निमित्त अपने पास यथेष्ट धन रखने पर भी उसे उचित और यथेष्ट रूप से खर्च करने की सामर्थ खो बैठते हैं, तब वह किसी साधारण **परोपकार** विषयक काम के लिए धन दान करने के कहाँ इच्छुक रह सकते हैं ? इच्छुक नहीं रहते; इसीलिये किसी परोपकार विषयक काम के लिए उसे दान नहीं कर सकते। और यदि उनमें से कोई जन किसी समय किसी मान वा यश वा कीर्ति विषयक भाव की प्रेरणा से अपने धन वा अपनी सम्पत्ति में से कुछ दान करने का संकल्प भी कर बैठते हैं; तो वह कई दशाओं में ऐसा कर चुकने पर **पीछे से बहुत पछताते हैं,** क्यों कि उनका प्यारा धन जब उनके हृदय में इस प्रकार की अपील करता है, कि तुमने मेरे अनुरागी वा आशिक होकर, परन्तु अमुक दान का संकल्प करके, मुझे अपने पास से क्यों जुदा करना चाहा है ? तब वह उसके सन्मुख अपनी इस क्रिया के लिए लज्जा और कष्ट अनुभव करते हैं, और इसीलिये उसके प्रति अपने प्रेम में सच्चा रहने के लिए उस दान के सम्बन्ध में एक वा दूसरा **झूठा बहाना** बनाकर उसके देने से इनकारी बन जाते हैं। अथवा यदि दान के नाम से वह अपना कुछ धन पहले से दे चुके हों, तो वह उस दान किये हुए सारे धन को वा उसमें से जितना वह अपनी किसी बेईमानी वा पाप मूलक क्रिया से फिर वापिस ले सकते हों, उसके वापिस ले लेने का भी यत्न करते हैं।

प्र० । यदि कोई मनुष्य झूठ, ठगी, घूस, विश्वासघातकता आदि पापकर्मों से रहित होकर धन सम्पत्ति उपार्जन करता हो, तो क्या उससे भी कोई बुराई पैदा होती है ?

उ० । जी हाँ । यदि कोई जन इस प्रकार के **पापों** से रहित होकर भी धन सम्पति उपार्जन करता हो, तो जहां तक केवल इस प्रकार के पाप कर्मों से किसी का **आत्मिक पतन** होता है, वहां तक उस पतन से तो उसकी अवश्य रक्षा हो सकती है, कि जो प्रशंसनीय है, परन्तु उसमें अपने स्वार्थ भाव की जो बुराई मौजूद रहती है, उसके बुरे फलों से वह नहीं बच सकता। वह जब तक धन सम्पत्ति का अनुरागी रहता है, और उसकी प्राप्ति को अपने जीवन का **लक्ष्य समझता और रखता है,** और अपने **आत्मा के**

हित और अहित के विषय में अबोधी रहकर उसे और लोगों के शारीरिक और आत्मिक अथवा अन्य अस्तित्वों के किसी हित के लिए काम में नहीं लाता, और इस प्रकार से **नेचर के विकास विषयक परम शुभकर नियम से विमुख और उसका विरोधी रहता है,** तब तक वह कई प्रकार के पापों के द्वारा धन सम्पति उपार्जन न करके भी अपने आत्मा का **पतन** करता है।

यदि किसी देश के मनुष्य अपने धन वा अपनी सम्पति को अपने देश वा किसी और देश के लोगों की किसी बुराई वा उनके किसी अभाव के दूर करने अथवा उनमें किसी प्रकार की श्रेष्ठता के लाने के निमित्त जहां तक न्याय-पूर्वक अर्पण वा दान करने की योग्यता रखते हों; वहां तक उन्हें अर्पण वा दान नहीं करते; तो वह अपने इस नीच अनुराग मूलक आचरण के द्वारा यह प्रमाणित करते हैं, कि वह अपने उपार्जित धन वा अपनी उपार्जित सम्पत्ति के द्वारा अपने वा किसी अन्य देश के लोगों की किसी बुराई वा उनके किसी अभाव को दूर करने, वा उनमें किसी भलाई को उत्पन्न करके उन्हें पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ बनाने में मददगार होना नहीं चाहते; अथवा दूसरे शब्दों में वह उनकी उन सब बुराइयों के प्रेमक और उनकी सब प्रकार की भलाइयों के विरोधी ही रहना चाहते हैं। ओह **!** ऐसे लोगों की यह कैसी महा शोचनीय प्रकृति **!!** इसीलिये जिस देश के लोगों में यह धन सम्पत्ति विषयक महा नीच और महा पतनकारी अनुराग किसी अन्य देशवासियों की अपेक्षा **जितने अंश अधिक होता है,** उतने ही अंश उस देश के लोग उस देश की अपेक्षा अधिक बुरी, अधिक नीच, और अधिक निर्बल दशा में होते हैं, और अपनी ऐसी बुरी दशा के महा शोचनीय फलों को भोगते हैं।

******

सोलहवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा की गठन में संस्कार, संग वा अभ्यास सम्बन्धी सुख अनुराग ।

प्र० । संस्कार, संग वा अभ्यास सम्बन्धी सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । प्रत्येक मनुष्य का बच्चा अपनी जिस माता वा अपने जिस पिता वा उन दोनों वा अन्य किसी जन के द्वारा पलता है, उनसे वह अपनी धारणा शक्ति में विविध प्रकार के **संस्कार** लाभ करता है। उसका पहले पहल उन्हीं के द्वारा नामकरण होता है, उन्हीं से वह पहले पहल कोई भाषा सीखता है, वही जन हिंदु होने पर उसे यह शिक्षा देते हैं, कि यह तुम्हारी माँ हैं, यह तुम्हारे पिता हैं। इसे माँ, माता, अम्मा, आदि और उसे पिता, बापू, भइया वा बाबा आदि कहकर बुलाया करो। उन्हीं की शिक्षा के अनुसार वह किसी जन को बहन, किसी को भाई, किसी को ताया, किसी को चाचा, किसी को नाना, किसी को नानी, किसी को मामा, किसी को मामी, किसी को दादा, किसी को दादी, किसी को फूफा, किसी को बुआ आदि नामों से बुलाना सीखता है। उन्हीं से वह यह सीखता है, कि उसकी अमुक जाति वा अमुक जात वा उसका अमुक वर्ण वा उसका अमुक प्रबर वा उसका अमुक गोत्र आदि हैं। उन्हीं से वह यह सीखता है, कि उसका अमुक धर्म वा अमुक मज़हब है। उन्हीं से वह किसी धर्म वा मज़हब के कुछ विश्वासों और उनसे सम्बन्धित किसी देवते वा गुरु वा शिक्षक वा किसी पुस्तक वा तीर्थ वा अनुष्ठान वा चिन्ह आदि को अपना मानकर विश्वास करना सीखता है; इत्यादि। इस प्रकार की जो जो शिक्षा उसे अपने माता पिता वा पारिवारिक वा वंशीय सम्बन्धियों आदि से मिलती है, **उसे वह अपने बाल्यकाल से ही ठीक मानकर ग्रहण करता है,** और उन्हीं की शिक्षा के अनुसार अपने खाने पीने, वस्त्र पहनने और परस्पर के सम्बन्ध में **अन्य विविध प्रकार की क्रियाएं** भी सीखता है। इस प्रकार के नाना विश्वासों के साथ - चाहे वह कैसे ही मिथ्या भी क्यों न हों - और इस प्रकार की नाना क्रियाओं के साथ - चाहे वह कैसी ही

मिथ्या वा अनुचित वा हानिकारक क्यों न हों - एक लम्बे काल तक जुड़े रहने से वह धीरे धीरे उनका **अभ्यासी** बन जाता है। इस प्रकार अपने जन्म काल से ही वह जिन जिन लोगों के **संग** रहता है, उनके **संग रहकर उन्हें अपना समझने वा मानने वा विश्वास करने** लगता है; और जिनके संग नहीं रहता, उन्हें **अपना नहीं,** किन्तु **पर वा पराया** मानने का अभ्यासी हो जाता है। प्रत्येक देश के लोगों में यही नियम काम करता है। इस प्रकार **इन संस्कारों, संग और अभ्यास से उसके अपने आत्मा में धीरे धीरे उनके प्रति जो हार्दिक लगाव वा आकर्षण वा अनुराग उत्पन्न हो जाता है, उससे वह सुख अनुभव करता है, और धीरे धीरे इस प्रकार के सुखों के साथ बन्ध जाता है। यही सुख उसके संस्कार, संग वा अभ्यास सम्बन्धी सुख अनुराग कहलाते हैं।**

प्र० । क्या इस प्रकार के सुख अनुरागों से बन्ध जाने से किसी मनुष्य की कोई हानि होती है ?

उ० । जी हाँ। ऐसे प्रत्येक जन की वहां तक अवश्य हानि होती है, जहां तक इन संस्कारों वा संगों वा अभ्यासों के उत्पन्न हो जाने से वह विविध प्रकार के **मिथ्या विश्वास** सीखता है, और उनका **पक्षपाती** बन जाता है; और इन मिथ्या विश्वासों के द्वारा उसकी अपनी शारीरिक स्वास्थ्य और अन्य मनुष्यों वा पशुओं आदि के सम्बन्ध में विविध प्रकार की हानियों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।

प्र० । वह किस प्रकार ?

उ० । वह इस प्रकार। लाखों जन अपने पारिवारिक और अन्य सम्बन्धियों आदि की शिक्षा वा उनकी क्रियाओं को देख कर तम्बाकू, भंग, शराब, अफ़ीम आदि **नशेदार चीज़ों** के पीने वा खाने के **अभ्यासी** बन जाते हैं, और इन **ज़हरीली चीज़ों** के सेवन के अभ्यासी बन कर अपनी शारीरिक स्वास्थ्य की महा हानि करते हैं।

इसी प्रकार लाखों जन अनियमितता के अभ्यासी बनकर **नियमित समय** में भोजन, शयन, मल त्याग आदि नहीं करते, और अपने ऐसे हानिकारक अभ्यास के कारण अपने शारीरिक स्वास्थ्य की हानि करते हैं।

इसी तरह से लाखों लोग **पशु जगत के जीवों के मांस और उनके अण्डों** के खाने के अभ्यासी बन जाते हैं, और उनके इस अभ्यास से पशु जगत के नाना प्रकार के जीवों के

सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार का महा अत्याचार होता है, उस अत्याचार में साक्षात वा असाक्षात रूप से भाग लेकर अपने आत्मिक जीवन की बहुत बड़ी हानि करने के भिन्न इस प्रकार के **अनुचित आहार** के द्वारा अपने शारीरिक स्वास्थ्य की भी कई प्रकार से हानि करते हैं।

इसी तरह से लाखों लोग अपने शरीर और वस्त्र, अपने घर और अपनी अन्य वस्तुओं को **मैला** रखने के अभ्यासी बन जाते हैं, और ऐसे अभ्यास से औरों के भिन्न अपनी शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी **हानिकारक** बनते हैं।

इसी प्रकार लाखों जन औरों के सम्बन्ध में क्या अपनी बोली और क्या अपने विविध प्रकार के अन्य व्यवहारों के द्वारा **अपमानकारी** बनकर **अशिष्टाचारी** बन जाते हैं।

इसी तरह से लाखों लोग चोरी, ठगी, कपटता, प्रवंचना आदि पापों वा दुराचारों के अभ्यासी बनकर औरों के सम्बन्ध में विविध प्रकार से **अपहरणकारी** और महा हानिकारक बन जाते हैं, और अपने अपने आत्मिक जीवन का पतन करते हैं।

इसी प्रकार लाखों लोग **ऐसे जनों को घृणा करने अथवा अपनी अपेक्षा झूठ मूठ हीन समझने के अभ्यासी बन जाते हैं,** कि जो उनका सा धर्म विश्वास वा धर्म मत और अपने अपने शरीर में उनके से साम्प्रदायिक चिन्ह न रखते हों, अथवा ऐसे व्यवसाय करते हों, कि जो वास्तव में उचित हों, परन्तु जिनके सम्बन्ध में उन्हें इसके विपरीत शिक्षा मिली हो, अथवा वह उनके वर्ण वा जाति के न हों; इत्यादि; और वह ऐसे जनों के सम्बन्ध में अपने कई प्रकार के घृणा सूचक और परस्पर के प्रति असदभाव वा द्वेष उत्पादक व्यवहारों के द्वारा अपने अपने आत्मिक जीवन का पतन करने के भिन्न जातीय वा मानवीय-एकता वा मेल के सम्बन्ध में भी महा हानिकारक बनते हैं; इत्यादि।

प्र० । क्या इस प्रकार के सुख अनुराग से किसी मनुष्य की कोई और हानि भी होती है ?

उ० । जी हाँ। हजारों लोग अपने किसी घर वा गाँव वा नगर आदि में लम्बे काल तक रहते रहते अपने इस अभ्यास के कारण उसके साथ मोह के बन्धन से इतने बन्ध जातें हैं, कि फिर उन में से सैंकड़ों जन अपने किसी अति आवश्यक **भले के लिए** भी वहां से निकल कर किसी और दूर के स्थान में जाना नहीं चाहते-यहाँ तक कि ऐसे लोगों में से यदि कोई जन भूखों मरता हो और उसे अपने स्थान में कोई रोज़गार न मिलता हो, किन्तु

वहां से दूर किसी और स्थान में कोई रोजगार मिल सकता हो, तो भी वह वहां जाना नहीं चाहता; और इसीलिये वहां नहीं जाता, और अपनी हानि होने देता है।

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य किसी ऐसे रोग से पीड़ित हो, कि जिससे वह किसी और स्थान में जाकर रहने से पूर्णत: वा बहुत कुछ आराम पा सकता हो, तो भी वह वहां जाने में **बहुत कष्ट** अनुभव करता है, और इसीलिये वहां नहीं जाता, और अपने रोग के दूर करने का कोई उचित उपाय ग्रहण नहीं करता और अपनी शारीरिक हानि होने देता है।

सैंकड़ों जन धन और समय रहने पर भी अपने घर को छोड़कर नाना स्थानों की **हितकर यात्रा** करना पसंद नहीं करते।

इसी सुख अनुराग से बन्ध कर लाखों लोग अपने घर में ऐसी बहुत सी रद्दी चीज़ें रख छोड़ते हैं, कि जो उनके किसी काम में नहीं आतीं, और नहीं आ सकती; और जो कदापि रखने के योग्य नहीं।

इसी सुख अनुराग के **दास** हो जाने के कारण लाखों लोग अपने खाने, पीने, सोने, जागने, मुंह धोने, दाँत साफ़ करने, नहाने आदि शरीर सम्बन्धी नाना कामों के विषयों में नाना प्रकार से अपनी अपनी **शारीरिक हानि** करते हैं, परन्तु ऐसी एक वा दूसरी हानि को **जानकर भी** उसे छोड़ नहीं सकते; और अपने आपको **विवश वा लाचार समझ कर उस हानि को जारी रखते हैं।**

इसी सुख अनुराग के **दास** होकर लाखों लोग अपने किसी हानिकारक सम्बन्धी से विविध प्रकार के बुरे वा हानिकारक और बड़े बड़े कष्टदायक सलूक पाकर भी उससे अपना सम्बन्ध नहीं काट सकते।

प्र० । क्या लाखों मनुष्यों में उनकी **सम-प्रकृति के कारण भी** उनके परस्पर आकर्षण वा लगाव वा मित्रता की उत्पत्ति होती है ?

उ० । अवश्य होती है। और वह इस **सम-प्रकृति** के कारण भी एक दूसरे के प्रति स्वभावतः **आकृष्ट** हो जाते हैं, और एक दूसरे के मित्र वा सखा वा सखी वा सहेली बन जाते हैं; और एक दूसरे के **संग** मिलना जुलना और रहना पसन्द करते हैं।

दृष्टान्त :-

एक जन **शराब** के नशे के सुख के लिए **आकर्षण** रखता है; दो चार और जन भी उसी

नशे के सुख के लिए अपने अपने भीतर आकर्षण रखते हैं; और वह एक दूसरे को जानते भी हैं, और उन के आपस के सम्बन्ध में पहले से कोई **घृणा भाव भी नहीं।** ऐसी दशा में वह एक दूसरे के लिए अपनी इस **सम-प्रकृति** के कारण आकर्षण मालूम करते हैं**,** और इस आकर्षण भाव के कारण वह एक वा दूसरे के संग बैठकर शराब पीना चाहते हैं, क्योंकि इस प्रकार मिलकर पीने से उनका यह सुख और भी अधिक बढ़ जाता है। इसलिए वह अपने अपने तौर पर अलग अलग शराब पीने के स्थान में आपस में मिलकर उसके पीने के आकांक्षी बन जाते हैं, और उसके पीने के भिन्न, उस नशे और उसके सुख की उत्पादक शराब की तारीफ़ में कुछ बोलना वा कहना और उससे भी हर्ष लाभ करना चाहते हैं। ऐसे जन ऐसे अवसर पर एक वा दूसरी चीज़ भी मिलकर खाना चाहते हैं। इसी प्रकार व्यभिचारी पुरुष और स्त्री, और जुवारी और एक एक प्रकार का पेशा करने वाले नाना जन भी, और एक एक प्रकार के के खेल के सुखार्थी नाना जन भी परस्पर के लिए आकर्षण अनुभव करके आपस में मित्र बन जाते हैं। चोरों के द्वारा धन वा माल की प्राप्ति के सुख के अनुरागी कितने ही जन परस्पर के प्रति आकृष्ट होकर, और फिर मिलकर चोरी करते हैं। इसी प्रकार डकैती के द्वारा धन माल की प्राप्ति के सुखार्थी नाना जन परस्पर मिलकर डाका मारते हैं। इसीलिये इस **सम-प्रकृति-गत आकर्षण** के सम्बन्ध में यह कहा गया है, कि

"प्रकृति मिले मन मिलत है, अनमिलते न मिलाय,
दूध दही से मिलत है, कांजी से फट जाय ।

अर्थात्

सम-प्रकृति वा समस्वभाव से नाना मनुष्यों के मन एक दूसरे के साथ उसी तरह मिल जाते हैं, जिस तरह से दूध दही के साथ मिल जाता है, और दही बन जाता है; परन्तु वही दूध कांजी के साथ प्रकृतिगत आकर्षण न रखने के कारण उसके साथ मिलने से फट जाता है।

अथवा

"कुनद हम जिन्स बा हम जिन्स परवाज़
कबूतर बा कबूतर बाज़ वा बाज़ ।"

अर्थात्

पशु जगत के एक एक प्रकार के पक्षी आपस में मिलकर उड़ते हैं। कबूतर कबूतरों के साथ और बाज़ बाज़ों के साथ। अथवा

“वर्डस आफ़ दी सेम फैदर फ़्लाई टूगेदर”

अर्थात्

एक ही प्रकार के पक्षी मिलकर उड़ते हैं।

तोतों के भीतर तोतों के प्रति आकर्षण होता है, परन्तु कौवों वा चीलों के प्रति नहीं। इसीलिये दर्जनों तोते आपस में मिलकर उड़ते हैं; परन्तु वह कौवों वा चीलों के साथ मिलकर नहीं रहते और नहीं उड़ते। इसी प्रकार बीसियों चीलें आपस के प्रकृति-गत आकर्षण से खिंचकर आकाश में जिस तरह से उड़ कर चक्कर लगाती है, और ऐसा करके खुश होती है, वह कौवों के साथ उस प्रकार का आकर्षण न रखने के कारण उनके साथ मिलकर नहीं उड़तीं।

इसी **सम-प्रकृति-गत आकर्षण** के कारण भेड़िये भेड़ियों के साथ और बकरियां बकरियों के साथ, और भेड़ें भेड़ों के साथ और मक्खियाँ मक्खियों के साथ और चिउंटीयां चिउंटीयों के साथ रहती हैं।

प्र० । क्या जब **सम-प्रकृति** के द्वारा आकृष्ट होकर नाना जन मिलकर कोई बुरा वा पापकर्म करके सुखी होते हैं, तब उनका ऐसा बुरा संग वा मेल-जोल **कुसंग** कहलाता है ?

उ० । जी हाँ। सम-प्रकृति के कारण मनुष्य जगत में इस प्रकार का कुसंग बहुत फैला हुआ है।

प्र० । क्या सम-प्रकृति के आधार पर किसी हितकर संग की भी उत्पत्ति होती वा हो सकती है ?

उ० । जी हाँ। यदि कुछ लोगों में किसी प्रकार के ऐसे हित भाव उत्पन्न हुए हों, कि जिनसे परिचालित होकर वह उसकी सिद्धि के निमित्त एक दूसरे के संग के अभिलाषी बनकर कोई सभा वा सोसायटी वा क्लब आदि स्थापन करें, और उसके निमित्त आवश्यक त्याग भी करें, तो वह अपने ऐसे संग के द्वारा अपना अपना कुछ न कुछ अवश्य भला कर सकते हैं।

प्र० । क्या सम-प्रकृति रखने वाले जन **एक दूसरे के मित्र बन जाने पर** एक दूसरे के **पक्षपाती** नहीं बन जाते ?

उ० । निश्चय बन जाते हैं। इसलिए लाखों लोग आपस की इसी **मित्रता के कारण** नाना अवसरों पर एक दूसरे की ऐसी सहायता भी करते हैं, कि जो **पूर्णत: मिथ्या और अन्याय वा पापमूलक होती है।**

प्र० । क्या इसी **संग-अनुराग** के कारण लाखों लोग अपने से **मिलने जुलने वाले नाना जनों** की किसी के सम्बन्ध में किसी झूठी सिफारिश वा शिकायत पर **मिथ्या विश्वास** भी कर लेते हैं ?

उ० । जी हाँ। क्यों कि जो जन उनसे मिलते जुलते रहते हैं, उनके संग उनके दिल का **लगाव** पैदा हो जाता है, और वह **इस लगाव के कारण** उनके साथ बन्ध जाते हैं; और इसलिए जब उनकी और से उन तक किसी जन की **झूठी सिफ़ारिश वा शिकायत भी पहुँचती है, तब वह उनके दिल तक पहुँच जाती है,** और वह उस पर **विवश विश्वास** कर लेते हैं, और अपने इस **मिथ्या विश्वास के कारण** ऐसे जनों के सम्बन्ध में जो उनसे मिलते जुलते न हों, अपनी ऐसी राय क़ायम कर लेते हैं, कि जो **सत्य नहीं होती,** वा वह उनके सम्बन्ध में अपना कोई ऐसा फ़ैसला वा कोई ऐसा मत प्रकाश करते हैं, कि जो पूर्णत: **अन्याय मूलक** होता है।

फिर इस प्रकार के सुख के अनुरागी लाखों लोग उसके इतने **दास** बन जाते हैं, कि केवल यही नहीं, कि **वह अपने अपने ऐसे हानिकारक दासत्व को हानिकारक रूप में देखने की शक्ति ही खो बैठते हैं, किन्तु यदि उनका कोई हिताकांक्षी उन्हें उनके किसी ऐसे हानिकारक संस्कार वा संग वा अभ्यास से निकालने के लिए उन्हें कोई उपदेश देकर वा किसी और प्रकार से हितकर यत्न करे, तो वह उसके इस उपदेश वा यत्न को अपने इस सुख अनुराग के विरुद्ध पाकर उससे आघात और कष्ट और उस जन के प्रति अपने हृदय में घृणा अनुभव करते हैं, और उसे मित्र के स्थान में शत्रु के रूप में देखते हैं, और इसीलिये वह उससे फट कर दूर हो जाते हैं, और अपनी इस महा शोचनीय दशा के कारण उससे अपना कई प्रकार का और हित भी लाभ करने के योग्य नहीं रहते।**

प्र० । क्या इस नीच अनुराग से कोई और बुराई भी उत्पन्न होती है ?

उ० । जी हाँ। इस नीच अनुराग से **वियोग-जात** विविध प्रकार के **हार्दिक आघातों** और कष्टों और विविध प्रकार के शारीरिक रोगों और दुखों की भी उत्पत्ति होती है।

प्र० । वह किस प्रकार ?

उ० । प्रत्येक मनुष्य जब किसी मनुष्य वा पशु वा किसी पदार्थ का अनुरागी बन जाता है, तब किसी प्रतिकूल घटना के उत्पन्न हो जाने पर जब उसका उससे **वियोग** हो जाता है, तब वह इस **वियोग** के पैदा होने से उसके साथ अपने **मोह बंधन** की मात्रा के अनुसार **अल्पाधिक हार्दिक आघात और कष्ट लाभ करता है।** फिर इस प्रकार के किसी **बड़े आघात** के लगने से केवल यही नहीं, कि वह बहुत तड़पता है, और अपने किसी प्यारे जन वा पदार्थ के चले जाने से अत्यन्त दु:खी और बैचेन होता है; किन्तु इस दु:ख के कारण उसके शरीर की **स्नायु प्रणाली** भी बिगड़ जाती है, और उसके बिगड़ जाने से उसके शरीर में एक वा दूसरे प्रकार के दुखदाई और हानिकारक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। फिर वह अपने **हार्दिक कष्टों** के भिन्न अपने शरीर के एक वा दूसरे रोग से भी **बहुत कष्ट** पाता है। और यदि वह किसी ऐसे बड़े आघात से उत्पन्न किसी कष्ट वा दु:ख के सहने के लिए अपने भीतर यथेष्ट बल न रखता हो, तो वह किसी ऐसी शोचनीय दशा के उपस्थित होने पर अपने हाथ से ही अपने प्रिय शरीर की **हत्या** तक करके अपने उस असहय दु:ख से निवृत्ति पाने की चेष्टा करता है; और ऐसा करके अकाल मृत्यु के भिन्न **अप-मृत्यु** को भी प्राप्त होता है; अथवा कितने ही काल तक ऐसे दुख से घुल घुल कर समय से पहले ही मर जाता है। इस प्रकार के महा शोचनीय **मोह बंधन से बंध कर** लाखों मनुष्य क्या अपनी किसी पत्नी, क्या अपने किसी पति, क्या अपनी किसी संतान क्या अपने किसी मित्र वा किसी अन्य प्रिय जन के मर जाने वा किसी और प्रकार से उससे जुदा हो जाने से और क्या अपने धन, वा अपनी सम्पत्ति, वा अपने मान, वा किसी पद आदि के चले जाने से जिस जिस प्रकार के महा भयानक दु:ख और कष्ट पाते है, उनका प्रत्येक देश और जाति के लाखों मनुष्यों के जीवनों से इसी दुनिया में साक्षात प्रमाण मिलता है।

******

सत्रहवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा की गठन में हिंसा विषयक सुख अनुराग ।

प्र० । हिंसा विषयक सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । किसी और मनुष्य वा पशु को सता कर वा कष्ट देकर वा कष्ट देने की नीयत से उस की किसी प्रकार की हानि करके हर्ष वा सुख लाभ करने की प्रबल वासना को हिंसा विषयक सुख अनुराग कहते हैं।

लाखों मनुष्यों को यह नीच अनुराग उनके उन आदिम पूर्वजों से मिला है, कि जो किसी काल में हिंसक पशुओं की न्याई आखेट वा शिकार के द्वारा अपनी खुराक ढूंढते और लाभ करते थे। उन के वह शिकारी पूर्व्वज पहले तो अपनी खुराक के लिए ही पशु जगत के नाना जीवों का वध करते थे; परन्तु फिर नस्लों तक इस प्रकार के अभ्यासी हो जाने पर खाने के भिन्न वह यूँ भी किसी जीव को मार कर हर्ष वा सुख पाने लगे। उसके अनन्तर वह धीरे धीरे आपस में भी एक दूसरे को दिक करके, एक वा दूसरे को सता के, एक दूसरे को अपनी किसी छेड़ छाड़ आदि के द्वारा **दुःखी करके,** हर्ष वा सुख ढूंढने और प्राप्त करने लगे। यही किसी जीव को **मारकर** वा उसे किसी विधि से सताकर वा दुखी करके वा **कष्ट** पहुंचा के **खुश होने का भाव** लाखों लोगों में अब तक पाया जाता है।

ऐसे लोग अपनी एक वा दूसरी क्रिया से किसी और **मनुष्य वा पशु को दिक करके, किसी बच्चे वा लड़के वा लड़की को किसी ढंग से रुला के, किसी मनुष्य वा पशु को तड़पा के, किसी को छेड़ के, किसी की किसी चीज़ को तोड़कर वा ख़राब करके अपने इस हर्ष वा सुख अनुराग की तृप्ति करते हैं।** इसी हिंसा भाव के अनुरागी जन **शिकारी** बन कर न केवल मांस खाने के लिए नाना प्रकार के जीवों की हत्या करते हैं, किन्तु वह ऐसे नाना जीवों की भी अकारण **हत्या** करते हैं, कि जिनका वह मांस नहीं खाते। इसी हिंसा विषयक नीच कर्म के अनुरागी लाखों जन एक दूसरे को हंसी मखौल के नाम से दिक वा दुःखी करके अपना हर्ष वा सुख लाभ करते हैं।

फिर मनुष्यों के भिन्न यह महा नीच भाव कई प्रकार के कुत्तों और अन्य पशुओं में भी पाया जाता है, कि जो किसी जीव को उसका मांस खाने के लिए नहीं, किन्तु यूँ ही उसकी **हत्या** करके **सुख** लाभ करते हैं।

प्र० । क्या हिंसा सुख के अनुरागियों में से कुछ जन ऐसे भी होते हैं, कि जो किसी जन को अपनी ओर से कोई ऐसी **पूर्णत: मन घड़ंत और झूठी** खबर देकर, कि जो उसके लिए **कष्टदायक हो,** अपने इस नीच भाव का सुख लाभ करते हैं ?

उ० । जी हाँ। ऐसे लोग किसी जन को उसके किसी प्रिय सम्बन्धी की बीमारी वा मृत्यु आदि की खबर देकर वा किसी और विषय के सम्बन्ध में उसमें कोई मिथ्या विश्वास उत्पन्न करके, कि जिससे वह **शोकातुर वा दु:खी** हो, अपने इस नीच सुख अनुराग की तृप्ति करते हैं।

****

अट्ठारहवां अध्याय ।

मनुष्यात्माओं में मिथ्या विश्वास सम्बन्धी नाना सुख अनुराग ।

प्र० । मिथ्या विश्वास सम्बन्धी सुख अनुराग किसे कहते हैं ?

उ० । मनुष्यात्माओं में अपने लिए जब **किसी भी सुख की प्राप्ति के लिए** गाढ़ लालसा उत्पन्न हो जाती है, तब वह ऐसी दशा में पहुँच जाते हैं, कि यदि उनकी उस **सुख लालसा** को जान कर कोई जन उन्हें उसकी प्राप्ति के निमित्त कोई **झूठा लालच भी दे,** तो भी वह नाना समयों में उसके **इस झूठ को सच मानने के लिए तैयार हो जाते हैं,** और उसे सत्य मान कर उस पर **विश्वास** कर लेते हैं। और वह ऐसे **मिथ्या विश्वास** के उत्पन्न हो जाने पर अपने अपने हृदय में **सुख** अनुभव करते हैं।

इसी प्रकार वह जिन जिन दुखों से **डरते** हों, उनके विषय में यदि कोई जन उन्हें पूर्णत: **झूठी डरावनी** बातें भी कहें, तो भी वह नाना समयों में उन पर भी विश्वास करके उनसे **भय** अनुभव करते हैं, और यदि कोई जन उनके इस भय के सम्बन्ध में उन्हें कोई **पूर्णत: मिथ्या बात** भी ऐसी बतावे, कि वह **उन दुखों से इस इस विधि से बच सकते हैं, तो वह उन बातों पर भी विश्वास करने के लिए तैयार हो जाते हैं,** और ऐसे **मिथ्या विश्वास** के द्वारा अपने भीतर एक प्रकार का **आराम वा सुख** अनुभव करते हैं।

इन्हीं दोनों प्रकार के सुखों की लालसा को **मिथ्या विश्वास सम्बन्धी सुख अनुराग कहते हैं।**

प्र० । क्या यह जान कर ही कि मनुष्य विविध प्रकार के सुखों का भूखा वा **लालची** है, और विविध प्रकार के दुखों से डरता और उनसे बचना चाहता है, नाना मरे हुए परन्तु सूक्ष्म शरीर धारी प्रेत-आत्माओं और नाना स्थूल देहधारी मनुष्यात्माओं ने अपने अपने लिए एक वा दूसरे प्रकार की सुख की प्राप्ति के निमित्त लाखों लोगों में झूठे सुखों के लालच और झूठे दुखों के डरावे देकर उन नाना प्रकार के पूर्णत: मिथ्या विश्वासों की उत्पत्ति नहीं की, कि जो अब इस पृथ्वी के नाना देशों में धर्म वा मज़हब सम्बन्धी विश्वास

कहलाते हैं, और मिथ्या विश्वासों के महा भयानक जाल में करोड़ों मनुष्य फंसे हुए हैं, और उनके द्वारा अपने और अन्य लाखों मनुष्यों के लिए विविध प्रकार से महा हानिकारक बने हुए हैं ?

उ० । जी हाँ ।

प्र० । मनुष्य जगत में पहले पहल धर्म वा मजहब के नाम से मिथ्या विश्वासों का प्रचार कैसे आरम्भ हुआ ?

उ० । इतिहास से जहां तक पता लगता है, पहले पहल ऐसे मिथ्या विश्वासों का प्रचार **प्रेतात्माओं** के द्वारा आरम्भ हुआ। उनमें से जब कुछ जनों को यह मालूम हो गया, कि वह किसी इस वा उस स्थूल देहधारी जन को अपना **मध्यवर्ती** बनाकर उसके मुंह के द्वारा अन्य जनों पर **अपने विचार प्रकट कर सकते हैं,** तब उन्होंने अपने सम्बन्धियों वा अन्य जनों से इस प्रकार की **मिथ्या बातें** कहनी आरम्भ कीं, कि यदि वह उनके लिए अमुक अमुक प्रकार की खाने, पीने, सूंघने आदि की वस्तुएं भेंट करें, तो वह उनकी नाना प्रकार की **मनोकामनाओं** को पूर्ण करके उन्हें **बहुत सुखी** कर सकते हैं; अर्थात वह यदि संतान चाहते हों, तो वह उन्हें सन्तान दे सकते हैं; वह यदि अपनी वा अपने किसी पारिवारिक जन की बीमारी दूर करना चाहते हों, तो वह उनकी उस बीमारी को दूर कर सकते हैं; वह यदि अपने पशुओं की वृद्धि चाहते हों, तो वह उनकी वृद्धि कर सकते हैं; वह यदि अपने खेतों में अनाज की वृद्धि चाहते हों, तो वह उनके खेतों में उसकी वृद्धि कर सकते हैं; वह यदि किसी लड़ाई में जय चाहते हों, तो वह उन्हें जय दिला सकते हैं; वह यदि अपने किसी बैरी वा शत्रु के माल की हानि चाहते हों, तो वह आप **चोरी** करके वा किसी और से कराके वा किसी और प्रकार से उसकी हानि कर सकते हैं; वह यदि किसी जन की स्त्री का गर्भपात कराना चाहते हों, तो वह उसका गर्भपात कर सकते हैं; वह यदि अपने किसी विरोधी वा शत्रु के बीमार होने और उस बीमारी से उसके दुःख पाने के इच्छुक हों, तो वह उसे बीमार करके उसे बहुत कष्ट दे सकते हैं; वह यदि अपने किसी शत्रु के किसी लड़के वा उसके किसी अन्य पारिवारिक जन की मृत्यु चाहते हों, तो वह उसकी मृत्यु कर सकते हैं; इत्यादि।

उनकी इन झूठी बातों के विश्वासी बनकर हज़ारों लोग इनमें से **अपनी एक वा दूसरी**

मनोकामना के पूर्ण होने के निमित्त उन्हें कई प्रकार की **भेंटें देकर** उन्हें प्रसन्न करने लगे, और उनसे उनकी पूर्ति के लिए प्रार्थनाएं करने लगे, जैसा कि लाखों लोग अब तक भी किसी कहलाने वाले इस वा उस देवते, वा इस वा उस देवी, वा अपने किसी पूर्वज वा "वड-वडेरे", वा किसी कहलाने वाले सेंट वा वली वा फकीर वा पीर आदि से अपनी अपनी मुराद मांगते हैं; और जब नेचर की अपनी परिवर्तनकारी ग़तियों के क्रम में उनकी कोई मनोकामना पूरी हो जाती, तब उसकी सफलता को उनमें से **किसी की कृपा वा अनुग्रह वा दया जान कर उसके लिए अपने आपको उसका अनुगृहित वा कृतज्ञ अनुभव करने लगे;** और उसकी इस कृपा वा दया के गुण गाने लगे; और उसे अपने ऐसे सुखों का दाता जान कर उसकी कई प्रकार से **स्तुति वा प्रशंसा करने लगे।**

फिर जिस किसी जन से इन प्रेत-आत्माओं को अपने वा अपने किसी मध्यवर्ती के लिए मुंह माँगी भेंट नहीं मिलती थी, उसे वह अपने सम्बन्ध में अपराधी वा पापी वा गुनहगार बताते थे; और उसे **डरा कर काबू करने के लिए** वह यह कहते थे, कि वह उसकी इस इस प्रकार की **हानियां करके उसे बहुत दुःख और कष्ट पहुंचाएंगे,** अर्थात् वह उसकी अकाल मृत्यु कर देंगे, उसके किसी प्रिय जन को मार देंगे, उसे बीमार करके बहुत सा दुःख देंगे, उसके पशुओं को बीमार वा विनष्ट कर देंगे, उसकी खेतियों को ओले बरसाकर वा अतिवृष्टि करके वा पानी न बरसा के वा टिड्डियों द्वारा चराकर वा पानी का तूफ़ान लाकर उजाड़ देंगे, उसके घर को गिरा देंगे, उसके घर वालों को बीमार करके उन्हें बहुत सा कष्ट देंगे, उसके धन को हर के उसे कंगाल कर देंगे। इत्यादि, इत्यादि।

इन कामनाओं के पूर्ण करने का नाम धीरे धीरे **वर,** और उसके विरुद्ध दुःख पहुंचाने की विविध क्रियाओं का नाम **शाप** वा **कर्स** वा **लानत** आदि रक्खा गया। इस प्रकार मनुष्य-जगत में **पहले पहल इन अधम प्रकृति रखने वाले झूठे देवतों वा देवियों की उत्पत्ति हुई।** और फिर इन्हीं झूठे देवतों को सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आदि बताकर उनकी झूठी महिमा को और भी बढ़ाया और फैलाया और लोगों को उनके गुणों के सम्बन्ध में **मिथ्या विश्वासी** बनाया गया।

परन्तु इस प्रथम काल में अभी **नरकों और स्वर्गों** की घड़न्त प्रचलित नहीं हुई थी। उनकी झूठी गप्पें बहुत पीछे से घड़ी और फैलाई गईं; अर्थात जब उपरोक्त प्रकार की हानियों के

डरावे से भी किसी से उनका काफ़ी मतलब न निकला, तब फिर यह कहा गया, कि जो लोग उनसे **विमुख होकर पापी वा अपराधी बन गए हैं,** उन्हें वह **उनके मरने के बाद** यहाँ की अपेक्षा भी **बहुत दुखदायी दंड देंगे,** और जो लोग उनके विश्वासी बनकर उन्हें मुहँ मांगी अच्छी अच्छी भेंटे देंगे, और उनकी स्तुति करके उनकी महिमा गायेंगे, और उनके सम्बन्ध में अपनी कृतज्ञता का प्रकाश करेंगे, उन्हें वह **उनके मरने के बाद यहां के सुखों से भी बढ़ चढ़कर सुख देंगे।** इन नई कपोल- कल्पित गप्पों के अनुसार पहले प्रकार के **दुखों की जगह का नाम नरक वा ज़ह्न्नुम वा दोज़ख वा हैल आदि** और दूसरे प्रकार के **सुखों की जगह का नाम स्वर्ग वा बैकुंठ वा गोलोक वा बहिश्त वा हैविन आदि रक्खा गया।** इस तौर से नाना प्रकार के पूर्णत: **झूठे नरकों और पूर्णत: झूठे स्वर्गों की उत्पत्ति की गयी।** इस प्रकार के पूर्णत: मनघड़ंत स्वर्गों के सुखों के लालच और पूर्णत: मनघड़ंत नरकों के दुखों के भय वा डर का प्रचार अब तक भी जारी है।

प्र० । इन झूठे देवतों और देवियों के भिन्न और किस किस प्रकार के झूठे देवतों वा देवियों की पूजा जारी की गई ?

उ० । इन झूठे देवतों के द्वारा जब हजारों पुरोहित जनों की अच्छी कमाई होने लगी, तब धीरे धीरे और भी बहुत से चालाक लोगों ने सचमुच के अस्तित्व रखने वाले प्रेतात्माओं के भिन्न नेचर के विविध अजीवित और जीवित अस्तित्वों को अपने पूर्णत: मन: कल्पित एक वा दूसरे देवता का निवास स्थान और उसमें भी प्रेतात्मा के से गुण बताकर उनकी भी पूजा जारी की; यथा, सूर्य देवता, चन्द्र देवता, शनिश्चर देवता, गंगा देवी, यमुना देवी, बड़ देवता, पीपल देवता, तुलसी देवी, चेचक रोग उत्पादक सीतला देवी, मनसा पूर्ण करने वाली मनसा देवी, विद्या दायिनी सरस्वती देवी, धन दायिनी लक्ष्मी देवी, ज्वाला शिखा प्रदर्शक ज्वाला देवी, गौ देवता, सर्प देवता, और इसी प्रकार के पूर्णत: कल्पित अन्य देवतों और देवियों की पूजा भी जारी की गई।

प्र० । इन सब के भिन्न धर्म वा मज़हब के नाम से और किन किन **मिथ्याओं** का प्रचार किया गया ?

उ० । इन और इनके भिन्न और नाना प्रकार की जिन जिन **मिथ्या बातों** का प्रचार करके इस पृथ्वी में जिन करोड़ों मनुष्यों को **मिथ्या विश्वासी** बनाया गया, वह मोटी मोती बातें

यह हैं :-

(1) जैसा कि ऊपर बताया गया है, नेचर के सत्य और अटल नियमों के विरुद्ध और **पूर्णत: नए प्रकार के मनघड़ंत** और पूर्णत: झूठे गुणों से **संयुक्त** नाना प्रकार के **मिथ्या देवतों वा देवियों** का प्रचार किया गया।

(2) किसी एक वा दूसरे जन को इन मिथ्या देवतों में से किसी का **अवतार** वा उसका **भक्त** वा उसकी और से **नियुक्त** उपदेशक वा शिक्षक आदि बताकर उसके सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के **मिथ्या विश्वास** फैलाए गए।

(3) ऐसे देवतों वा देवियों के गुणों के सम्बन्ध में नाना प्रकार के झूठे स्तोत्रों, झूठे भजनों आदि के गान और झूठे वचनों के पाठ और झूठे मन्त्रों आदि के जप का प्रचार किया गया।

(4) ऐसे नाना प्रकार के देवतों वा देवियों और अन्य जनों को **झूठ मूठ सर्वज्ञ बताकर** और किसी इस वा उस पुस्तक को उनमें से किसी और से दी वा रची हुई, और उसकी शिक्षा को पूर्णत: अभ्रान्त और पूर्ण विश्वास के योग्य कहकर लोगों में **मिथ्या विश्वासों** की उत्पत्ति की गई।

(5) ऐसे नाना प्रकार के कहलाने वाले **देवतों** वा उनमें से किसी के कहलाने वाले **भक्तों** वा उनमें से किसी के कहलाने वाले किसी **अवतार** वा **सम्बन्धी** वा उनमें से किसी **नियुक्ति** जन की विविध प्रकार की **पाप वा दुराचार-मूलक शिक्षाओं** और **क्रियाओं** को उचित वा शुभ कर्म बताकर लोगों में उसके सम्बन्ध में **मिथ्या विश्वासों** का प्रचार किया गया।

(6) ऐसे नाना प्रकार के कहलाने वाले **देवतों** वा उनमें से किसी के कहलाने वाले किसी **अवतार** वा उनमें से किसी के भक्त वा उनमें से किसी की ओर से कहलाने वाले किसी **नियुक्ति** जन वा किसी अन्य कहलाने वाले सिद्ध, साधु, पीर, फ़कीर, वली, गुरु, शिक्षक, ऋषि, मुनि, संन्यासी और योगी आदि के सम्बन्ध में **नेचर के अटल नियमों के विरुद्ध नाना प्रकार की अदभुत क्रियाओं वा चमत्कारों वा करामातों वा मोजजों के दिखाने की झूठी गप्पें घड़कर** उनके सम्बन्ध में लोगों में **मिथ्या विश्वासों** का प्रचार किया गया।

(7) किसी कहलाने वाले इस वा उस **देवते वा देवी** वा कहलाने वाले किसी इस वा उस

देवते के **अवतार वा भक्त** वा उसकी ओर से कहलाने वाले किसी **नियुक्त जन** वा किसी कहलाने वाले शिक्षक वा गुरु वा वली वा पीर वा सेंट आदि के द्वारा **नेचर के सत्य और अटल नियमों के विरुद्ध** उसकी प्रसन्नता से **वर** लाभ करने पर नाना मनोकामनाओं के पूर्ण होने, और उसके कोप वा श्राप वा उसकी बद-दुआ आदि से विविध प्रकार के दुखों के मिलने के सम्बन्ध में **मिथ्या विश्वासों** का प्रचार किया गया।

(8) मनुष्यों के मर जाने पर **नेचर के सत्य और अटल नियमों के विरुद्ध** किसी कहलाने वाले देवते के द्वारा उनके नाना प्रकार के कर्मों के लिए एक वा दूसरे प्रकार के **पुरस्कार वा दंड पाने के सम्बन्ध में मिथ्या विश्वासों का प्रचार किया गया।**

(9) मनुष्यों के मर जाने पर एक वा दूसरे प्रकार के पापों का दंड भुगतने वा किसी इस वा उस प्रकार के कहलाने वाले पुण्य कर्मों का पुरस्कार पाने के लिए इस पृथ्वी में फिर किसी पशु वा मनुष्य आदि के शरीर में जन्म लेने के सम्बन्ध में **नेचर के सत्य और अटल नियम के विरुद्ध मिथ्या विश्वासों** का प्रचार किया गया।

(10) इस पृथ्वी के नाना स्थानों के महात्म्य के सम्बन्ध में नाना प्रकार की **मिथ्या गप्पें फैला कर** और ऐसी मिथ्याओं के द्वारा उन्हें **तीर्थ स्थान** बताकर उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार के **मिथ्या विश्वासों** का प्रचार किया गया।

(11) मनुष्यात्माओं के कुछ सच्चे और कुछ पूर्णत: झूठे पाप कर्मों के दंड वा फल से **मोक्ष** पाने के सम्बन्ध में नाना प्रकार के **मिथ्या विश्वासों** का प्रचार किया गया।

(12) "मोक्ष" वा "पुण्य" प्राप्ति के नाम से परन्तु **नेचर के सत्य और अटल नियमों के विरुद्ध** नाना प्रकार की प्राथनाओं, नाना प्रकार के मन्त्रों, नाना प्रकार के व्रतों, यज्ञों, उपवासों, पाठों, जपों, तपों, और शरीर में विविध प्रकार के चिन्हों के धारण करने की आवश्यकता बताकर उनके विषय में लोगों में नाना प्रकार के **मिथ्या विश्वासों** का प्रचार किया गया। इत्यादि।

अब यदि मनुष्य इस प्रकार के **मिथ्या विश्वास सम्बन्धी नाना सुखों का अनुरागी और उनके सम्बन्ध में पूर्णत: अज्ञानी न होता, तो इस पृथ्वी में इस प्रकार के महा- हानिकारक मिथ्या मतों का कदापि प्रचार न होता, और करोड़ों मनुष्य इन मिथ्या विश्वासों के महा भयानक और महा हानिकारक जाल में न फंसते**; और उनमें फंस कर **अपना अपना**

आत्मिक पतन और नाश करने के भिन्न अपने अपने धन और अपनी अपनी सम्पति की भी इतनी बड़ी हानि न करते, कि जिस का ठीक ठीक अनुमान तक करना भी सम्भव नहीं।

इन महा-हानियों के भिन्न इन मिथ्या धर्म मतों के विश्वासियों की ओर से धर्म वा मज़हब के नाम से लाखों मनुष्यों, लाखों पशुओं और अपने से भिन्न धर्म मत रखने वाले अन्य लाखों जनों के सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार के **घोर अत्याचारों** के करने की शिक्षा दी गई है, और उन पर **जितना और जैसा घोर अत्याचार** किया गया है, उतना और वैसा **घोर अत्याचार भी इस पृथ्वी में किसी और प्रकार से नहीं हुआ।**

फिर पिछले काल को छोड़ कर अब तक भी इन झूठे धर्म मतों के विश्वासों से इस पृथ्वी के करोड़ों जनों की विविध प्रकार से जितनी हानि हो रही है, वह भी **महा भयानक** है। इसी प्रकार के मिथ्या विश्वासों के कारण लाखों कहलाने वाले साधुओं, फ़कीरों, सन्तों, महन्तों, पंडों, पुजारियों; प्रीस्टों, गंगा-पुत्रों, मुल्लाओं, फुंगियों और अन्य विविध प्रकार के कुपात्र लोगों को, जो करोड़ों रुपया धर्म वा पुण्य का काम समझ कर हर साल दान दिया जाता है, वह यदि ऐसे जनों को दान करने के स्थान में (कि जिस से क्या दान कर्ताओं और क्या दान ग्रहीताओं में से किसी का कोई **आत्मिक हित** नहीं होता) किसी प्रकार के सच्चे शारीरिक वा मानसिक वा इन दोनों से भी श्रेष्ठ किसी **आत्मिक उच्च परिवर्तन विषयक हितकर कार्यों के लिए** दिया जाय, तो नेचर के नाना जगतों के सम्बन्ध में बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है।

प्र० । क्या मनुष्यों की इसी महा शोचनीय दशा को जानकर जैसे पहले हजारों जनों ने इस पृथ्वी के नाना देशों के लोगों को **पूर्णत: मिथ्या सुखों का लालच और पूर्णत: मिथ्या दुखो का डरावा देकर** उनके धन और उनकी सम्पत्ति को प्राप्त करके **अपना सुख लाभ** किया था, वैसे ही अब भी लाखों जन लोगों के इसी प्रकार के मिथ्या विश्वासों का फ़ायदा उठाकर उनका धन और उनकी सम्पत्ति **अपहरण करते हैं; और उनकी कमाई पर जीते हैं**, और उनसे अन्य कई प्रकार की सेवाएँ भी लेते हैं, और सैंकडों जन सैंकडों स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट **करके अपना काम-मूलक सुख** और हजारों जन औरों के पैसों से अपने लिए नाना प्रकार के महा हानिकारक **नशों का सुख भी लेते हैं** ?

उ० । जी हाँ ।

प्र० । क्या इसी मिथ्या विश्वास के सुख के अनुरागी होकर इस पृथ्वी के लाखों माँ- बाप भी अपने अपने बच्चों के भीतर कई प्रकार के **मिथ्या विश्वास** उत्पन्न करते हैं **?**

उ० । जी हाँ । लाखों माँ बाप यह जानकर भी की "जू जू" वा "हव्वा" वा "माऊं" आदि कोई सचमुच का डरावना अस्तित्व नहीं है, अपने छोटे छोटे बच्चों के बहुत रोने पर- विशेषकर रात के समय जब उनके रोने से उनकी प्यारी नींद के सुख में विघ्न पड़ता हो- जब वह जल्दी चुप न होते हों, तब उन्हें चुप कराने के लिए झूठ मूठ यह कहते हैं, कि रो मत, चुप हो जा, नहीं तो "जू जू" वा "हव्वा" वा "माऊं" आकर तुझे पकड़ ले जायगा; और उनमें इस प्रकार के **मिथ्या विश्वासों** की उत्पत्ति करके अपना सुख लाभ करते हैं। इसी प्रकार हजारों माँ बाप इसी अभिप्राय के लिए इस प्रकार के शब्द बोलते हैं :--

"Bogey man will get you."

अर्थात् अमुक डरावना आदमी तुझे पकड़ ले जायगा।

इसके भिन्न लाखों लोग दुकानदार होकर जैसे अपने ग्राहकों को **ठगकर** धन "कमाते" हैं, और इस विधि से भी जितना अधिक धन मिले **उससे सुखी होते हैं**, वैसे ही वह अपनी दुकान में जब अपने बच्चों को बिठाते हैं, तब अपने इसी सुख भाव से प्रेरित होकर उन्हें भी **तरह तरह की ठगी के द्वारा** धन कमाने की शिक्षा देते हैं, और उनमें इस प्रकार के **मिथ्या विश्वास** उत्पन्न करते हैं; कि झूठ वा ठगी के बिना कोई दुकान अच्छी नहीं चलती, अथवा और हजारों जन यह शिक्षा देकर कि झूठ के बिना इस वा उस मुकद्दमें में सफलता नहीं हो सकती, झूठ के बिना अमुक सोशल वा पोलेटिकल अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, **लोगों में अन्य नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास उत्पन्न करते है**; और उन्हें नाना बातों के विचार से **कपटी** बनाते है।

प्र० । क्या माता पिता कहला कर भी ऐसे लोगों का अपनी ही जाई संतान में इस प्रकार के **मिथ्या विश्वास उत्पन्न करके अपना सुख ढूंढना और लेना महा अनर्थकारी काम नहीं** ?

उ० । निस्सन्देह है। परन्तु नीच सुखों के अनुरागी होकर जैसे धर्म वा मज़हब के नाम से और कहलाने वाले नाना झूठे देवतों वा देवियों और अन्य नामधारी सैंकड़ों और हज़ारों जनों ने मनुष्य जगत में नाना प्रकार के **मिथ्या विश्वास** फैलाकर उनके द्वारा **अपना एक**

वा दूसरा सुखदाई अभीष्ट पूरा किया है, वैसे ही उसी सुख के अनुरागी बनकर लाखों माँ बाप भी न केवल नाना प्रकार के **उन मिथ्या विश्वासों** का कि जो उन्हें औरों से **संस्कार** में मिलते हैं**,** और जिन्हें वह **ठीक** जानकर विश्वास करते हैं**,** अपनी संतान को विश्वासी बनाते हैं**,** किन्तु वह उनमें कई प्रकार के ऐसे **मिथ्या विश्वास** भी उत्पन्न कर देते हैं**,** जिन्हें वह **आप भी मिथ्या जानते हैं।**

सुख अनुरागों के कारण ही मनुष्य जगत की यह भयानक दुर्दशा है।

प्र० । इन महा भयानक हानियों के भिन्न धर्म के नाम से इन मिथ्या विश्वासों के प्रचार से मनुष्य जगत की और क्या क्या हानि हो रही है **?**

उ० । करोड़ों लोग इन मिथ्या विश्वासों के अनुरागी और दास बन जाने के कारण अपने इन्हीं मिथ्या विश्वासों पर जमें रहते हैं; और उन पर जमें रहकर अपने मूल और मुख्य अस्तित्व अर्थात् आत्मा की विविध प्रकार से महा हानि करते हैं।

ऐसे ही अन्ध विश्वासी लोगों में से लाखों मनुष्य इस प्रकार की **महा पतित दशा** में पहुँच जाते हैं**,** कि वह अपने किसी **मिथ्या धर्म मत वा विश्वास के विरुद्ध शान्ति पूर्वक किसी और से कोई बात सुनना वा जानना वा उस पर विचार करना वा उसके विषय में कोई पुस्तक वा कोई लेख पाठ करना तक नहीं चाहते; और अपने उन्हीं मिथ्या विश्वासों के अनुरागी रहकर सत्य ज्ञान से अन्धे रहना पसन्द करते हैं।**

फिर कितने ही लोग जो अपने मन मन में अपने इस वा उस धर्म मत को **मिथ्या** भी जान लेते हैं**,** वह भी किसी **पोलेटिकल पद मान** वा **प्रशंसा** वा **धन आदि सुख के अनुरागी** वा किसी साम्प्रदायिक सम्बन्ध आदि के **दास** हो जाने के कारण **कपटी** बन जाते हैं**;** और साधारण जनों के सन्मुख उसे **झूठ मूठ** भी सत्य बताते हैं**;** और उसे सत्य ठहराने के लिए **झूठी दलीलें घड़ते और झूठी दलीलों से भरे हुए उपदेश देते और पुस्तकें वा अन्य लेख लिखते और छापते हैं**, और अपने से किसी **विरोधी जन** के किसी धर्म मत को अपने मन मन में **सत्य जान कर भी पूर्णत: कपटी** बनकर उसके खंडन के लिए **झूठी युक्तियां घड़ते और उन्हें मुंह से वर्णन करते वा लेख के द्वारा प्रकट करते हैं।**

फिर यदि इन मिथ्या विश्वासियों वा **कपटी** जनों पर कोई जन सद्भाव से भी उनके किसी **मिथ्या विश्वास** वा उनकी ऐसी **कपटता** को प्रकट करें**,** तो उसके प्रति वह **घृणा** अनुभव

करते हैं, और जिन लोगों में यह **घृणा भाव** बहुत प्रबल होता है, वह उसे अपना और अपने सम्प्रदाय का शत्रु समझते हैं; और उसे तरह तरह से उत्पीड़ित करने, सताने, तड़पाने और उसे अन्य नाना प्रकार से हानि पहुँचाने के निमित्त **विविध प्रकार के बुरे और पापमूलक उपाय सोचते और अवलम्बन करते हैं**; और ऐसे महा नीच कर्म करके और उनके **द्वारा पतित** होके अपने इस **महा नीच घृणा भाव की तृप्ति** और उसका **महा नीच सुख** लाभ करते हैं।

****

उन्नीसवां अध्याय ।

मनुष्य में उच्च वा सात्विक सुख अनुराग ।

प्र० । उच्च वा सात्विक सुख अनुराग क्या होते हैं ?

उ० । मनुष्य जगत में जहां लाखों और करोड़ों स्त्री पुरुष ऐसे हैं, कि वह अपने पारिवारिक आदि कुछ ऐसे जनों के भिन्न कि जिनके साथ वह **किसी सुख प्राप्ति के बन्धन से बंधे हुए होते हैं**, किसी और ऐसे जन के (कि जिसके साथ वह किसी **सुख प्राप्ति के बन्धन से बन्धे हुए न हों**) किसी दु:ख वा कष्ट वा अभाव आदि के **बोध करने** और उसे किसी उचित विधि के द्वारा दूर करने के लिए अपने हृदय में कोई **भाव** नहीं रखते; और इसीलिए वह **अपनी ओर से** किसी भी ऐसे जन के सम्बन्ध में कोई ऐसी क्रिया नहीं करते; वहां उसी मनुष्य जगत में यदि कोई जन ऐसा हो. कि जिसके आत्मा में किसी ऐसे जन वा जनों के किसी शारीरिक दु:ख वा रोग वा किसी शारीरिक वा मानसिक अभाव वा मानसिक ज्ञान की उन्नति वा किसी प्रकार के वास्तविक मिथ्या विश्वासों वा किसी प्रकार की बुरी रीति वा प्रथा के दूर करने के लिए कोई **भाव वा बोध वर्तमान हो**, और **उसका वह भाव विशुद्ध भी हो**, अर्थात् वह उस भाव के अनुसार किसी का कोई भला करके क्या इस लोक में किसी से कोई **प्रशंसा वा पुरस्कार वा पद वा उपाधि** आदि के पाने और क्या परलोक में किसी कल्पित "**स्वर्ग**" **आदि** सम्बन्धी सुखों के पाने की लालसा न रखता हो, और वह अपने इस **शुद्ध भाव** के अनुसार उपरोक्त उद्देश्य के निमित्त अपना कुछ धन वा अपनी कुछ सम्पत्ति वा अपना कुछ शारीरिक बल वा अपनी कुछ विद्या वा अपने कुछ ज्ञान आदि को **अर्पण** करता हो, तो उसका इस प्रकार का अर्पण **विशुद्ध सात्विक भाव** होगा। और यदि किसी मनुष्य में इस प्रकार का विशुद्ध भाव इतना प्रबल हो, कि वह अपने सब प्रकार के अन्य सुख अनुरागों से ऊपर और अपने इस भाव से परिचालित होकर अपनी इस समर्पण विषयक क्रिया को **नियमित रूप** से अर्थात् **निष्ठापूर्वक** पूरा कर सके, और ऐसा करने से नेचर के नियम के अनुसार उस के हृदय में जिस **उच्च रस वा उच्च सुख की उत्पत्ति हो**, **उसी उच्च सुख को**

पाकर संतुष्ट हो सके, तो उसका ऐसा सुख अनुराग **सात्विक सुख अनुराग** होगा।

परन्तु मनुष्य जगत में **अभी तक** किसी ऐसे सच्चे **उच्च वा सात्विक भाव** की जाग्रति भी अपेक्षाकृत बहुत थोड़े जनों में हुई है।

प्र० । किसी जन के किसी दुःख वा अभाव आदि के दूर करने के सम्बन्ध में **शुद्ध सात्विक भाव** की वर्तमानता से क्या अभिप्राय है **?**

उ० । यदि कोई मनुष्य किसी जन की **किसी शारीरिक पीड़ा वा बेचैनी वा उसके कष्ट वा दुःख को अपनी आँखों से आप देखकर** वा किसी और **से सुनकर वा जानकर उसके उस दुःख से अपने हृदय में भी कुछ कष्ट वा दुःख अनुभव करे**, और उसके हृदय में उसके **उस दुःख के दूर करने के निमित्त अपनी ओर से** किसी प्रकार की **सहायता** करने के लिए **इतनी प्रेरणा उत्पन्न हो**, **कि** वह अपनी उस आंतरिक प्रेरणा के अनुसार **अपनी ओर से** उसकी इस दशा के निवारण करने के निमित्त जहां तक सम्भव हो**,** कुछ न कुछ **सहायता** करने के लिए तैयार हो जाय**,** और **अपनी ओर से** कोई ऐसी **सहायता** कर दे**,** और ऐसा करने से उसे अपने हृदय में जो कुछ **उच्च सुख वा रस** अनुभव हो**,** उसके सिवाय **अपनी से ओर से** क्या उससे वा किसी और से किसी **प्रशंसा** के पाने वा उसके बदले में उससे वा किसी और से अपने लिए कोई कामना न रखता हो **-** यहाँ तक कि किसी ऐसे जन वा जनों से **कृतज्ञ-भाव सूचक** कोई शब्द भी सुनने का लालसी न हो **-** और यदि कोई जन उसकी ऐसी परहित विषयक क्रिया के सम्बन्ध में प्रशंसा के स्थान में **उलटी उसकी अप्रशंसा करे**, वा उसकी इस भली क्रिया को **उलटे अर्थात् बुरे रूप में प्रकट करे**, तो उससे **कष्ट पाने पर भी अपने उस उच्च भाव में कोई कमी आती हुई अनुभव न करे और उससे कुछ भी निरुत्साहित न हो**, और यह देखकर कि जब यह या वह लोग मेरे **इस भले कर्म का कुछ समादर नहीं करते**, और मेरी प्रशंसा करने के स्थान में उलटी मेरी **अप्रशंसा** करते और मुझे **बुरा** कहते हैं**,** तब मुझे क्या गर्ज़ है**,** कि मैं फिर कोई ऐसा भला काम करूं**, अपनी इस भली क्रिया के प्रति घृणाकारी न बन जाता हो**, किन्तु उल्टा उसके प्रति अपने हृदय में कुछ और भी **अधिक आकर्षण बोध करता हो**, **तब और तब उसका यह भाव शुद्ध सात्विक भाव हो सकता है**; **अन्यथा नहीं।**

प्र० । आपके इस कथन का क्या अभिप्राय है**,** कि जब कोई किसी दुखिया वा पीड़ित वा

दुर्बल जन की किसी प्रकार की कुछ **सहायता** करके अपनी **इस सहायता के बदले में** उससे वा किसी और से प्रशंसा आदि कोई बात भी न चाहता हो, तब उसकी यह क्रिया **शुद्ध सात्विक-भाव-मूलक** होती है **?**

उ० । जी हाँ ।

प्र० । क्या किसी और के सम्बन्ध में इस प्रकार की शारीरिक दु:ख-अनुभूति को ही **दया भाव** भी कहते हैं **?**

उ० । जी हाँ । इसी सच्चे भाव को दया-भाव भी कहते हैं।

प्र० । यदि कोई जन मनुष्यों वा पशुओं के शारीरिक रोगों की निवृत्ति के लिए अपनी ओर से कोई **चिकित्सालय वा हस्पताल** बना दे, और उसके भली भान्ति जारी रहने के निमित्त कोई **आवश्यक फंड** स्थापन कर दे; किसी सांघातिक रोग वा महामारी के दूर करने के उपाय सोचने और अवलम्बन करने के लिए **कोई स्थायी फंड वा रुपया** दे दे; मुसाफिरों को आराम देने के लिए कोई **धर्मशाला वा सराय** आदि बनाकर उसके भली भान्त जारी रहने के लिए आवश्यक धन आदि देकर उसका प्रबन्ध कर दे; किसी स्थान के मनुष्यों वा पशुओं के सम्बन्ध में उनके **जल विषयक अभाव** को जानकर कोई **तालाब वा कुआँ वा बावली वा हौज** आदि बनवा दे; किसी **खराब रास्ते के कारण** उस पर से आने-जाने वाले मनुष्यों वा पशुओं को जो कष्ट मिलता हो, उसके दूर करने के निमित उस रास्ते को दुरुस्त कर दे वा करा दे; साधारण जनों के सैर करने और फूलों के सुन्दर और निर्दोष दृश्यों के देखने के लिए कोई **बाग़** लगा दे; **असाध्य रोगियों** और अन्य विविध प्रकार के **निराश्रित और अनाथ स्त्री पुरुषों की पालना वा रक्षा** के लिए कोई आश्रम स्थापन कर दे; इत्यादि इत्यादि; और वह किसी ऐसे भले कर्म के करने में किसी से **कोई प्रशंसा** वा किसी से कोई पद वा मरतबा वा किसी से कोई **उपाधि** वा खिताब आदि के पाने की कोई **आकांक्षा वा लालसा न रखता हो**, और न उसके बदले में इस लोक में किसी से कोई उपाधि वा ख़िताब आदि ग्रहण करता हो, और न अपने मरने के अनन्तर किसी इस वा उस कहलाने वाले देवते से **किसी इनाम वा पुरस्कार** के पाने की कामना वा आशा रखता हो, किन्तु कोई भी **ऐसा शुभ कर्म करके** उससे जो कुछ उसे **उच्च हार्दिक सुख** मिले, उसी को पाकर संतुष्ट रहता हो, तो क्या उसका यह काम **शुद्ध**

सात्विक भाव समझा जायगा **?**

उ० । अवश्य ।

प्र० । क्या जिन थोड़े जनों के विषय में यह कहा जाता है**,** कि उन्होंने अमुक प्रकार के **भले वा परोपकार सम्बन्धी काम के लिए** अपना अपना जीवन भेंट किया था**,** और उनमें से अमुक अमुक जन सारी उम्र तक उसी काम को करता रहा था**,** तो क्या उस का इस प्रकार से जीवन भेंट करना **विशुद्ध सात्विक भाव वा सात्विक अनुराग मूलक** समझा जा सकता है **?**

उ० । यदि किसी जन के सम्बन्ध में यह पूर्णत**: सच्चा प्रमाण मिले कि वह अपनी उस परोपकार विषयक सेवा के लिए किसी सोसायटी से कोई नियमित वृति अर्थात धन विषयक कोई नियमित सहायता नहीं लेता था**; किसी से कोई **प्रशंसा** वा कोई माननीय पद वा कोई और मान वा उपाधि आदि नहीं चाहता था**;** और अपने मरने के अनन्तर भी अपनी इस सेवा के बदले में किसी इस वा उस देवते से **किसी सुख की प्राप्ति की कामना वा आशा नहीं रखता था**; तब बेशक उसकी ऐसी सेवा **विशुद्ध सात्विक भाव वा विशुद्ध अनुराग मूलक** कही वा मानी जा सकती है**,** अन्यथा नहीं।

प्र० । जो लोग किसी जन वा किसी समाज वा सोसाइटी से कोई मासिक निर्व्वाह**-** वृति लेकर किसी प्रकार की कोई भली सेवा करते हैं**,** उनकी यह सेवा किस प्रकार की होती है **?**

उ० । उनकी यह सेवा विशुद्ध सात्विक अनुराग मूलक नहीं होती और नहीं हो सकती**;** क्यों कि विशुद्ध सात्विक अनुरागी जन अपने सात्विक अनुराग विषयक सुख के भिन्न उसके बदले में किसी से धन विषयक कोई नियमित सहायता वा वृति लेना नहीं चाहता और नहीं लेता।

इसके भिन्न जब कोई जन किसी **विशुद्ध सात्विक अनुराग से** परिचालित होकर **परोपकार विषयक कोई सेवा** करता है**,** तब वह एक ओर **कामचोर** नहीं होता**,** और दूसरी ओर वह जिस सेवा का अनुरागी होता है**,** उस सेवा के सम्बन्ध में उसका वह अनुराग प्रतिदिन के विशुद्ध साधन से **दिनों दिन उन्नत वा गहरा होता जाता है।** अब यदि **यह दोनों लक्षण** भी उसमें पाए न जाते हों**,** तब इन लक्षणों के विचार से भी उसकी वह

सेवा विशुद्ध सात्विक अनुराग मूलक सेवा नहीं हो सकती।

प्र० । तब फिर किसी की ऐसी कोई सेवा और किस प्रकार की समझी जा सकती है **?**

उ० । यदि कोई जन किसी ऐसी सेवा के काम को हाथ में लेकर उसके सम्बन्ध में कुछ भी **कामचोर** न हो और उसके सम्बन्ध में जान बूझ कर किसी प्रकार से कुछ भी **हानिजनक** न होता हो, और उसके लिए उसे प्रतिदिन **जितने समय तक वा जितना काम करना आवश्यक हो**, **उतने समय तक** वा उतना काम वह भली भान्त दिल लगाकर कर सकता हो, और वह **उसके बदले में** किसी से किसी प्रकार की **प्रशंसा वा** माननीय पद वा उपाधि वा मान वा समादर आदि की प्राप्ति की कोई लालसा वा आशा भी न रखता हो, तो यद्यपि **निर्व्वाह-वृति लेने के कारण उसकी यह सेवा विशुद्ध सात्विक अनुराग मूलक नहीं हो सकती**, **तथापि वह उसके आत्मा के लिए वहां तक हितकर वा पुण्य-जनक अवश्य हो सकती है**, **जहां तक वह उसके निमित अपना कोई धन विषयक त्याग स्वीकार करता है।**

प्र० । क्या इन निर्व्वाह वृति लेने वाले जनों में से जो जो जन ऐसे समयों में कि जो उनका निज का समय समझा गया हो, किसी और की किसी सच्ची भलाई वा सेवा का काम करते हों, उन्हें उनकी ऐसी सेवा का कुछ जुदा शुभ फल नहीं मिलता **?**

उ० । उसका फल भी उन्हें अवश्य मिलता है ।

प्र० । क्या जो लोग औरों से **प्रशंसा वा यश वा मान वा कीर्ति पाने के निमित्त** कोई ऐसी हितकर क्रिया करते हैं; और किसी ऐसी काम के सम्बन्ध में अपनी ओर से अपनी प्रशंसा का सूचक कोई पत्थर वा टेबलेट आदि लगाते वा लगवाते हैं, वा उनके लगाए जाने की शर्त रखकर ही कोई ऐसा काम करते हैं, उनका यह काम उच्च वा सात्विक भाव-मूलक समझा जा सकता है **?**

उ० । कदापि नहीं; कदापि नहीं। उनका ऐसा काम **व्यापार-मूलक** होता है; इसलिए वह उच्च वा सात्विक भाव-मूलक नहीं, किन्तु वह एक प्रकार की केवल **दुकानदारी** है।

प्र० । यदि कोई जन इस लोक में किसी प्रशंसा वा यश वा कीर्ति वा नाम आदि की प्राप्ति को लक्ष्य रखकर कोई भला काम न करे, परन्तु वह केवल इस लालच से करे, कि ऐसा करने से उसे उसके मरने के बाद इस वा उस कहलाने वाले देवते से अमुक अमुक प्रकार

के शारीरिक वा अन्य सुख मिलेंगे, तो क्या उसका इस प्रकार का कोई भला काम शुद्ध सात्विक भाव-मूलक होगा ?

उ० । नहीं; कदापि नहीं । जब तक किसी भले कार्य के करने में क्या इस लोक और क्या परलोक में **किसी और से** किसी प्रकार के **सुख पाने** वा **किसी और से** किसी प्रकार के दु:ख वा दुखों से बच जाने की आशा की **खोट** मिली हुई होती है**, तब तक किसी मनुष्य की वह क्रिया शुद्ध सात्विक भाव-मूलक नहीं होती**, **और नहीं हो सकती।**

प्र० । यदि कोई जन केवल **दया के ही** विशुद्ध भाव से परिचालित होकर किसी **वास्तविक असहाय-जन** की कोई सहायता वा सेवा करे, तो क्या उसकी यह सेवा विशुद्ध सात्विक भाव-मूलक होगी ?

उ० । अवश्य; यदि उसके बदले में वह उससे वा किसी और से कुछ न चाहता हो।

प्र० । क्या केवल **दया भाव** से परिचालित होकर कोई मनुष्य कोई **अन्याय मूलक कर्म** भी कर सकता है ?

उ० । जी हाँ ।

प्र० । वह किस तरह ?

उ० । एक एक मजिस्ट्रेट वा जज **किसी सच्चे अपराधी** को अपने सन्मुख झूट मूठ भी रोता हुआ देखकर और उसके रोने से अपने दयालु हृदय में कष्ट अनुभव करने पर जब उसका **पक्षपाती** बन जाता है; और उसे उसके उस सच्चे अपराध के लिए भी कोई दंड देना नहीं चाहता, और अपने हृदय की ऐसी दशा में पहुच कर उसे छोड़ देता है; तब वह **अपने इस दया भाव के कारण** उसी प्रकार से **अन्याय** का साथ देता है, जिस प्रकार से एक एक रिश्वत लेने वाला मजिस्ट्रेट रिश्वत लेकर किसी सच्चे अपराधी को छोड़ देता है। इसी प्रकार और विविध अवसरों पर भी एक एक दयावान जन अपने इस दया भाव के द्वारा कई प्रकार की अन्याय मूलक क्रियाएँ कर बैठता है।

फलत: किसी मनुष्य में उसके **दया भाव के द्वारा** जैसे उससे कुछ **काम भले भी होते हैं**, **वैसे ही उसके कारण अनेक समयों में उससे अनेक काम बुरे भी हो जाते हैं।**

प्र० । क्या इस दया भाव के भिन्न और भी कोई उच्च भाव हैं, कि जो सात्विक भाव माने जा सकते हैं ?

उ० । जी हाँ । और भी कई उच्च भाव हैं, कि जो सात्विक भाव कहे जा सकते हैं। यथा:-

अपने पारिवारिक जनों को छोड़कर, कि जिनके साथ कोई मनुष्य अपने किसी प्रकार के **सुख-मूलक बंधन** से बंधा हुआ हो, यदि वह किसी अन्य मनुष्य वा जन- समूह के किसी **मानसिक अभाव** के दूर करने वा उसकी वा उनकी मानसिक शक्तियों की **उन्नति** के सम्बन्ध में कोई **विशुद्ध भाव** रखता हो, तो उसका यह भाव भी **सात्विक भाव** कहा जा सकता है। इस भाव को **अभाव निवारण** सम्बन्धी सात्विक भाव कह सकते हैं।

प्र० । इस भाव से परिचालित होने पर कोई मनुष्य किस किस प्रकार की क्रियाएँ करता है ?

उ० । इस भाव के यथेष्ट मात्रा में वर्तमान होने पर कोई मनुष्य एक वा दूसरे प्रकार की कोई संस्था स्थापन कर सकता है:- यथा किसी भाषा वा साहित्य वा गणित वा विज्ञान आदि विषयों वा किसी प्रकार की शिल्प वा दस्तकारी विषयक विद्या की शिक्षा देने के निमित कोई स्कूल वा कॉलेज आदि स्थापना करना; विविध प्रकार की पुस्तकों के विविध विषयों से लाभ उठाने के निमित साधारण जनों के लिए कोई पुस्तकालय स्थापन करना; किसी सामाजिक वा राजनैतिक सुधार वा किसी कहलाने वाले धर्म- मत के प्रचार के लिए कोई सामयिक-पत्र जारी करना वा प्रचारक वा अध्यापक नियुक्त करना; इत्यादि । और ऐसा कर के वह एक वा दूसरी सीमा तक जन-समाज की कोई भलाई भी कर सकता है।

प्र० । परन्तु क्या किसी ऐसे स्कूल वा कॉलेज वा पुस्तकालय वा पत्र वा पाठागार के स्थापन वा किसी ऐसे अध्यापक वा प्रचारक के नियुक्त करने के निमित जो लोग अपने धन वा अपनी सम्पति आदि को अर्पण करते हैं, उनसे जन-समाज की भलाई के भिन्न किसी प्रकार की हानियां वा बुराईयां नहीं होती ?

उ० । जी हां; अवश्य होती हैं ।

प्र० । वह किस प्रकार ?

उ० । जहां तक उनके द्वारा सत्य नेचर और उसके सत्य नियमों और उसकी सत्य घटनाओं के **विरुद्ध** नाना प्रकार की **मिथ्याओं** वा धर्म के नाम से नाना प्रकार के **मिथ्या मतों वा मिथ्या विश्वासों** का प्रचार होता है, अथवा शरीर के सम्बन्ध में किसी प्रकार के

स्वास्थ्य नाशक वा किसी प्रकार के जीवित अस्तित्वों के सम्बन्ध में **अन्याय-मूलक कर्म वा कर्मों की शिक्षा दी जाती है**, वहां तक उनके द्वारा मनुष्य जगत के भिन्न पशु जगत की भी नाना प्रकार से महा हानि होती है।

प्र० । क्या इस पृथ्वी में ऐसे भी स्कूल, कॉलेज, पुस्तकालय, पाठागार, सामयिक-पत्र और अध्यापक और प्रचारक वा उपदेशक आदि हैं, कि जिनके द्वारा ऐसे नाना प्रकार के **मिथ्या विश्वासों वा मिथ्या मतों और अन्य मिथ्या बातों** और उनके भिन्न कई प्रकार के **अन्याय-मूलक कर्मों** की शिक्षा दी जाती है **?**

उ० । जी हाँ; बहुत। और उनके द्वारा उपरोक्त प्रकार की शिक्षा के प्रचार से क्या मनुष्य और क्या पशु जगत के जीवों की नाना प्रकार से महा हानि होती है।

प्र० । यदि नेचर के किसी विभाग के सम्बन्ध में विविध सत्यों के ढूँढने और उन्हें प्राप्त करने के निमित्त किसी जन में कोई प्रबल भाव जाग्रत और उन्नत हुआ हो, और वह उनकी खोज और प्राप्ति के निमित्त अपने तन और मन आदि को अर्पण करता हो, तो क्या उसका यह भाव भी सात्विक भाव हो सकता है **?**

उ० । जी हाँ; यदि उसके इस भाव में अपने लिए कुछ **धन कमाने** वा किसी से कोई **प्रशंसा वा पद वा उपाधि** आदि पाने की **लालसा वा आशा की खोट मिली हुई न हो**, तो उसका यह भाव भी **सात्विक भाव** हो सकता है।

प्र० । क्या नेचर के किसी इस वा उस विभाग के सत्यों के सम्बन्ध में खोज करने वाले और खोज करने पर किसी इस वा उस बात को सत्य बताने वाले जन ही वैज्ञानिक अर्थात् "साइंटिफिक मैन" वा साइंटिस्ट कहलाते हैं **?**

उ० । जी हाँ ।

प्र० । क्या ऐसे लोग नेचर के विषय में जब और जो कुछ कहते वा बताते हैं**, वह सब कुछ सदा सत्य होता है** ?

उ० । जी नहीं । उनके ऐसा कहने वा बताने में **कई बार** उन की खोज विषयक विधि में भूल वा भ्रान्ति होती है**; कई बार** कई प्रकार की सत्य घटनाओं से भी वह जो एक वा दूसरे प्रकार का सिद्धान्त (नतीजा) निकालते हैं, उसमें उनके विचार विचार की प्रणाली में **तर्क विधि** विषयक कोई भूल हो जाती है**; कई बार** उनमें से कुछ जन अपने बड़ाई वा

अपने घमंड भाव के वशीभूत होकर अपनी किसी भूल को भूल नहीं मानते, और उस पर अड़ बैठते हैं, और उसे ठीक बताते हैं; और कई प्रकार की मिथ्या के द्वारा भी उस की पोषकता करने की चेष्टा करते हैं; इत्यादि।

परन्तु जो वैज्ञानिक इस प्रकार की भूलों को दूर करने और विशुद्ध सत्यों के जानने और मानने और उनके प्रचार करने के आकांक्षी बन कर आपस में मिलकर कोई सभा वा सोसाइटी स्थापन करते हैं; और ऐसी सभाओं में बैठकर और आपस की छानबीन से जो बात उनके निकट पूर्णत: सत्य प्रमाणित होती है, उसी को सत्य मान कर उसका प्रचार करते हैं, उनके द्वारा **सत्य का अवश्य अधिक प्रचार होता है।**

प्र० । क्या जो लोग वैज्ञानिक कहलाते हैं, वह सत्य के अनुरागी भी होते हैं **?**

उ० । ऐसे लोग यह जानकर कि नेचर के सम्बन्ध में मनुष्य को कोई सत्य ज्ञान नेचर की किसी **सत्य विधि** के अवलम्बन करने के बिना नहीं हो सकता, उसकी खोज करने के निमित्त नेचर की **सत्य विधि** को अवश्य अवलम्बन करते हैं, परन्तु वह इस सत्य विधि को उसी प्रकार मानते और अवलम्बन करते हैं, जिस प्रकार किसी स्कूल का लड़का अंक-गणित के सीखने में यह जानकर कि बिना ठीक ठीक जोड़ वा ठीक ठीक अन्तर वा ठीक ठीक गणन वा ठीक ठीक भाग विषयक विधि के मानने और अवलम्बन करने **के गणित के किसी प्रश्न का कोई ठीक ठीक उत्तर नहीं निकल सकता वा नहीं मालूम हो सकता**, अंक-गणित विषयक शिक्षा की ठीक **विधि** को मानता और अवलम्बन करता है। परन्तु जैसे वह लड़का गणित के सम्बन्ध में ठीक विधि को मान कर भी **अपने कई प्रकार के घटिया सुख अनुरागों और अपनी नीच घृणाओं** से परिचालित होकर नाना प्रकार की **मिथ्या और अन्याय-मूलक क्रियाएँ करता है**; वैसे ही नाना वैज्ञानिक जन भी जैसे एक ओर आत्मा के सम्बन्ध में अन्धकार में ग्रस्त होने के कारण नाना प्रकार **मिथ्या विश्वासों में लिप्त होते हैं**, वैसे ही वह अपने किसी इस वा उस सुख विषयक अनुराग वा किसी ऐसे अनुराग से उत्पन्न किसी नीच घृणा से परिचालित होने पर मनुष्य वा पशु आदि नेचर के किसी जगत के सम्बन्ध में एक वा दूसरे प्रकार की **अनुचित क्रियाएं भी करते हैं;** और इससे भी बढ़कर उनमें से कितने ही जन अपने शरीर के सम्बन्ध में भी कई प्रकार से **असंयमी** होने के कारण अपनी शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी

हानिकारक बनते हैं।

प्र० । जो जन इस लोक में अपने लिए मान, यश, पद, उपाधि आदि की प्राप्ति के लिए कोई परोपकार विषयक कार्य करते हैं, उनके आत्माओं का क्या ऐसे किसी परोपकार विषयक कार्य से कुछ हित नहीं होता **?**

उ० । यदि ऐसे जनों का परोपकार विषयक कोई काम **वास्तविक** परोपकार विषयक काम हो, तो उनके कार्य से जहां तक मनुष्यों वा पशुओं आदि का कुछ भी **वास्तविक भला** होता हो, वहां तक उनके आत्माओं का भी अवश्य कल्याण होता है, और उससे उनके आत्मिक जीवन में अवश्य कुछ न कुछ वृद्धि वा उन्हें पुण्य की प्राप्ति होती है।

प्र० । विशुद्ध सात्विक भावों वा अनुरागों के द्वारा नेचर के अन्य जगतों को छोड़ कर मनुष्य जगत में जिस जिस प्रकार के हित की उत्पत्ति होती है, उन सब हितों में से **किस किस सात्विक अनुराग के द्वारा** मनुष्यात्मा का और हितों की अपेक्षा सब से बढ़ कर हित होता है **?**

उ० । मनुष्य जगत में एक **ओर आत्मा के अस्तित्व और उस के जीवन के सम्बन्ध में जो महा घोर अन्धकार** छाया हुआ है, और दूसरी ओर उसमें उसके घटिया सुख विषयक नाना प्रकार के **अनुरागों** और उनसे उत्पन्न नाना प्रकार की **घृणाओं** के कारण जो विविध प्रकार के **मिथ्या धर्म मतों और अन्य विविध मिथ्याओं और विविध प्रकार के अशुभ कर्मों** और विविध प्रकार की **अशुभ चिताओं की** आत्मिक पतन और विनाशकारी गतियां जारी हैं, **उन नाना प्रकार के मिथ्या धर्म मतों और अशुभ कर्मों से उद्धार** और जिस **देवात्मा की देव-शक्तियों के देव-प्रभावों को पाकर** कोई मनुष्य इस प्रकार के **उद्धार वा सत्य मोक्ष** देने का काम कर सकता है, उस **देवात्मा** की शरण में कुछ भी उद्धार प्राप्त लोगों को लाने और उनके आत्मिक कल्याण के पथ को उनकी योग्यता के अनुसार खोलने का जो जो काम है, **उससे बढ़कर मनुष्य जगत के लिए और कोई भी हितकर काम नहीं।** यही और केवल यही काम सब प्रकार के अन्य परोपकार विषयक कामों से बढ़कर, हां सैंकड़ों गुना बढ़कर श्रेष्ट है, और किसी ऐसे कार्य से किसी भी विशुद्ध सात्विक सुख अनुरागी जन के आत्मा का जितना हित होता है, उतना और उस प्रकार का हित और किसी परोपकार विषयक कार्य के द्वारा नहीं होता, और **नहीं** हो सकता।

इसलिए नेचर के इस सर्वश्रेष्ट कार्य के निमित जहां तक कोई जन अपने धन वा अपनी सम्पति को **समर्पण करे;** जहां तक अपने शरीर के हाथ, पावं, आदि अंगों की शक्तियों को **अर्पण** करे; जहां तक अपनी सोच विचार अथवा किसी विद्या विषयक मानसिक शक्तियों को **अर्पण** करे; और जहां तक सच्ची आवश्यकता के अनुसार उसके निमित अपने मान, अपनी प्रशंसा, अपनी बड़ाई, अपने पद, अपने शारीरिक स्वास्थ्य और अपने अन्य शारीरिक सुखों आदि का **त्याग** करे; वहां तक वह अपने आत्मा का जितना सच्चा हित कर सकता है, उतना और किसी परोपकार विषयक कार्य के द्वारा नहीं कर सकता।

****

बीसवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा की गठन में सुखजात कई प्रकार के नीच घृणा-भाव ।

प्र० । मनुष्य के आत्मा में **नीच-सुख-जात घृणा-भाव** क्या होते हैं **?**

उ० । किसी भी मनुष्य में उसके किसी **सुख अनुराग** पर किसी की ओर से किसी आघात के लगने से आघातकारी के प्रति जिस विकर्षण भाव की उत्पत्ति होती है, उस विकर्षण भाव को **नीच-घृणा** भाव कहते हैं।

मनुष्य जिस किसी सुख का अनुरागी बन जाता है, उस **सुख** को वह लाभ करना चाहता है, और इसीलिए उसके उस **सुख** की प्राप्ति में जब कोई मनुष्य वा पशु वा कोई और अस्तित्व किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न करता है, तब उसमें उसके प्रति इस **नीच-घृणा-भाव** की उत्पत्ति होती है। और जब कोई मनुष्य इस भाव की उत्पत्ति से किसी अन्य मनुष्य वा अन्य जीवित और अजीवित अस्तित्व के प्रति उसकी किसी प्रकार की **हानि** देखने वा उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की हानि की बात के सुनने, वा अपनी ओर से उसकी किसी प्रकार की **हानि** करने की चिन्ता वा क्रिया करने वा किसी और से उसकी किसी प्रकार की **हानि कराने का** इच्छुक बन जाता है; और उसकी वा उसके किसी सम्बन्धी की **किसी हानि** को सुनकर वा जानकार वा आप उन में से किसी की कोई हानि करके वा किसी और से हानि कराके **सुख** वा तृप्ति वा ख़ुशी लाभ करता है, तब उस में इस प्रकार के नाना लक्षण उसके जिस भाव के द्वारा उत्पन्न होते हैं, वह उसका यही **नीच -घृणा-भाव** होता है। यह नीच घृणा कई प्रकार की होती है।

प्र० । मनुष्य आत्मा में किन किन कारणों से इन नीच घृणाओं की उत्पत्ति होती है **?**

उ० । चार प्रकार से। यथा :-

(1) किसी से अपने किसी वांछित सुख की तृप्ति के न पाने पर।

जब कोई मनुष्य अपनी किसी सुखदायक कामना में (चाहे वह उसके वा किसी और के लिए कैसी ही **अनुचित और हानिकारक** भी हो) किसी और को **साथी** बनाना चाहता है, और वह उसका साथी नहीं बनना चाहता, और उसमें उसका साथ नहीं देता; वा उसकी

किसी उचित कामना को भी किसी कारण से पूरा नहीं कर सकता, वा नहीं करना चाहता; तब वह अपने उस **सुख विषयक अनुराग के नशे से पागल और अपने हित से अबोधी होने के कारण** उसके ऐसा करने से अपने हृदय में जो आघात और दुःख पाता है, उससे वह अपने ऐसे **दुखदाता** के प्रति अपने भीतर **नीच-घृणा** अनुभव करता है।

(2) अपने वा किसी अन्य जन वा जनसमूह के साथ किसी नीच अनुराग के बंधन से बंधे होने पर।

जब कोई मनुष्य अपने अस्तित्व वा अपने किसी पारिवारिक सम्बन्धी वा अपने सम्प्रदाय वा अपनी जाति वा अपने देशवासियों के साथ किसी **नीच अनुराग** के बंधन से बंध जाता है, तब वह स्वभावतः अपना और उनका **पक्षपाती** बन जाता है। ऐसी दशा में यदि कोई जन उसके वा उनमें से किसी के किसी सत्य दोष वा अपराध वा पाप वा किसी की नीचता वा हीनता को प्रकट करे, तो वह क्या अपने अहं अनुराग के कारण और क्या उनके साथ **नीच अनुराग** में बँधे होने के कारण उसकी ऐसी क्रिया से अपने हृदय में **आघात और कष्ट लाभ करता है,** और उससे इस आघात और कष्ट को पाकर उसके प्रति अपने हृदय में **नीच घृणा** अनुभव करता है।

(3) अहं अनुराग के बहुत बढ़ जाने पर ।

जब कोई मनुष्य इस दशा में पहुच जाता है, कि वह अपनी बड़ाई की तुलना में **किसी विषय में भी किसी और जन की बड़ाई को** (चाहे वह पूर्णत: सच्ची भी हो) सुनना वा देखना वा मानना पसंद नहीं करता, और उससे **दुःखी** होता है; तब वह उसके प्रति स्वभावत: **नीच घृणा** अनुभव करता है।

(4) अपने एक वा दूसरे प्रकार के मिथ्या संस्कारों वा मिथ्या विश्वासों का अनुरागी बन जाने पर।

जब कोई मनुष्य अपने मिथ्या संस्कारों वा मिथ्या विश्वासों का अनुरागी होकर उसका **पक्षपाती** बन जाता है, तब वह -

1. किसी और मनुष्य वा मनुष्य-समूह को अपने किसी **धर्म-मत** वा धर्म विषयक **विश्वास** के अनुसार न पाकर उसे **घृणा** करता है।

2. किसी जन की किसी पोशाक वा चाल ढाल वा रहन सहन वा बोली आदि को अपने

जैसी न देखकर उससे **घृणा** करता है।

3. किसी जन को अपनी अपेक्षा किसी विषय में **हीन** देख कर **घृणा** करता है।

4. किसी जन को उसके किसी **व्यवसाय** वा **रंग वा जाति-भेद आदि के कारण घृणा** करता है।

प्र० । किसी मनुष्य में नीच घृणा भावों की वर्तमानता किन किन मोटे लक्षणों से पहचानी जा सकती है **?**

उ० । जब कोई मनुष्य यह चाहता है कि**,**

(1) मेरी हर एक कामना वा रुची को - चाहे वह किसी और के सम्बन्ध में कैसी ही **बुरी** वा **अनुचित** भी हो-प्रत्येक जन अवश्य पूरी करे**;**

(2) मेरे किसी "धर्म" विषयक विश्वास के विरुद्ध–चाहे वह किसी और के विचार में **पूर्णत**: **मिथ्या** भी हो–और मेरे किसी भी **मत के विरुद्ध**–चाहे वह किसी और के विचार में **ठीक न हो**–कोई जन कोई विश्वास वा मत न रखे**;** और **मेरी रुची**, **वा पसंद के विरुद्ध** कोई जन अपनी किसी राय वा अपने किसी मत का कभी प्रकाश वा प्रचार न करे**;**

(3) मुझ से कोई जन भी श्रेष्ट वा बढ़िया न समझा**,** न माना और न प्रकट किया जाये**;** और मुझ से **बढ़कर** किसी विषय में किसी और जन की प्रशंसा न हो**;** और उसे कोई सन्मान आदि न मिले**;**

(4) मैं किसी हीनता वा नीचता को रखकर भी किसी और के द्वारा **हीन वा नीच वा घटिया न समझा जाऊ और न कहलाऊँ**, **और न माना जाऊ**, **और न विश्वास किया जाऊं**; तब उसके ऐसे सब लक्षण उसके आत्मा में विविध प्रकार के **नीच-घृणा-भावों** की वर्तमानता का प्रमाण देते हैं।

****

इक्कीसवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा का पतन ।

प्र० । आत्मिक पतन किसे कहते हैं ?

उ० । पतन का अर्थ है, गिरना, नीचे की और गति करना, बिगड़ना, विकृत होना ।

नेचर में जब उसका कोई भी अस्तित्व किसी विषय में अपनी किसी **भली दशा** से गिरकर किसी **बुरी दशा** में पहुँच जाता है, तब इस प्रकार से उसका उस विषय में पहले की अपेक्षा **बुरा बन जाना वा बिगड़ जाना वा नीचे की दशा में** पहुँच **जाना वा विकृत हो जाना उसका पतन कहलाता है।** इसी प्रकार से आत्मा का पतन आत्मिक पतन कहलता है। इस आत्मिक पतन के कुछ दृष्टान्त नीचे दिए जाते हैं :-

एक जन पहले भंग नहीं पीता था, परन्तु अब किसी की कुसंगत से वह भंग पीने लगा है, यह उसका इस विषय में पतन है।

एक जन पहले शराब नहीं पीता था, परन्तु अब पीता है; इस विषय में उसकी यह पतन की गति है।

एक जन पहले नशे के सुख के लिए अफीम नहीं खाता था, परन्तु अब खाने लगा है, यह उसकी पतनकारी क्रिया है ।

एक स्त्री पहले व्यभिचारणी नहीं थी, अब बन गई है; इस विषय में उसकी यह पतन की दशा है।

एक जन अपने किसी हितकर्ता से अपने किसी **सच्चे** अपराध को सुनकर उसे पहले **स्वीकार कर लेता था**, **परन्तु अब नहीं करता**, और उससे अपने अहं अनुराग पर आघात पाकर उसके प्रति **घृणा भाव** से भर जाता है, और उसके प्रति अपने मन में एक वा दूसरे प्रकार की **दुश्चिंता** करनी आरम्भ करता है, और उसे हिताकांक्षी के स्थान में अपना **अहिताकांक्षी** अनुभव करता है; यह **सब गतियाँ उसकी पतनकारी** गतियां हैं।

एक दुकानदार पहले किसी वस्तु के तोलने में ठगी नहीं करता था, परन्तु अब करता है; यह उसका इस विषय में पहले की अपेक्षा पतित हो जाना है।

एक राज-कर्मचारी पहले **रिश्वत** नहीं लेता था, अब लेता है; यह उसकी इस विषय में पतनकारी गति है।

एक लड़की पहले किसी की कोई वस्तु नहीं **चुराती** थी, अब अवसर पाकर **चुरा** लेती है; यह उसकी इस विषय में पतनकारी दशा है।

एक जन पहले **शिकारी न था,** अब शिकारी बनकर पशु जगत के नाना निरपराधी जीवों की **हत्या** करता है; यह उसकी इस विषय में पतनकारी गति है।

एक जन पहले किसी **परोपकार** विषयक काम के लिए प्रतिदिन कुछ धन का दान किया करता था, परन्तु अब यद्यपि वह पहले की अपेक्षा भी अधिक धन कमाता है, फिर भी अब वह उस प्रकार का कोई दान नहीं करता; यह उसकी पतनकारी गति है।

एक जन पहले अपने आत्मा और अपने आत्मिक-जीवन के विषय में कुछ **देव -ज्योति** पाने और उस में उन विषयों में किसी सत्य के देखने वा उपलब्ध करने के लिए **देवात्मा** की रची हुई किसी पुस्तक का कुछ पाठ और उस पर विचार का साधन किया करता था, परन्तु अब उसने यह साधन छोड़ दिया है; यह उसकी पतनकारी गति है।

एक जन पहले नाना लोगों के एक वा दूसरे प्रकार के **मिथ्या विश्वासों** वा उनके किसी **पाप कर्म** के दूर करने और उन्हें **सत्य-धर्म** विषयक ज्ञान देने का प्रति दिन कुछ न कुछ काम करता था, परन्तु अब वह इस प्रकार के कामों में से कोई काम नहीं करता, वा ऐसे किसी काम के करने की योग्यता ही खो चुका है; यह उसकी पतनकारी दशा है।

एक जन पहले किसी **परोपकार** विषयक काम में **सहायक** होने के निमित एक वर्ष में बीस वा तीस वा चालीस वा इससे भी अधिक दिन काम किया करता था, परन्तु अब वह किसी ऐसे काम के लिए एक वा दो सप्ताह भी अपने शरीर को हिलाना नहीं चाहता और नहीं हिलाता; यह उसके आत्मिक पतन की दशा है।

एक जन पहले नाना **मिथ्या गुणों** वा लक्षणों से विशिष्ट किसी भी कहलाने वाले **देवते वा देवी** को सत्य जानकार विश्वास नहीं करता था; परन्तु अब करता है; यह उसके आत्मा के पतन की दशा है।

एक जन सच्ची **देव-शक्तियों** से विहीन किसी भी कहलाने वाले **मिथ्या देवते वा देवी** को अपना **उपास्य** नहीं मानता था; परन्तु अब वह उनमें से एक वा दूसरे को अपना उपास्य

मानता है; यह उसका आत्मिक पतन है।

एक जन पहले सच्ची **देव-शक्तियों** से विशिष्ट **सत्य-देव** के भिन्न उन शक्तियों से विहीन किसी और कहलाने वाली **देवी वा देवते की पूजा** नहीं करता था, परन्तु अब करता है; यह उसकी पतनकारी गति है।

एक जन पहले मोक्ष विषयक किसी **मिथ्या शिक्षा** को सत्य मानकर विश्वास नहीं करता था, परन्तु अब करता है; यह उसका आत्मिक पतन है।

एक जन अपने आंतरिक सत्य विश्वास के **विरुद्ध कपटी** बनकर किसी संप्रदाय वा मत वा उसका मत-सूचक एक वा दूसरा **चिन्ह** धारण करता है; यह उसके आत्मिक पतन का लक्षण है।

एक जन अपने आंतरिक सत्य विश्वास के विरुद्ध **कपटी बनकर** अपना कोई एक वा दूसरा पारिवारिक **अनुष्ठान** संपन्न करता है; यह उसकी पतनकारी गति है। इत्यादि।

नेचर के अटल नियमानुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए **नीच सुखों का अनुरागी** होने और रहने पर और उनसे उत्पन्न **विविध घृणा** भावों के रखने पर अपने विविध संबंधों में विविध प्रकार की **मिथ्याओं** और विविध प्रकार के **अहितों** की ओर गति करना, और अपनी ऐसी गतियों के द्वारा अपनी आत्मिक गठन को **विकृत वा पतित करना अनिवार्य है।**

प्र० । क्या मनुष्य जगत में जितनी और जिस जिस प्रकार की **मिथ्यायें** पाई जाती हैं, और मनुष्यों के द्वारा अन्य मनुष्यों वा पशुओं आदि का जिस जिस प्रकार का **अहित** होता है, उन सब का कारण उनके **यही नीच सुख विषयक अनुराग** और उनसे उत्पन्न उनके यही **नीच घृणा भाव है** ?

उ० । निश्चय । मनुष्य जगत में जितनी और जिस जिस प्रकार की **मिथ्यायें** पाई जाती हैं, और उसके वा उससे नीचे के जगतों के लाखों अस्तित्वों के सम्बन्ध में **मनुष्य के द्वारा जितने अन्याय वा अहितमूलक कर्म** होते हैं, उन सब का मूल कारण उसके यही **नीच सुख अनुराग और नीच घृणा भाव है।**

****

बाईसवां अध्याय ।

मनुष्य जगत में विविध प्रकार की मिथ्याएँ और उन मिथ्याओं के द्वारा मनुष्यों का आत्मिक पतन ।

प्र० । मनुष्य जगत में कितने प्रकार की **मिथ्याएं** पाई जाती हैं **?**

उ० । चार प्रकार की । यथा :-

(1) विश्वास सम्बन्धी विविध प्रकार की मिथ्याएं; अर्थात

किसी मनुष्य में नेचर की अटल सत्यता, नेचर के अटल नियमों, अपने आत्मा और नेचर के अन्य विविध अस्तित्वों के सम्बन्ध में विविध प्रकार की **मिथ्याओं पर विश्वास।**

(2) **चिन्ता सम्बन्धी विविध प्रकार की मिथ्याएं**; अर्थात

किसी मनुष्य का अपने किसी दोष वा अपराध वा पाप वा अपनी किसी हीनता के **छिपाने** वा अपने किसी विरोधी वा बैरी वा शत्रु आदि को **हानि पहुचाने** वा किसी को **खुश वा** अपनी ओर **आकृष्ट** करने वा अपने किसी और **अभीष्ट के लिए** किसी को **धोखा** देने के निमित्त अपने मन में विविध प्रकार की **मिथ्याएं** सोचना और घड़ना।

(3) वाक्य वा कथन सम्बन्धी विविध प्रकार की मिथ्याएं; अर्थात

किसी मनुष्य ने अपने **किसी अभीष्ट की सिद्धि के निमित** अपने मन में जिस जिस प्रकार की **मिथ्याएं** घड़ी वा तैयार की हों, उनका अपने मुह वा वाक्य वा शब्दों वा संकेतों के द्वारा प्रकाश करना।

(4) अन्य विविध कर्म सम्बन्धी मिथ्याएं; अर्थात

किसी मनुष्य का अपने **आन्तरिक विश्वास वा ज्ञान के विरुद्ध** कोई साम्प्रदायिक **चिन्ह** धारण करना, वा कोई **वेष** रखना, वा कोई पारिवारिक वा अन्य **अनुष्ठान** सम्पन्न करना, वा कोई **सम्प्रदाय वा जत्था** बनाना, वा किसी कहलाने वाले देवते वा देवी की पूजा करना, वा कोई अन्य क्रिया करना। इत्यादि।

प्र० । कोई मनुष्य अपने किसी **सुख विषयक नीच अनुराग** और उससे उत्पन्न किसी

नीच घृणा भाव के कारण **मिथ्या परायण** क्यों बन जाता है **?**

उ० । जब कोई मनुष्य अपने किसी **नीच सुख अनुराग** अथवा उससे उत्पन्न अपने किसी **नीच-घृणा-भाव** की तृप्ति में एक ओर किसी प्रकार की **मिथ्या** को अपना **सहायक** देखता वा अनुभव करता है**,** और दूसरी ओर उस **मिथ्या** से उसके आत्मा वा शरीर की जो जो हानि होती है**,** उसके विषय में **अपने हृदय में कोई घृणा वा दु:ख उत्पादक सच्चा बोध नहीं रखता**, **तब वह स्वभावतः एक वा दूसरे प्रकार की मिथ्या का साथी बनने और उसका व्यवहार करने के लिए तैयार हो जाता है**; **और जान बूझ कर भी सत्य को छोड़ कर मिथ्या का पथ ग्रहण करता है।**

फिर जब वह **मिथ्या** के द्वारा अपने किसी अभिप्राय में **सफलता** लाभ करने पर **तुष्टि वा तृप्ति वा खुशी वा सुख पाता है**, तब वह कितनी ही दशाओं में **मिथ्या की सफलता** और उस के **व्यवहार की विधि** का अपने **पारिवारिक और अन्य जनों** को भी **उपदेश** देता है**,** और **मिथ्या की आवश्यकता और उसकी महिमा** का अपने प्रेम की गहराई के अनुसार उत्साह और अभिमान के साथ वर्णन करता है।

फलत: नेचर के नियमानुसार प्रत्येक **नीच सुख अनुरागी और नीच घृणाकारी** मनुष्यात्मा के लिए **मिथ्या-परायण होना अनिवार्य है।** इसीलिये जैसे पहले काल में औरों के भिन्न इस पृथ्वी के कहलाने वाले नाना सम्प्रदायों के **संस्थापकों और उनके कहलाने वाले** नाना **उपास्य देवताओं आदि** ने भी अपने एक वा दूसरे अभिप्राय के लिए **मिथ्या को अपना सहायक बनाया था**, वैसे ही मनुष्य समाज के कितने ही नेता इस काल में भी एक वा दूसरे अभिप्राय के लिए यथावश्यक **मिथ्या का आश्रय** लेते और उसका प्रचार करते हैं।

प्र० । यह तो बड़ी भयानक दशा है **!**

उ० । बेशक । परन्तु **नीच सुख अनुरागी प्रत्येक व्यक्ति के लिए** – चाहे वह महात्मा**,** मुनि**,** ऋषि**,** महर्षि**,** गुरु**,** पैगम्बर**,** नबी**,** नेता**,** बुद्ध**,** सिद्द**,** जिन्न**,** तीर्थंकर आदि कहलाता हो**,** अथवा वह कोई ईश्वर वा परमेश्वर वा परमात्मा आदि कहलाता हो **– मिथ्या परायण होना अवश्यम्भावी है।**

प्र० । तब क्या धर्म वा मजहब के नाम से भी इस पृथ्वी के नाना देशों में **मिथ्या** का प्रचार

किया गया है **?**

उ० । जी हां । सत्य नेचर और उसके आत्मिक और अन्य **सत्य नियमों** और उसके इन नियमों के अनुसार जितनी **सत्य घटनाएं** उत्पन्न होती वा हो सकती हैं**, उनके विरुद्ध इस** पृथ्वी में धर्म के नाम से जितने **मत** प्रचलित किये गए हैं, वह **सब के सब मूलतः मिथ्या हैं।**

प्र० । ऐसे सब मिथ्या धर्म-मत क्योंकर जारी हुए **?**

उ० । नाना देशों के नाना भूत प्रेतों और चुड़ैलों ने अपने आपको "देवते" वा "देवी" कह कर और विविध नामधारी मनुष्यों ने उन्हें "देवते" वा "देवी" बताकर धर्म वा मज़हब के नाम से **जान बूझ कर**

1. मिथ्या उपास्यों,
2. मिथ्या उपास्यों के सम्बन्ध में मिथ्या स्तुतियों, मिथ्या स्तोत्रों, मिथ्या वन्दनाओं, मिथ्या अराधनाओं
3. विविध प्रकार के मिथ्या तपों,
4. विविध प्रकार की मिथ्याओं से भरे हुए भजनों,
5. विविध प्रकार की मिथ्या मूलक प्रार्थनाओं,
6. विविध प्रकार के मिथ्या तीर्थों,
7. विविध प्रकार के मिथ्या व्रतों,
8. विविध प्रकार के मिथ्या जपों,
9. विविध प्रकार के मिथ्या पाठों और मिथ्या ध्याओं,
10. विविध प्रकार के मोक्ष विषयक मिथ्या विश्वासों,
11. विविध प्रकार की मिथ्याओं से भरी हुई कहलाने वाली धर्म पुस्तकों,
12. विविध प्रकार के मिथ्या धर्म शिक्षकों,
13. विविध प्रकार के मिथ्या मूलक अनुष्ठानों,
14. विविध प्रकार के मिथ्या स्वर्गों, वा बहिश्तों,
15. विविध प्रकार के मिथ्या नरकों वा जहनुमों वा दोज़खों,
16. किसी मिथ्या उपास्य देवते वा देवी की **प्रसन्नता** से किसी कहलाने वाले स्वर्ग वा

बैकुंठ वा बहिश्त के सुखों और उस के **कोप** से कहलाने वाले कई प्रकार के नरकों के दुखों वा अन्य हानियों की प्राप्ति की शिक्षा दी है, और **इन सब प्रकार की मिथ्याओं** का प्रचार करके लाखों और करोड़ों लोगों को उनका **विश्वासी** बनाया है।

इसके भिन्न धर्म वा मजहब के नाम से **नेचर के सत्य और अटल नियमों के विरुद्ध**

(1) किसी इस वा उस "देवते" वा "देवी" को नेचर का **सृष्टा वा रचना-कर्ता** बताकर मिथ्या का प्रचार किया गया है;

(2) किसी इस वा उस "देवते" वा "देवी" को **सर्वज्ञ**, **सर्वदर्शी**, **त्रिकालज्ञ**, **अन्तर्यामी और सर्वशक्तिमान** बताकर **मिथ्या** का प्रचार किया गया है;

(3) किसी इस वा उस "देवते" वा "देवी" को **निराकार** अर्थात् किसी गठनप्राप्त जीवित शरीर से **रहित** बताकर **मिथ्या** का प्रचार किया गया है;

(4) किसी इस वा उस जन वा पशु को किसी इस वा उस देवते का "अवातार" बताकर **मिथ्या** का प्रचार किया गया है।

(5) अपने आपको वा किसी और को **अलौकिक क्रियाओं** वा करामातों वा मोजज़ों वा मिरेकलों का दिखाने वाला बताकर **मिथ्या** का प्रचार किया गया है;

(6) अपने आपको वा किसी और को मनुष्यों की जिन विविध प्रकार की **सांसरिक कामनाओं वा मुरादों** का पूरा करने वाला वा उनके विषय में वर देने वाला बताया गया है, उनके द्वारा मिथ्या का प्रचार किया गया है।

(7) भले और बुरे कर्मों का फल पाने के निमित मनुष्यात्मा का इस पृथ्वी में फिर किसी मनुष्य वा पशु वा पौधे आदि के रूप में **जन्म लेने** की गप्पें फैलाकर **मिथ्या** का प्रचार किया गया है।

(8) **पाप कर्मों वा "पुनर्जनम"** से मोक्ष मिल जाने के नाम से **विविध प्रकार की गप्पें** फैलाकर उनके द्वारा भान्त भान्त की मिथ्या का प्रचार किया गया है; इत्यादि ।

इस प्रकार की भान्त भान्त की **मिथ्या गप्पों** को बाल्य-काल से सुनकर और उन्हें सत्य मान कर करोड़ों लोग **मिथ्या विश्वासी** बन जाते हैं।

प्र० । करोड़ों मनुष्य बाल्य-काल से ही नाना प्रकार की **मिथ्या बातों** के विश्वासी क्योंकर बन जाते हैं **?**

उ० । जब किसी मनुष्य का बच्चा पहले पहल इस पृथ्वी में जन्म लेता है, तब वह पूर्णत: मूर्ख और सत्य और मिथ्या के शब्दों और उनके अर्थों के ज्ञान के विचार से भी पूर्णत: **अज्ञानी** होता है। फिर जब वह कोई **भाषा** सीख जाने पर अपने आस पास के जनों की कुछ **बात चीत समझने लगता है**, तब वह उनकी **शिक्षा** से कई प्रकार की बातों पर– चाहे वह सत्य हों, और चाहे मिथ्या– **विश्वास** करना आरम्भ करता है। मनुष्य का इस प्रकार का कुल विश्वास **संस्कार प्राप्त वा अंध विश्वास** कहलाता है।

ऐसी दशा में आत्मा तो कही रहा, जिस के सम्बन्ध में वह **पूर्णत**: **अन्धकार की दशा में होता है**, यदि उसके स्थूल शरीर वा नेचर की किसी साधारण घटना के सम्बन्ध में भी उसे केवल मिथ्या बाते बताई जावें, तो भी वह उन्हें **विविश सत्य समझकर विश्वास कर लेता है।**

प्र० । वह किस प्रकार **?**

उ० । वह इस प्रकार:-

यदि किसी बच्चे को बाल्य काल से यह शिक्षा दी जाय, कि जिन लड़के लड़कियों वा अन्य जनों को **चेचक** की बिमारी होती है, वह अमुक **देवी के कोप** से होती है, तो वह इस बात को **सत्य मानकर** उस पर **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे कहा जाय, कि मनुष्यों के शरीर में जिस जिस प्रकार की और बीमारियां होती हैं, वह उसके मरे हुए पूर्वजों में से उसका एक वा दूसरा पूर्वज उत्पन्न कर देता है, तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे बताया जाय, उसके मरे हुए पूर्वजों के भिन्न और भी मरे हुए स्त्री पुरुष इन बिमारियों को उत्पन्न कर देते हैं, तो वह इस बात को सच मान कर **विश्वास** कर लेगा । यदि उसे यह बताया जाय, कि आकाश के कई प्रकार के नक्षत्र वा तारे कुपित होकर मनुष्य के शरीर में कई प्रकार के रोग उत्पन्न कर देते हैं, तो वह किसी ऐसी बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे यह शिक्षा दी जाय की अमुक नाम की जिस स्त्री की मूर्ति अमुक मढ़ी वा अमुक मंदिर में है, उसके खाने के लिए यदि उसके सन्मुख किसी सुअर वा मुर्गी के बच्चे की **बलि** वा उसे **अमुक अमुक मीठी चीज़** दी जाय, और उसके सूंघने के लिए कुछ सुगन्धिदायक फूल अर्पण किये जाएँ, वा सुगंधी उत्पादक **धूप वा** कोई और वस्तु आग में जलाई जाय, तो वह खुश होकर किसी बीमार की बिमारी को दूर कर देती

है; वा जिस स्त्री के कोई पुत्र न होता हो, उसे वह पुत्र दे देती है; तो वह इन बातों को भी ठीक मानकर उन पर **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे सिखाया जाय, कि अमुक देवी वा देवते की जो मूर्ति अमुक स्थान में है, उसे स्नान कराने, उस पर फूल चढ़ाने और उसे धूप आदि की सुगंधी देने और अमुक अमुक आहारीय वस्तु उसके आगे धरने से मनुष्य की **अमुक अमुक कामना** पूरी हो जाती है, तो वह उसे सत्य मानकर उस पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे बताया जाय कि जिस जन को बुखार होता हो, उसके गले वा दाहिने बाजू पर अमुक जन से एक **मंत्र वा नक्श** लिखवा कर बांधा जाय, तो उसका बुखार दूर हो जाता है, तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे यह बताया जाय, कि किसी बीमार पर यदि अमुक जन कोई "मंत्र" पढ़ कर फूंक मारे, तो उसके ऐसा करने से उसकी बीमारी चली जाती है, तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे बताया जाय, कि जब किसी की कोई गौ वा भैंस दूध नहीं देती, तब उसका कारण उसके किसी मरे हुए **पूर्वज का कोप** होता है, और यदि उस जन को अमुक अमुक वस्तु दी जाय, तो वह खुश होकर उस गौ वा भैंस से अपना कोप हटा लेता है, और वह गौ वा भैंस फिर दूध देने लगती है, तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा।

यदि उसे यह बताया जाय, कि ईश्वर नामक एक देवता है, कि जो सब मनुष्यों और पशुओं और वृक्षों के आकारों को बनाता है, और उसी ने सूर्य और चन्द्र और पृथ्वी को बनाया है, और वही उन्हें चला रहा है, तो वह इन बातों को ठीक मान कर उन पर भी **विश्वास** कर लेता है। यदि उसे यह बताया जाय, कि ईश्वर नामक एक देवता जब मनुष्यों से **नाराज़** हो जाता है, तब वह उन से अपना **बदला** लेने और उन्हें डराने के लिए प्लेग आदि की बीमारियां और दुर्भिक्ष आदि की विपत्तियां भेज कर **उन्हें विविध प्रकार से दुःख और कष्ट पहुचता है**, तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे बताया जाय कि ईश्वर नामक देवता अमुक अमुक समय में इस पृथ्वी में अमुक अमुक मनुष्य वा कछुवे वा सूअर आदि का **रूप धार कर** आया था, तो वह इस बात को भी **मान** लेगा। यदि उसे यह सिखाया जाए, कि ईश्वर नामक देवता कभी भी कोई मनुष्य वा सूअर आदि पशु नहीं बना और नहीं बन सकता, तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे यह सिखाया जाए, कि इश्वर नामक देवते ने अपने अमुक अमुक पैगम्बर के द्वारा जो जो

शिक्षा दी है, उस में उसने मनुष्य के लिए नाना प्रकार के **पशुओं को वध करके उनका मांस खाना आवश्यक और उचित बतया है,** तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे यह बताया जाए, कि ईश्वर नामक देवता ने मनुष्य को किसी भी पशु के मांस खाने की कभी आज्ञा नहीं दी, और उसने इस कर्म को **बुरा** बताया है, और वह किसी जन की ऐसी क्रिया से खुश नहीं, किन्तु नाराज़ होता है, तो वह इस बात पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे यह बताया जाए, कि ईश्वर नामक देवता ने पुरुष को अपनी एक पत्नी के जीते हुए दूसरी और दोनों के जीते हुए तीसरी और तीनों के वर्तमान होते हुए चोथी स्त्री के साथ **विवाह** करने की आज्ञा दी है, परन्तु किसी स्त्री को उसके एक पति के जीते जी किसी दूसरे पुरुष से विवाह करने की अनुमति नहीं दी, तो वह इन बातों को ठीक मान कर उस पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उससे यह बताया जाय कि ईश्वर नामक देवता ने किसी पुरुष को अपनी एक पत्नी के जीते जी दूसरा विवाह करने की आज्ञा नहीं दी, और वह बहु-विवाह करने वालों को **बुरा और पापी** समझता है, तो वह इन बातों को भी सच मानकर उन पर विश्वास कर लेगा। यदि उसे बताया जाय, कि अमुक नाम वा मन्त्र का जप वा अमुक विधि से दिन में इतने बार ईश्वर नामक देवता की स्तुति करने से वह **बहुत प्रसन्न** होता है, और ऐसा करने वाले जन पर इस पृथ्वी में कई प्रकार की मेहरबानियाँ करने के भिन्न उसके मरने पर उसे किसी विशेष काल के अनन्तर एक खास जगह में जिसे “बहिश्त” वा “स्वर्ग” कहते हैं, प्रवेश करने वा रहने की आज्ञा देता है, जहां पर उसे कई प्रकार की **स्वाददार वस्तुएं खाने के लिए और नशेदार चीजें सरुर के लिए और बहुत सी सुन्दर सुन्दर स्त्रियाँ भोगने के लिए और सोने के चमकते हुए कंगन पहनने के लिए मिलते हैं**, तो इन बातों पर **भी निश्चय** कर लेगा। यदि उसे यह बताया जाय, कि ईश्वर नामक देवता किसी को “बहिश्त” वा “स्वर्ग” में रख़कर वहां उसे नशेदार चीजें और अन्य वस्तुएं और स्त्रियाँ आदि नहीं देता, किन्तु केवल अपना **दर्शन** देकर उसे **सुखी** करता है, तो वह इन बातों को ठीक मान कर इस पर भी **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे बताया जाय, कि जो लोग ईश्वर नामक देवता वा उसकी अमुक किताब को उसकी रची वा उसकी ओर से भेजी वा दी हुई नहीं मानते, उन पर वह **बहुत नाराज़** होता है; और उन से अपना **बदला** लेने के फिकर में रहता है, और जब वह मर

जाते हैं, तब वह उन्हें एक ऐसे स्थान में रख देता है, कि जिसे **नरक** कहते हैं, जहां पर उसे सांप और बिच्छु हमेशा काटते रहते हैं, और उसे खाने के लिए पीप मिलती है, तो वह इस बात को भी सत्य समझकर **विश्वास** कर लेगा। यदि उसे बताया जाए, कि ईश्वर नामक देवता जब किसी मनुष्य से नाराज़ वा गुस्से होता है, तो वह उसके मरने के अनन्तर किसी विशेष काल के बाद उसे एक ऐसे कुंड में डालता है, कि जिस में सांप बिच्छु तो नहीं होते, किन्तु उसमें गंधक के द्वारा सदा **आग दहकती** रहती है, कि जिसमें पड़कर **उसका शरीर जलकर कभी राख नहीं हो जाता**, और न कभी मरता है, और वह देवता उसे **अनन्त काल** तक इसी प्रकार से कष्ट दे दे कर **अपना दिल ठंडा** करता है, तो वह इन बातों को भी सत्य मान कर उनका **विश्वासी** बन जाएगा। यदि उसे यह शिक्षा दी जाए, कि कोई मनुष्य ईश्वर नामक देवता की पसंद के विरुद्ध चाहे कितनी ही क्रियाएं करे, और वह उसकी इन क्रियाओं के कारण उससे कितना ही नाराज़ वा अप्रसन्न क्यों न हो, परन्तु यदि वह मनुष्य अपने मरने से पहले **अमुक स्थान की अमुक मूर्ति के दर्शन कर ले**, **वा अमुक नदी वा सरोवर वा बावली वा तालाब वा झील आदि में स्नान कर ले**, **वा अमुक नदी का थोडा सा जल ही पी ले**, वा अमुक जन को उसका **विशेष पुत्र** वा अमुक जन को उसका **विशेष पैगम्बर** मान ले, तो उसका सारा गुस्सा दूर हो जाता है, और वह उल्टा उससे बहुत प्रसन्न होकर उसे अपने **स्वर्ग वा बहिश्त वा बैकुंठ में रहने और तरह तरह का आनन्द भोगने के लिए जगह दे देता है**, तो वह इन बातों का भी **विश्वासी** बन जायेगा। इत्यादि ।

ऐसी सैंकड़ों प्रकार की पूर्णत: **मिथ्या** बातों की शिक्षा पाकर **करोड़ों लोग** बाल्य-काल से ही धीरे धीरे उनके विश्वासी बन जाते हैं, और **लाखों मनुष्यों के हृदयों पर उनके इस प्रकार के मिथ्या विश्वासों का इतना गहरा अधिकार हो जाता है**, **कि फिर वह कभी भी उनके महा हानिकारक असरों से निकलने के योग्य नहीं रहते**। ऐसे मनुष्यों की यह दशा कितनी भयानक और कितनी कृपापात्र है **!!**

प्र० । मनुष्यात्माओं के द्वारा और किस किस प्रकार से मिथ्या की उत्पत्ति होती है **?**

उ० । :--

(1) जब कोई मनुष्यात्मा अपने अहं अनुराग से प्रचलित होकर यह चाहता है, कि उसने

किसी के सम्बन्ध में जो **अपराध वा पाप** किया है, उसके लिए उसे किसी प्रकार का **दंड** न मिले, वा उसके लिए उसे किसी के सन्मुख **घटिया** बनना वा लज्जित होना न पड़े, तब वह अपने इस प्रकार के बुरे बचाव के लिए अपनी विचार शक्ति को काम में लाकर जिस जिस प्रकार के **मिथ्या मूलक** उपाय सोचता है, उनके द्वारा जैसे वह अपने विचार विषयक मानसिक अंग में मिथ्या का ज़हर भर कर उसे वा अपने आपको रोगी वा विकृत बनता है, वैसे ही वह अपने भीतर से मिथ्या की उत्पत्ति भी करता है ।

(2) जब कोई मनुष्य अपने **प्रतिशोध** विषयक **घृणा-भाव** से परिचालित होकर उसकी तृप्ति के निमित किसी जन की कोई **हानि** करने के विषय में किसी प्रकार के मिथ्या कलंकों वा अपवादों के फैलाने वा अन्य मिथ्या **उपायों** के सोच विचार में प्रवृत होता है, तब वह अपने ऐसे विचार के द्वारा जहां नाना **मिथ्याओं** की उत्पत्ति करता है, वहां वह अपनी ऐसी क्रियाओं के द्वारा अपनी विचार शक्ति को **कलुषित** करके अपने आत्मा को भी **रोगी वा विकृत** बनाता है।

(3) जब कोई मनुष्य किसी जन के साथ किसी **नीच अनुराग से बन्ध जाने के कारण उसका पक्षपाती** बनकर उसके किसी सच्चे अपराध के छिपाने वा उसे किसी सच्चे अपराध के दंड से बचाने के निमित एक वा दूसरे प्रकार के **झूठे बहाने वा उपाय** सोचता है, तब वह जैसे अपने भीतर से **मिथ्या** की उत्पत्ति करता है, वैसे ही वह अपने इस मानसिक अंग में **मिथ्या का ज़हर** भरकर उसके द्वारा अपने आत्मा को **रोगी वा विकृत** बनता है।

(4) जब कोई मनुष्य **धन सम्पति के नीच अनुराग का दास होकर** किसी और को **धोखा** देकर वा उसे **ठगकर** उसके धन वा उसकी किसी सम्पति को ले लेना चाहता है, और इस प्रकार की **प्रवंचना** के लिए एक वा दूसरे प्रकार के **मिथ्या विषयक उपायों को सोचता वा उन्हें पोषण करता है**, तब वह अपनी ऐसी चिन्ता के द्वारा जहां नाना **मिथ्याओं** की उत्पत्ति करता है, वहां अपनी ऐसी क्रिया के द्वारा अपनी मानसिक शक्ति को **कलुषित** करके अपने आत्मा को भी **रोगी वा विकृत** बनता है।

(5) जब कोई मनुष्य अपने **काम विषयक अनुराग भाव से** परिचालित होकर **किसी स्त्री को वशीभूत करने के लिए** विविध प्रकार के **मिथ्या मूलक उपाय** सोचता है, तब वह

अपने ऐसे सोच विचार से जहां नाना **मिथ्याओं** की उत्पत्ति करता है; वहां अपने उस मानसिक अंग को **कलुषित** करके अपने आत्मा को भी **रोगी वा विकृत** बनता है।

(6) जब कोई मनुष्य एक ओर किसी जन की किसी **कामना** को पूरा करना नहीं चाहता, और दूसरी ओर किसी कारण से उसे **सत्य उत्तर देकर नाराज** करना भी नहीं चाहता, तब ऐसी दशा में वह जिस जिस प्रकार का कोई **झूठा बहाना** तैयार करता है, उससे जहां वह **मिथ्या** की उत्पत्ति करता है, वहां वह अपनी विचार शक्ति को **कलुषित** और अपने आत्मा को **रोगी वा विकृत** बनता है।

(7) जब कोई मनुष्य किसी जन से डरकर वा किसी और भय से उसकी किसी ऐसी अपराध मूलक क्रिया के विषय में जिसका पब्लिक की भलाई के लिए सच सच प्रकाश कर देना नितान्त आवश्यक हो, सत्य के विरुद्ध प्रकट करने, अथवा किसी पब्लिक अदालत में सत्य के विरुद्ध किसी प्रकार की **साक्षी देने** की चिन्ता करता है, तब वह अपनी ऐसी चिन्ता से जहां **मिथ्या** की उत्पत्ति करता है, वहां ऐसा करके अपनी इस शक्ति को **कलुषित** करके अपने आत्मा को भी **रोगी वा विकृत** बनता है।

(8) जब कोई मनुष्य किसी विषय में अपने आपको झूठ मूठ ज्ञानी प्रकट करने के लिए सत्य के विरुद्ध अपनी कोई प्रशंसा करता है, तब वह अपनी ऐसी गति से जहां **मिथ्या** की उत्पत्ति करता है, वहां अपनी ऐसी क्रिया से अपने विचार विषयक मानसिक अंग को **कलुषित** करके अपने आत्मा को भी **रोगी वा विकृत** बनता है। इत्यादि।

प्र० । क्या “करामातों” वा “मोजज़ों” वा “अलौकिक” वा “अदभुद क्रियाओं” के नाम से नाना प्रकार की जो जो कहानियां प्रचलित की गई हैं, वह भी सब मिथ्या है **?**

उ० । वह भी जहां तक नेचर की **सच्ची घटनाओं** और **उसके सच्चे और अटल नियमों के विरुद्ध हैं**, वहां तक अवश्य **पूर्णत**: **मिथ्या है।** यथा :---

ईश्वर नामक देवता के अमुक “पैगम्बर” ने अपनी मुर्दा सोटी को ज़िंन्दा सांप बना दिया था। अमुक सम्प्रदाय के संस्थापक नेचर के नियमानुसार किसी स्त्री के गर्भ में नहीं आए थे, किन्तु वह स्वर्ग से उतर कर और एक सफ़ेद हाथी का रूप धारण करके उसकी गर्भस्थली में घुस गए थे, और फिर वहां से मनुष्य के बच्चे का रूप धारण करके उत्पन्न हुए थे। अमुक सम्प्रदाय के संस्थापक एक ऐसी कुमारी कन्या से उत्पन्न हुए थे, कि

जिसका किसी पुरुष के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं हुआ था। अमुक जन ने पानी को शराब बना दिया था। अमुक जन ने कुछ रोटियों को जो दो जनों का भी पेट भरने के लिए काफी न थी, अपनी इच्छा से सैंकड़ों गुणा अधिक बढ़ाकर हज़ारों जनों को भोजन खिला दिया था। अमुक पुरुष ने किसी जन के एक पूर्णत: मरे हुए शरीर को फिर ज़िंन्दा कर दिया था। अमुक नबी जब धूप में चलते थे, तब उनके शरीर की छाया ज़मीन पर नहीं पड़ती थी। जिस समय इस पृथ्वी पर कोई मनुष्य न था, तब ईश्वर नामक एक देवते ने अपनी इच्छा से हठात कितने ही जवान जवान नर और नारी पैदा कर दिए थे, कि जो किसी स्त्री के गर्भ से और किसी बच्चे के रूप में उत्पन्न नहीं हुए थे; और यद्यपि वह कोई भाषा न जानते थे, क्योंकी उन्हें भाषा सिखाने के लिए उनके माता पिता आदि कोई जन पहले से वर्तमान न थे, तथापि उस देवता ने जब उनमें से कुछ जनों के हृदयों में एक ख़ास भाषा के कुछ वचन रचकर प्रकाशित किये, अथवा उस भाषा में कुछ बातें उनके हृदयों में पहुचाई, तब वह उसी समय उन्हें समझने और उनकी व्याख्या करने के योग्य बन गए। किसी देवता ने एक रानी को एक ऐसी बटलोही दी थी, कि जिससे वह रानी जितने प्रकार के और जितनी मात्रा में भोजन की वस्तुएं चाहती थी, उतने प्रकार की और उतनी मात्रा में वह सब खाद्य वस्तुएं उस बटलोही से निकल आती थीं, और वह अकेली एक एक समय में उसके द्वारा हज़ारों मनुष्यों को तरह तरह के खाने खिला देती थी। किसी देवता के एक भक्त ने एक बार मनुष्य की एक मुर्दा लाश को हलवे की शकल में बदल दिया था। किसी ईश्वर नामक देवते के किसी भक्त के पास जब एक बार कई हज़ार आदमी संगत के लिए आए, और उनके भोजन का कोई और बंदोबस्त न हो सका, तब उस भक्त ने अपने एक शिष्य को बुला कर कहा, कि तुम अमुक वृक्ष पर चढ़कर उसे हिलाओ, और उस से तुम्हें संगत के भोजन के लिए सारी चीज़ें मिल जाएंगी, और जब उन्होंने उस पेड़ पर चढ़कर उसे हिलाना शुरू किया, तब उस में से नाना प्रकार की इतनी मिठाइयां आदि वस्तुएं गिरीं, कि जिनसे हज़ारों जनों के पेट भर गए। इत्यादि। इस प्रकार की सैंकड़ों **मिथ्या बातें**, करामातों वा मोजज़ों वा अलौकिक क्रियाओं के नाम से प्रचलित की गई हैं।

प्र० । क्या अपने मन मन में भी किसी प्रकार की मिथ्या का साथ देने से किसी मनुष्य

के आत्मा का पतन होता है ?

उ० । निश्चय।

प्र० । वह किस प्रकार है ?

उ० । जब कोई मनुष्य किसी के सम्बन्ध में अपने **घमंड वा घृणा भाव** आदि के कारण **उल्टा दृष्टा** बन जाने पर उसके सत्य रूप वा उसके किसी सत्य गुण को **सत्य के विरुद्ध देखता और विश्वास करता है**, और ऐसी दशा में पहुँच कर उसके सम्बन्ध में **अपने मन में किसी प्रकार की मिथ्या चिन्ताएं** करता है;

जब कोई मनुष्य किसी दु:ख से बचने वा किसी सुख की प्राप्ति के लिए अपने वा किसी और के सम्बन्ध में अपनी किसी सद-प्रतिज्ञा के तोड़ने के निमित **अपने मन में** कोई मिथ्या चिन्ता करता है;

जब कोई मनुष्य अपने **किसी अपराध वा पाप के छिपाने के निमित** अपने मन में एक वा दूसरे प्रकार के **मिथ्या बहाने वा उपाय सोचता है**;

जब कोई मनुष्य अपने आपको किसी विषय में ऐसे जनों की अपेक्षा **बढ़िया** दिखाने के निमित, कि जिन से वह सचमुच उस विषय में बढ़िया न हो, अपने मन में कोई **मिथ्या मूलक उपाय** सोचता है; इत्यादि;

तब चाहे वह अपनी किसी ऐसी **मिथ्या मूलक चिन्ता के द्वारा** किसी और की कोई **हानि** न भी करे, वा न भी कर सके; तो भी वह अपनी ऐसी **प्रत्येक मिथ्या मूलक चिन्ता के द्वारा** अपने आत्मा को **पतित** करता है।

प्र० । यदि कोई मनुष्य ऐसी विविध प्रकार की **मिथ्याओं का व्यवहार** करता हो, कि जिनके लिए उसे किसी राज्य-विधि से कोई दंड न मिल सकता हो, तो क्या उनके द्वारा भी उसके आत्मा का पतन होता है ?

उ० । निस्संदेह :-

यदि कोई मनुष्य **अपने किसी मिथ्या विश्वास** वा अपने **घृणा भाव** के कारण किसी के किसी सच्चे गुण को किसी के सन्मुख स्वीकार न करता हो, अर्थात उसमें उस गुण की वर्तमानता को न मानता हो;

यदि कोई मनुष्य किसी के सम्बन्ध में अपने **घृणा भाव** के कारण उसकी किसी सचमुच

की भली क्रिया को भली क्रिया स्वीकार न करता हो;

यदि कोई मनुष्य बाल्य-काल से **धर्म विषयक मिथ्या मतों का विश्वासी** और उनका **अनुरागी** बन जाने के कारण उनमें से कुछ वा सब को किसी काल में **मिथ्या जानने** पर भी **उन्हें जानबूझ कर सत्य बताता हो**; अथवा इससे भी बढ़कर उनकी पोषकता में **झूठी युक्तियाँ** देता हो;

यदि कोई मनुष्य अपने पहले के **जमें** हुए किसी **मिथ्या विश्वास** के विरुद्ध नेचर के किसी सत्य नियम वा उसकी किसी सत्य घटना को सत्य जानने पर भी उसे सत्य न कहता और सत्य न मानता हो;

यदि कोई मनुष्य किसी सोशियल वा पोलेटिकल अभीष्ट के लिए धर्म वा किसी और नाम से **जान-बूझकर** किसी प्रकार का कोई **असत्य मूलक उपाय ग्रहण करता हो**, अर्थात किसी **कपटता मूलक** पालिसी वा बर्ताव का आश्रय लेता हो;

यदि कोई मनुष्य किसी पारिवारिक वा अन्य अनुष्ठान को मिथ्या जान कर भी उसे संपन्न करता हो, वा उसका साथी बन कर उसमें योग देता हो;

यदि कोई मनुष्य अपने शरीर में जान-बूझकर भी **धर्म सूचक** एक वा दूसरे प्रकार का कोई **मिथ्या चिन्ह** रखता हो, और ऐसा करके **कपटी** बनता हो;

यदि कोई मनुष्य अपने किसी **मान बड़ाई विषयक सुख** की प्राप्ति के निमित अपने किसी पूर्वज वा अपने वंश वा अपनी वा अपने किसी पारिवारिक सम्बन्धी वा अपनी किसी वस्तु आदि की **झूठी प्रशंसा** करता हो; इत्यादि।

तो वह चाहे किसी राज्य शासन की किसी दंड-विधि के द्वारा अपराधी न भी माना जाये, तो भी वह अपनी ऐसी प्रत्येक क्रिया वा गति के द्वारा **अपने आत्मा को पतित करता है।**

प्र० । भ्रान्त और मिथ्याचारी मनुष्य में क्या अन्तर है **?**

उ० । बहुत बड़ा अन्तर है। भ्रान्त मनुष्य किसी असत्य बात को सत्य विश्वास करके वा सत्य जानकार उसे **सरल भाव** से सत्य कहता वा प्रकट करता है; अथवा उसके सम्बन्ध में कोई और साधन वा क्रिया करता है। परन्तु मिथ्याचारी मनुष्य नाना बातों वा घटनाओं **को असत्य जानकार भी उन्हें कपटता** के द्वारा और जनों के सन्मुख **झूठ मूठ सत्य बताता वा प्रकट करता है**, और उन्हें अपनी कपटता के द्वारा धोखे में डालने की चेष्टा

करता है।

प्र० । यदि कोई जन बाल्य-काल से किसी प्रकार के मिथ्या विश्वास को प्राप्त होकर **सरल भाव** से उसे किसी और के सन्मुख सत्य कहकर उसका प्रचार करता हो, तो क्या वह **मिथ्याचारी** नहीं ?

उ० । नहीं । परन्तु यदि कोई जन अपने किसी मिथ्या विश्वास के कारण किसी मनुष्य वा पशु वा अन्य अस्तित्व के सम्बन्ध में **आप कोई अपहरण वा पाप मूलक क्रिया करता** हो, अथवा किसी मनुष्य को किसी और के सम्बन्ध में किसी पाप मूलक क्रिया के करने के लिए **प्रेरणा** करता हो, तो चाहे वह उस पाप का अपने **सरल भाव** से ही प्रचार करता हो, तथापि ऐसा करके वह अपने आत्मा को **पतित** करता है यथा:-

यदि किसी जन के भीतर अपने माता पिता वा किसी और की शिक्षा से बाल्य-काल से यह विश्वास उत्पन्न हो गया हो, कि मांसहार करना, वा मांसहार वा शिकार के लिए किसी जीव का वध करना, वा अपनी पत्नी वा अपने पति के इस दुनिया में जीते हुए और विवाह करना, वा अपने धर्म के विरुद्ध किसी धर्म मत रखने वाले जन को **सताना वा निहत करना** ठीक है; और अपने इस प्रकार के विश्वास से प्रचालित होकर वह **सरल भाव से भी** कोई ऐसी क्रिया करता हो, तो भी वह उसके द्वारा अवश्य **पापी और पतित** बनता है।

प्र० । यदि कोई जन सत्य के विरुद्ध कुछ ऐसे विश्वास रखता हो, कि जिनके द्वारा वह न तो आप किसी के सम्बन्ध में **कोई पाप वा अत्याचार करता हो**, और न वह किसी और को किसी **पाप वा अत्याचार करने के लिए प्रेरणा करता हो**–यथा यह पृथ्वी किसी शेषनाग के फन वा बैल के सींगों पर ठहरी हुई है, अथवा सूर्य इस पृथ्वी के चारों ओर फिर कर उसकी परिक्रमा करता है, अथवा गंगा नदी गो लोक से अवतीर्ण हुई है, अथवा पृथ्वी गोल नहीं, किन्तु चपटी वा सपाट है; और वह इन बातों को सत्य जानकार **सरल भाव** से उन्हें औरों के सन्मुख सत्य बताता हो, तो वह मिथ्याचारी है वा नहीं ?

उ० । नहीं । परन्तु वह अपने इन मिथ्या विश्वासों के विचार से अज्ञान वा अन्धकार की अवस्था में ज़रुर है, कि जिससे अवसर पाने पर उसके लिए उद्धार पाना आवश्यक और उचित है।

प्र० । क्या किसी उपन्यास वा कहानी वा कथा वा किसी अन्य लेख की रचना में जो लोग एक वा दूसरे प्रकार की कल्पित बातों का वर्णन करते हैं, उससे वह मिथ्याचारी नहीं बनते ?

उ० । जहाँ तक कोई जन अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा **जान बूझ कर** कोई ऐसी रचना नहीं करता, कि जिसे पढ़कर कोई जन नेचर के किसी अस्तित्व वा उसके किसी विषय के सम्बन्ध में **मिथ्या ज्ञान** लाभ करे, अथवा उसकी रचना को पढ़कर किसी जन के भीतर **किसी मनुष्य वा पशु आदि के सम्बन्ध में किसी अन्याय वा अत्याचार मूलक क्रिया के करने के लिए कोई प्रेरणा उत्पन्न हो**, वहां तक वह अपनी किसी भी कल्पित रचना के द्वारा मिथ्याचारी नहीं बनता।

प्र० । क्या किसी तमाशे वा कौतूहल के द्वारा निर्दोष हर्ष लाभ करने के लिए कोई स्वांग भरना, अर्थात किसी और के रूप वा शब्द वा उसकी किसी क्रिया की नक़ल करना, और उस नक़ल के अनुसार अपने आपको कुछ और बताना वा प्रकट करना मिथ्या नहीं ?

उ० । नहीं; परन्तु यदि कोई जन ऐसी नक़ल करे, कि जो किसी और जन के सम्बन्ध में **वास्तविक अपमान मूलक** वा किसी सम्प्रदाय के लोगों के लिए बिना उचित कारण के **कष्टदायक हो**, तो उसका करना ठीक नहीं हो सकता।

प्र० । यदि कोई मनुष्य किसी से ऐसा प्रश्न करे, कि जिसका उत्तर देने के लिए वह एक ओर धर्म विषयक किसी सत्य नियम के द्वारा **बाध्य** न हो, और दूसरी ओर उसका सत्य उत्तर देने से उसकी वा किसी और की हानि होती हो, वा किसी ऐसी हानि की आशंका हो, तब वह क्या करे ?

उ० । तब वह ऐसे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने से विनयपूर्वक इन्कार दे, अर्थात वह यह कह दे, कि आपके इस प्रश्न का मैं कोई उत्तर देना नहीं चाहता। ऐसा करने का उसे पूर्ण अधिकार है।

प्र० । सत्य के विरुद्ध जान बूझकर कोई बात कहकर वा बताकर किसी चोर वा डाकू मनुष्य का पकड़ना मिथ्याचार है, वा नहीं ?

उ० । अवश्य मिथ्याचार है। इस प्रकार की जान बूझकर सब मिथ्याएं आत्मा के पतन का हेतु होती हैं, इसलिए इस प्रकार के सब प्रश्नों के सम्बन्ध में जिस **साधारण नैतिक**

नियम के जानने की ज़रूरत है, **वह यह है** :-

जब तक कोई जन अपनी **कल्पना और अनुकरण** शक्तियों से प्रेरित होकर और **जान बूझकर अपनी ओर से** अपनी किसी बातचीत वा अपने किसी संकेत (इशारे) वा अपनी **किसी रचना** वा अपने किसी **लेख वा उपदेश** आदि के द्वारा किसी मनुष्य को किसी प्रकार के भ्रम वा **मिथ्या विश्वास में ग्रस्त करने वा उसे मिथ्याचारी बनाने**, अथवा नेचर के किसी जीवित वा अजीवित अस्तित्व के सम्बन्ध में अपनी ओर से किसी जन के हृदय में किसी **अन्याय मूलक क्रिया अर्थात पाप वा अत्याचार वा हानि करने के लिए कोई प्रेरणा नहीं करता**, तब तक वह उन्हें किसी भी **उचित वा हितकर अभिप्राय** के लिए जिस प्रकार से चाहे काम में ला सकता है, और जन-समाज की विविध प्रकार की उन्नति में **सहायक** बन सकता है। परन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है, वह अपनी ऐसी प्रत्येक क्रिया के सम्बन्ध में सत्य वा हित विषयक किसी भ्रान्ति के लिए अवश्य जिम्मेवार रहता है।

****

तेईसवां अध्याय ।

मनुष्य-जगत में अन्याय वा अपहरण मूलक चिंताएं और क्रियाएं और उनके द्वारा मनुष्यों का आत्मिक-पतन ।

प्र० । अन्याय वा अपहरण-मूलक चिन्ताएं वा क्रियाएं क्या होती हैं **?**

उ० । किसी मनुष्य की केवल अपने किसी **सुख अनुराग** वा उससे उत्पन्न अपने किसी **घृणा** भाव के द्वारा प्रचलित होकर नेचर-प्रदत अपने वा किसी और जीवित वा अजीवित अस्तित्व के किसी **उचित अधिकार को नष्ट करने वाली चिन्ताएं वा अन्य क्रियाएं अन्याय वा अपहरण-मूलक चिन्ताएं वा क्रियाएं कहलाती हैं।**

प्र० । यह अन्याय वा अपहरण मूलक चिन्ताएं वा क्रियाएं कितने प्रकार की हैं **?**

उ० । मुख्यता चार प्रकार की। अर्थात :-

(1) किसी मनुष्य का नेचर के अजीवित वा जीवित जगत के किसी अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई ऐसी चिन्ता करना, कि जो उसके किसी **उचित अधिकार की हानि** करने के सम्बन्ध में हो।

(2) किसी मनुष्य का किसी और मनुष्य, वा पशु जगत के किसी जीव को कोई ऐसी शिक्षा देना कि जिससे किसी और के **उचित अधिकार की हानि** होती हो।

(3) किसी मनुष्य का अपने गठन प्राप्त शरीर के सम्बन्ध में बिना किसी उचित कर्तव्य पालन वा उचित हित साधन विषयक कारण के केवल अपने **सुख अनुरागों वा घृणा भावों** से परिचालित होकर ऐसी क्रियाएं करना जो **उसकी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हों।**

(4) किसी मनुष्य की नेचर के किसी अजीवित वा जीवित जगत के किसी भी अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐसी सब क्रियाएं कि जिन से उसके किसी **उचित अधिकार का नाश** होता हो।

परन्तु प्रत्येक मनुष्य के लिए अपने एक वा दूसरे प्रकार के **नीच अनुरागों** और अपनी

एक वा दूसरे प्रकार की **नीच घृणाओं** के द्वारा प्रचालित होने पर नेचर के जीवित और अजीवित अस्तित्वों के सम्बन्ध में किसी न किसी सीमा तक अन्याईं वा **अपहरणकारी होना अनिवार्य है**; इसीलिए उसका अपनी ऐसी विविध प्रकार की **अन्याय वा अपहरण** विषयक आंतरिक चिन्ताओं और बाह्यक कर्मों के द्वारा **अपने आत्मा** में **विविध रोगों की उत्पत्ति करना और उसे रोगी वा विकृत वा पतित बनाना भी अनिवार्य है।**

प्र० । मनुष्य अपने विविध प्रकार के अन्याय-मूलक कर्मों से नेचर के जीवित अस्तित्वों अर्थात किसी मनुष्य, पशु, उद्भिद और उसके किसी भी अजीवित पदार्थ के किसी भी **उचित अधिकार** का किस किस प्रकार से **अपहरण** वा नाश करता है **?**

उ० । वह उनके सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार का **अपहरण** करता है, वह यह हैं:-

(1) किसी मनुष्य के धन का अपहरण।

(2) किसी मनुष्य की किसी अन्य **सम्पत्ति** वा वस्तु का अपहरण।

(3) किसी मनुष्य के **मान** का अपहरण।

(4) किसी मनुष्य के **यश** का अपहरण।

(5) अपने वा किसी अन्य मनुष्य वा पशु के **स्वास्थ्य** का अपहरण।

(6) अपने वा किसी अन्य मनुष्य वा पशु वा पौधे वा जड़ पदार्थों के आकार वा रूप का अपहरण।

(7) अपने वा किसी अन्य मनुष्य वा पशु वा पौधे वा जड़ पदार्थों के किसी **सद्गुण** का अपहरण।

(8) किसी मनुष्य वा पशु के किसी **उचित सुख** का अपहरण।

(9) किसी मनुष्य वा पशु की किसी **उचित शांति** का अपहरण।

(10) किसी मनुष्य वा पशु के किसी **बल** का अपहरण।

(11) किसी मनुष्य वा पशु की नेचर-प्रदत्त **आयु** का अपहरण।

(12) किसी मनुष्य वा पशु आदि के **प्राण वा जीवन** का अपहरण।

(13) किसी मनुष्य के किसी **उचित पद** का अपहरण।

(14) किसी मनुष्य वा पशु के किसी **शारीरिक अंग** का अपहरण।

(15) किसी मनुष्य के किसी **सत्य विश्वास** का अपहरण।

प्र० । क्या इसी प्रकार के अपहरण मूलक नाना प्रकार के कर्म साधारण बोल चाल में **पाप कर्म** भी कहे जा सकते हैं **?**

उ० । जी हां ।

प्र० । क्या इस प्रकार के विविध पाप कर्म मनुष्य ही अपने अपने **सुख विषयक नीच अनुरागों** और अपनी अपनी **नीच घृणाओं** के द्वारा परिचालित होकर करते हैं, वा उनके भिन्न कोई कहलाने वाले देवते अर्थात ईश्वर, परमात्मा, लार्ड, गॉड, जहवा, अल्ला, खुदा, वाहगुरु आदि वा उनमें से किसी के कहलाने वाले अवतार वा अन्य उपास्य भी करते थे, वा करते हैं **?**

उ० । चाहे कोई साधारण मनुष्य हो, चाहे कोई जन महात्मा, महर्षि, ऋषि, संत, महंत, बुद्ध, सिद्ध, तीर्थंकर, आचार्य, गुरु, नबी; पीर, वली आदि और चाहे देवता वा देवी वा उनमें से किसी का विशेष सम्बन्धी वा भक्त वा मित्र वा अवतार आदि कहलाता हो – परन्तु यदि वह एक वा दूसरे प्रकार के **सुख विषयक नीच अनुराग** और उनसे उत्पन्न एक वा दूसरे प्रकार की नीच घृणा शक्तियां रखता हो–तो उसके लिए एक वा दूसरे प्रकार के **पाप कर्म करना और औरों को भी विविध प्रकार के पाप कर्मों की शिक्षा देना अनिवार्य है।**

प्र० । क्या **मिथ्या** बातों का प्रचार और मिथ्या मूलक आचरण रखने के भिन्न, ऐसे नामधारी देवतों आदि ने **अपहरण** विषयक **नाना पाप कर्म** आप भी किए हैं, और औरों को भी उन्होंने नाना प्रकार के **पाप कर्मों** की शिक्षा दी है **?**

उ० । जी हां। नाना धर्म सम्प्रदायों के कहलाने वाले उपास्य देवतों और उनके संस्थापकों आदि ने **आप** भी विविध प्रकार के पाप कर्म किए हैं; और अपने भिन्न उन्होंने औरों को भी **नाना प्रकार के पाप कर्मों** के करने की शिक्षा दी है। यथा :-

(1) नाना कहलाने वाले देवतों का अपने लिए मनुष्यों से विविध प्रकार के पशुओं के भिन्न मनुष्यों की भी **बलि** चाहना, और उनसे उनकी बलि लेना, और उनकी **हत्या** कराके उनके रुधिर के सुक्ष्मांशों को खाना वा पीना।

(2) किसी मनुष्य से कुपित होने पर उससे **बदला** लेने के निमित, उसकी आप **चोरी** करना, वा उसकी किसी और से चोरी करा देना।

(3) किसी मनुष्य वा पशु से कुपित होने पर उस मनुष्य वा पशु की हत्या कर देना।

(4) किसी मनुष्य पर कुपित होकर उसको अँधा कर देना, किसी पर कोप करने पर उसे बीमार कर देना, वा उसके लिए कोई और विपद उत्पन्न कर देना।

(5) किसी के साथ आप व्यभिचार करना।

(6) अपने विश्वासियों को व्यभिचार की शिक्षा देना।

(7) मांस खाने के लिए अपने विश्वासियों को पशुओं की हत्या करने की आज्ञा देना।

(8) छल कपट करना।

(9) अपने विश्वासियों को **सुरा** वा **मदिरा** और **भंग** आदि विषाक्त वस्तुओं के पीने की आज्ञा देना।

(10) अपने विश्वासी पुरुषों को एक पत्नी के जीते जी और कई कई स्त्रियों के साथ विवाह करने की आज्ञा देना; और किसी पतिहीना विधवा स्त्री को कभी और किसी दशा में भी फिर विवाह करने की आज्ञा न देना।

(11) अपने विश्वासियों को अपने किसी कहलाने वाले प्रेरित वा प्यारे जन की गप्पों को ठीक न मानने वाले जनों की हत्या करने की आज्ञा देना।

(12) अपने विश्वासियों को अपने किसी कहलाने वाले प्रेरित वा प्यारे जन की गप्पों को ठीक न मानने वाले जनों का **माल लूट** लेने की आज्ञा देना।

(13) अपने विश्वासियों को अपने किसी कहलाने वाले प्रेरित वा प्यारे जन की गप्पों को ठीक न मानने वाले जनों को **बलात** पकड़ कर **गुलाम** बनाने की आज्ञा देना। उनके देव-स्थानों वा उनके किसी संस्थापक वा गुरु आदि के स्मारक चिन्हों को **ढा देने** वा उनके घरों को **फूंक देने** आदि कर्मों के करने की शिक्षा देना।

(14) अपने विश्वासियों को अपने किसी कहलाने वाले ऋषि आदि की गप्पों को ठीक न मानने वालों को **जाती पंक्ति** और **देश से निकाल देने** की आज्ञा देना।

(15) अपने विश्वासियों को अपने किसी कहलाने वाले प्रेरित वा प्यारे जन की गप्पों को ठीक न मानने वाले जनों की स्त्रियों को छीन कर **अपनी स्त्री बना लेने** की आज्ञा देना।

(16) अपने विश्वासियों को विवाहित पत्नियों के भिन्न किसी जन की गुलाम वा दास बनाई हुई स्त्री के साथ भी **व्यभिचार** करने की आज्ञा देना। आदि।

प्र० । क्या इस प्रकार के कहलाने वाले परन्तु महा पापी **अधम उपास्य देवतों** में से जिन जिन के विषय में यह कहा जाता है, कि वह साधारण मनुष्यों के मरने के अनन्तर तुरंत ही वा किसी काल के विशेष दिन में उनके पाप कर्मों का हिसाब लेने और उन्हें उसके विषय में नरक वा पुनर्जन्म आदि विषयक दंड देने अथवा किसी की सिफ़ारिश वा उन के किसी विश्वास वा उनकी किसी क्रिया से **खुश होकर स्वर्ग** आदि के सुखों का इनाम देने के लिए मजिस्ट्रेट वा जज बनकर बैठेंगे; उनका ऐसा विश्वास **पूर्णत**: **मिथ्या** नहीं **?**

उ० । निश्चय पूर्णत: मिथ्या है; क्योंकि यदि ऐसे सैंकड़ों जनों के लिए, कि जो इन कहलाने वाले मजिस्ट्रेट देवताओं की अपेक्षा **कम पापी** होते हैं, अपने पाप कर्मों के लिए किसी कहलाने वाली न्याय-विधि के अनुसार **नरक** में पड़ कर वा **पुनर्जन्म पाकर** विविध प्रकार के दु:ख-जनक दंडों का भोगना **आवश्यक हो**,

तो उन कहलाने वाले देवता मजिस्ट्रेटों को जो उनकी अपेक्षा **अत्यंत अधिक पापी हों**, उसी कहलाने वाली न्याय-विधि के अनुसार उन नरकों से बढ़कर किसी **महाघोर नरकों में डाले जाने वा किसी** अगले जन्म में किसी **मोरी के कीड़े आदि बनने की क्यों आवश्यकता नहीं** ? अवश्य है। परन्तु मिथ्या धर्म मतों के विश्वासी किसी ऐसी सच्ची बात को ग्रहण करना नहीं चाहते और नहीं करते।

प्र० । यदि कोई मनुष्य ऐसे बुरे कर्म करता हो, कि जो किसी राज्य शासन की दंड विधि में अपराध न माने गए हों, तो क्या उनके द्वारा भी उसके आत्मा का पतन होता है **?**

उ० । जी हां, अवश्य होता है। यथा:-

यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार के खेल तमाशे, व्यभिचार वा जुए आदि के सुख का अनुरागी बन कर अपने धन वा अपनी अन्य सम्पत्ति का **अपव्यवहार** वा नाश करता हो;

यदि कोई मनुष्य अपने घमंड भाव से प्रचालित होकर अपने आपको औरों की अपेक्षा बढ़िया दिखाने और औरों के द्वारा प्रशंसित होने का सुख लाभ करने वा और के द्वारा अप्रशंसित होने के **डर** से अपने धन वा अपनी अन्य सम्पत्ति का **अपव्यवहार** वा नाश करता हो;

यदि कोई मनुष्य अपने धन वा अपनी अन्य सम्पत्ति की प्राप्ति के सुख का अनुरागी होकर बहुत शीघ्र धनी और सम्पत्तिमान बन जाने के निमित अपनी योग्यता से इतना

अधिक कर्ज़ा लेकर कोई **व्यवसाय** करता हो, कि जिस कर्जे को वह अदा न कर सकता हो, वा कोई सट्टा करके वा बाज़ी लगा के किसी **जुए विषयक कुव्यसन के द्वारा** बहुत शीघ्र ऐसा बन जाने की चेष्टा करता हो;

यदि कोई मनुष्य हिंसा विषयक सुख का अनुरागी होने के कारण उसके सुख की प्राप्ति के लिए किसी मनुष्य वा पशु को सताता वा छेड़ता वा किसी पशु की हत्या करता हो, वा **उनके किसी भी उचित अधिकार को अपहरण करता हो**;

यदि कोई मनुष्य अपने धन वा अपनी उस सम्पत्ति को जिस पर उसका पूर्ण अधिकार हो, उसका अनुरागी और दास बन जाने के **कारण** किसी **परोपकार** विषयक काम के लिए **दान** करना न चाहता हो, और दान न करता हो;

यदि कोई मनुष्य अपने धन वा अपनी किसी अन्य सम्पत्ति को जिस पर उसका पूर्ण अधिकार हो, किसी **परोपकार** विषयक काम के निमित दान कर के औरों का और अपना हित साधन करने के स्थान में अपने किसी मोह बंधन के कारण उसे **किसी अनधिकारी वा कुपात्र जन वा जनों को ही दे देना चाहता हो**, **और दे देता हो**;

यदि कोई मनुष्य धन का अनुरागी होने पर यह जानकार कि उसका अपनी लड़की की पालना और उसके विवाह आदि में जो रुपया खर्च होगा, उसके बदले में उसे उस लड़की से कुछ न मिलेगा, उसकी पालना और रक्षा के निमित **यथेष्ट ध्यान न देता हो**, और **यथेष्ट यत्न** न करता हो, और उसकी ऐसी क्रिया से वह लड़की **अकाल मृत्यु** को प्राप्त हो जाती हो;

यदि कोई मनुष्य अपनी किसी विवाहित पत्नी के स्थूल देह के साथ जीते हुए किसी और स्त्री से विवाह करता हो, वा कोई स्त्री अपने इस प्रकार से जीते हुए विवाहित पति को त्याग कर किसी और पुरुष के पास जा रहती हो;

यदि कोई मनुष्य अपनी संतान का उसकी स्वाधीनता विषयक **उचित वयस से पहले और उसकी सम्मति के बिना** किसी के साथ विवाह कर देता हो;

यदि कोई मनुष्य नशे के सुख के लिए एक वा दूसरे प्रकार की कोई नशेदार अर्थात विषाक्त वस्तु आप खाता वा पीता हो, वा इसी अभिप्राय के लिए उसे किसी और को देता हो, वा उसके ऐसे व्यवहार के लिए कोई **प्रेरणा** करता हो;

यदि कोई मनुष्य मांस खाता हो;

यदि कोई मनुष्य अपने धन, वा अपनी किसी और वस्तु वा अपने तन आदि विषयक किसी सुख का दास होने के कारण किसी जन को किसी धन वा किसी भी वस्तु के देने के निमित जो समय नियत कर चुका हो, और ऐसा करने के लिए जो सद-प्रतिज्ञा कर चुका हो, वा किसी से किसी नियत समय में मिलने के लिए कोई सद प्रतिज्ञा कर चुका हो; वा किसी के साथ किसी नियत समय में किसी काम के पूरा कर देने की सद-प्रतिज्ञा कर चुका हो; परन्तु अपनी किसी ऐसी प्रतिज्ञा को बिना किसी सच्चे, उचित और यथेष्ट कारण के तोड़ता रहता हो; इत्यादि ;

तो वह अपने ऐसे बुरे कर्मों के निमित चाहे किसी राज्य की **किसी दंड विधि से अपराधी** न भी समझा जाए वा कोई दण्ड न भी पाये, तो भी वह उनके द्वारा अपने **आत्मा का अवश्य पतन करता है।**

****

चौबीसवां अध्याय ।

मनुष्यात्माओं के पतन के बड़े बड़े लक्षण ।

प्र० । मनुष्य आत्माओं के पतन के लक्षण क्या क्या हैं **?**

उ० । मनुष्य आत्माओं का पतन जिन चार प्रकार के बड़े बड़े लक्षणों से जाना जा सकता है**,** वह यह हैं **:--**

1. **आत्मिक कठोरता और उसके द्वारा उन में आत्मिक अन्धकार और अन्धता की उत्पत्ति।**

प्र० । आत्मा की कठोरता क्या होती है **?**

उ० । जो मनुष्य जिन जिन नीच **सुखों का** बोधि हो कर उनका **अनुरागी वा दास बन जाता है**, और उन्हीं **सुखों** की प्राप्ति को **अपना लक्ष्य समझता है**, और उन्हीं की प्राप्ति के सम्बन्ध में **सोच विचार करता है**, और उन्हीं की प्राप्ति के लिए अपनी विविध **शक्तियां खर्च करता है**, वह अपनी विविध प्रकार की गतियों से जिन विविध प्रकार की मिथ्याओं और विविध प्रकार के अहितों की उत्पत्ति करता है**,** उन की उत्पत्ति करके वह नेचर के उस विकास विषयक नियम को भंग करता रहता है**,** कि जो **सत्य** और **शुभ** का पथ ग्रहण करने से ही किसी आत्मा में पूरा होता है।

नेचर के इस महान नियम के भंग करने से मनुष्यात्मा की गठन में एक ऐसी बुरी दशा उत्पन्न होती है**,** कि जिससे वह धीरे धीरे अपने आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध **में सत्य के देखने की योग्यता को**–यदि कोई ऐसी योग्यता उसे अपने जन्म काल से मिली हो–खोता जाता है**;** और उसके पूर्णत**:** खो चुकने पर **पूरा अन्धा** बन जाता है। मनुष्यात्मा की यही अन्धता की दशा उसकी **कठोरता** की दशा कहलाती है।

प्र० । किसी आत्मा में इस कठोरता के उत्पन्न होने और बढ़ने से उसकी किस प्रकार से हानि होती है **?**

उ० । ज्यों ज्यों किसी मनुष्य का आत्मा **कठोर** होता जाता है**,** त्यों त्यों उसके भीतर उस

सर्वोच्च ज्योति की किरणों के प्रवेश करने का मार्ग बंद होता जाता है, कि जिसका नाम **देव-ज्योति** है, और जिसके प्रवेश करने से ही उसे अपने आत्मा के अस्तित्व, उसके रोगों वा उसकी पतित दशा, उस पतित दशा से उसकी मोक्ष और उसमें बल उत्पादक उच्च शक्तियों के विकास की आवश्यकता और उनकी प्राप्ति की विधि आदि के विषय में **विविध प्रकार के सत्य दिखाई दे सकते हैं**, और उनके विषय में उसे वह **दुर्लभ ज्ञान** मिल सकता है, कि जिसे **सत्य धर्म का ज्ञान** कहते हैं।

जैसे स्वच्छ कांच के भीतर से निकल कर सूर्य की किरणें किसी बंद घर में प्रवेश करती हैं, परन्तु वह उस घर के किवाड़ों की लकड़ी वा उसकी दीवारों के भीतर से नहीं घुस सकतीं, वैसे ही यदि किसी मनुष्य का आत्मा इतना **कठोर** बन गया हो, कि उसमें से देव-ज्योति की सर्वोच्च किरणें प्रवेश न कर सकें, तो उसके आत्मा में वह **उजाला** नहीं होता, और नहीं हो सकता, कि जिसके होने से ही **उसकी आत्मिक दृष्टि के सन्मुख उसका अपना वास्तविक रूप प्रकट हो सकता है**; और वह अपने आत्मा के अस्तित्व और उसकी गठन और अपने किसी नीच अनुराग वा अपने नीच घृणा-मूलक किसी **पतनकारी विश्वास वा अपनी किसी चिन्ता वा क्रिया को अपनी मानसिक दृष्टि** के द्वारा अपने लिए **हानिकारक रूप में देख वा उपलब्ध कर सकता है**, और अपने आत्मा और उसकी दशा आदि के विषय में कोई सत्य ज्ञान लाभ कर सकता है। इसलिए ऐसा आत्मा अपने अस्तित्व और उसके पतन वा रोगों और उनके फलों के विषय में पूर्णत: अज्ञानी वा अबोधि वा अंधकार की दशा में रहता है।

प्र० । तब एक ओर जो लोग अपने **आत्मिक अंधकार** के कारण अपने आत्मा के गठन -प्राप्त अस्तित्व और उसके रोगों और उसकी बुरी चिन्ताओं वा बुरे कर्मों आदि के विषय में विविध सत्यों के देखने के निमित जिस **देव-ज्योति** की आवश्यकता है, उससे शून्य हों, और दूसरी ओर उनके आत्मा इतने **कठोर** बन गए हों, कि उनमें वह ज्योति प्रवेश भी न कर सकती हो, तो क्या यही वह लोग हैं कि जो अपने आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में सत्य बोधों वा ज्ञान के विचार से **पूर्णत: अंधे** होते हैं **?**

उ० । जी हां । ऐसे सब जन–चाहे वह किसी भी कहलाने वाले “धर्म सम्प्रदाय” से सम्बन्ध रखते हों, और चाहे वह कोई भी धर्म मत मानते हों, और चाहे वह कोई भी धर्म

मत न मानते हों, और चाहे वह किसी भी देश के रहने वाले हों–**आत्मिक अंधकार से ग्रस्त होते हैं। और इस घोर अन्धकार वा अज्ञान की दशा** में रहकर अपने अस्तित्व की **मुख्य और सार वस्तु अर्थात आत्मा की महा हानि करते हैं।**

प्र० । तब तो मनुष्य के लिए उसकी यह **आत्मिक अन्धकार की दशा वा उसकी आत्मिक अन्धता महा भयानक दशा है** ?

उ० । निश्चय। जैसे मोतियाबिंद के उत्पन्न और पूर्ण रूप से बढ़ जाने पर मनुष्य अपनी शारीरिक आखों के द्वारा सूर्य की रोशनी में भी कुछ नहीं देख सकता, क्योंकि सूर्य की किरणें उसके ठोस मोतियाबिंद के कारण उसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकतीं, और उसके आस पास की किसी वस्तु के आकार की छवि को उस की मानसिक दृष्टि के सन्मुख नहीं ला सकतीं, और इसलिए वह मानसिक दृष्टि रखकर भी उन वस्तुओं के रूप को नहीं देख सकता; वैसे ही जिन जिन मनुष्यों का आत्मा अपने आत्मिक रोगों के कारण इतना **कठोर** हो जाता है, कि फिर किसी शुभ अवसर के मिलने पर भी उसके आत्मा को ज्योतिर्मान करने वाली **देव-ज्योति** की कोई किरण उसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकती; तब **उसका आत्मा पूर्ण अन्धकार की ही दशा में रहता है**, और उसके रूप अथवा उसके भीतर की किसी बुरी वा पतित दशा आदि की कोई छवि उसकी मानसिक दृष्टि के सन्मुख प्रकट नहीं होती, और इसीलिए वह **उनके सत्यों के विषय में पूर्णत: अँधा वा अज्ञानी रहता है।**

अब यदि ऐसे पूर्णत: अंधे आत्माओं को बिठा कर उन्हें आत्मा के अस्तित्व और उसके नीच रगों वा उसकी नीच घृणाओं वा उन से उत्पन्न उसके विविध रोगों वा उन से मोक्ष की आवश्यकता वा विधि वा उसमें बल उत्पादक उच्च भावों की आवश्यकता और उनकी प्राप्ति की विधि आदि के सम्बन्ध में किसी सत्य का वर्णन किया जाय, तो भी उन के महा कठोर और इसीलिए पूर्ण अंधकार ग्रस्त आत्माओं के सन्मुख उन विषयों के सम्बन्ध में **कोई सत्य प्रकाशित नहीं होता**; अथवा धर्म के नाम से वह जिस जिस प्रकार के विविध **मिथ्या विश्वासों में लिप्त होते हैं**; उनके विषय में उन्हें कोई सत्य-ज्ञान दायिनी पुस्तक पढने के लिए दी जाय, और वह उसे पढ़ भी सकते हों, और वह उसे पढ़ भी लें, तो भी उन्हें अपने **उन मिथ्या विश्वासों में से** किसी विश्वास का **मिथ्या रूप वा मिथ्यापन**

दिखाई नहीं देता, और वह उसे पाठ कर लेने के बाद भी पहले की न्याईं **अंधे के अंधे ही रहते हैं।**

प्र० । जैसे आंख बनाने वाले विशेष विशेष चतुर जन ओपरेशन करके जब किसी मोतियाबिंद के बीमार की आंख से उस मोतियाबिंद को निकाल देते हैं, तब फिर सूर्य की किरणें उनकी आंख के भीतर से प्रवेश करके उसके आस पास की एक वा दूसरी वस्तु की छवि को उसकी मानसिक दृष्टि के सामने रख देती हैं, और वह उन्हें देखने के योग्य बन जाता है, वैसे ही आत्मा के रोगों के कारण उसमें जो **कठोरता** उत्पन्न हो जाती है, क्या वह इसी प्रकार की किसी विधि से दूर नहीं हो सकती ?

उ० । जी नहीं। मोतियाबिंद का बीमार तो अपने मन में यह स्पष्ट जानता है, कि वह पहले बीमार न था, और अब बीमार हो गया है, और उस बीमारी के कारण कई प्रकार की हानियां और कई प्रकार का कष्ट भोग रहा है, और इसीलिए वह अपने उस रोग से अपनी मोक्ष भी चाह सकता है, और इसीलिए मोतियाबिंद के सैंकड़ों बीमार उस रोग से अपनी मोक्ष चाहते हैं; परन्तु करोड़ों आत्मा अपने **सुख विषयक नीच अनुरागों** और उनसे उत्पन्न अपनी **नीच घृणाओं के दास रहकर** अपने आपको उनके कारण बीमार वा रोगी नहीं जानते, और केवल यही नहीं कि उन्हें अपनी किसी **सुखकर परन्तु पतनकारी** चिन्ता वा क्रिया वा उसके द्वारा किसी पतन से कोई कष्ट अनुभव नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत उन्हें उल्टा सुख मिलता है, और वह इस दशा में इतने अंधे हो जाते हैं, कि फिर वह अपने किसी कहलाने वाले परन्तु झूठे उपास्य देवते और अपने कहलाने वाले परन्तु झूठे धर्म शिक्षकों के भिन्न किसी सच्चे उपास्य देव वा सच्चे धर्म शिक्षक को उसके सच्चे उपास्य वा सच्चे धर्म शिक्षक आदि के रूप में देखने के ही योग्य नहीं रहते, और वह अपनी बढती हुई उसी आत्मिक पतित और अपनी दिनों दिन बढ़ने वाली अंधकार ग्रस्त दशा में रहकर पूर्णत: संतुष्ट और प्रसन्न रहते हैं।

प्र० । क्या अन्धकार ग्रस्त मनुष्यात्माओं में कुछ ऐसे भी होते हैं, कि जिनके आत्मा यदि **पूर्णत**: **कठोर न बन गए हों**, तो अवसर मिलने पर उनमें **देव-ज्योति** दाता की देव-ज्योति की कुछ किरणें प्रवेश कर सकती हैं, और वह उस देव-ज्योति की उन किरणों को पाकर अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने अस्तित्व और उसके आत्मिक रोगों और रोगों के

कारणों और फलों आदि के विषय में एक वा दूसरे **सत्य** को देख सकते हों **?**

उ० । जी हाँ । जो मनुष्य आत्मा पूर्ण रूप से कठोर न बन गए हों**,** उनमें अनुकूल अवसर के उत्पन्न होने पर **आत्म-प्रदर्शक देव-ज्योति** की किरणें अवश्य प्रवेश कर सकती हैं**,** और वह उनके आत्माओं को एक वा दूसरी सीमा तक ज्योतिर्मान भी कर सकती हैं**,** और उनके किसी मिथ्या धर्म मत वा विश्वास वा उनकी किसी बुरी क्रिया आदि को मिथ्या और बुरे रूप में दिखा सकती हैं**,** परन्तु जिन मनुष्यों के आत्मा पूर्णत: कठोर हो जाते हैं**,** उनकी ऐसी अन्धता फिर कभी और कहीं दूर नहीं हो सकती**;** और उनके लिए जब तक वह जियें अन्धकार ग्रस्त और अंधे रहना और इसी दशा में दिनों दिन **पतित** होते जाना **अनिवार्य** है।

2 **उलटी दृष्टि ।**

प्र० । उलटी दृष्टि किसे कहते हैं **?**

उ० । किसी मनुष्यात्मा में ऐसी दृष्टि का उत्पन्न हो जाना कि जिससे वह नेचर की नाना बातों को **उलटे रूप में देखता हो**; अर्थात् नेचर की नाना बातों में जो बात सत्य हो उसे मिथ्या**;** और जो मिथ्या हो उसे सत्य**,** और जो हितकर हो उसे अहितकर**,** और जो अहितकर हो उसे हितकर रूप में देखता और विश्वास करता हो।

प्र० । यह तो बड़ी भयानक दशा है **!!**

उ० । जी हाँ। परन्तु मनुष्य में उसके सुख विषयक नीच अनुरागों और उससे उत्पन्न उसके घृणा भावों के कारण नेचर के अटल नियमानुसार उसकी नाना बातों के सम्बन्ध में ऐसी **उलटी दृष्टि** का उत्पन्न हो जाना **अनिवार्य** है।

प्र० । वह किस प्रकार **?**

उ० । जिस नेचर की ही **शक्ति** और उसके जड़ पदार्थों से मनुष्य का अस्तित्व बना है**,** जिस नेचर ने ही उसके अस्तित्व को प्रकट किया है**,** जिस नेचर के ही विविध अन्य अस्तित्वों की सहायता से वह **जीता** वा जी सकता है**,** जिस नेचर के ही जीवन वर्द्धक अटल नियमों को भंग करने से उसके अस्तित्व का **पतन** और फिर इस पतन के जारी रहने से उसका **नाश** होता है**;** और जिस नेचर के सत्य और शुभ नियमों के ज्ञान और

पालन से उसके अस्तित्व की **रक्षा** और **शुभ** हो सकता है, उस नेचर के इस सत्य रूप को वह उलटे रूप में देखता है । अर्थात् :-

1 . ऐसे **ही उल्टा दृष्टा** जनों में से कितने ही उलटा दृष्टा जन नेचर में जो कुछ है, उसे केवल एक **शक्ति** के ही रूप में देखते और विश्वास करते हैं, और उसी शक्ति को **सत्य** और **नित्य** मानते हैं; और उसमें जो कुछ जड़ है, उसकी **वास्तविक** और **नित्य** सत्ता को वास्तविक और नित्य नहीं देखते और नहीं मानते, किन्तु उसे स्वप्नवत और अनित्य मानते हैं।

2. ऐसे **ही उल्टा दृष्टा** जनों में से कितने ही जन नेचर में जो कुछ है, उस सबको केवल जड़ रूप में ही देखते हैं, और जड़ को ही **सत्य** और **नित्य** मानते हैं, और उसमें जो जो शक्तियाँ हैं, उनका **जड़ से ही प्रकाश** मानते हैं, और उनकी किसी **वास्तविक और नित्य** सत्ता को नहीं देखते और नहीं मानते।

3. ऐसे उलटा दृष्टा जनों में से करोड़ों जन अपने अस्तित्व और अपनी अधिकृत नाना वस्तुओं को **एक मात्र सत्य और पूर्ण नेचर का अंश** और इसीलिये उन्हें उसी नेचर के विकास विषयक शुभ कार्य में सेवाकारी होने में उनकी सफलता के देखने के स्थान में उसके उलट उन्हें अपने विविध प्रकार के सुखों की प्राप्ति के लिए काम में लाने में ही उनकी सफ़लता देखते हैं।

4. ऐसे उलटा दृष्टा जनों में से लाखों जन एक वा दूसरे प्रकार के काम करने के योग्य होकर भी आलस्य सुख के अनुरागी होने के कारण **निकम्में** रहने में अपना **लाभ** और किसी आवश्यक परिश्रम के करने में अपनी **हानि** देखते हैं।

5. ऐसे उलटा दृष्टा जनों में से लाखों जन धन वा अन्य सम्पत्ति के अनुरागी बनकर उसके लगातार बढ़ाने में ही अपने जीवन की सफ़लता देखते हैं, और यदि वह कृपण बन जाने पर उसे अपने वा अपने आश्रित जनों की सच्ची शारीरिक आवश्यकताओं के लिए भी यथेष्ट रूप से काम में न ला सकें और न लावें, तो उसमें अपनी कोई **हानि** नहीं किन्तु अपना लाभ देखते हैं।

6. ऐसे उलटा दृष्टा जनों में से लाखों लोग अपने धन, अपनी सम्पत्ति, अपनी किसी शारीरिक शक्ति, अपनी किसी सोच विचार विषयक मानसिक शक्ति वा अपनी किसी

विद्या, वा अपने किसी हुनर को **सच्चे परोपकार** विषयक कामों के निमित्त पूर्णत: वा अधिकांश रूप में **दान** करने और उसके द्वारा अपना **आत्मिक हित** और औरों का **भला** करने की अपेक्षा उन्हें इस प्रकार से दान न करने और उन्हें अपनी सन्तान वा अन्य सम्बन्धियों को देने में ही अधिक लाभ देखते हैं।

7. ऐसे उलटा दृष्टा जनों में से करोड़ों जन अपने विविध प्रकार के सुखों की प्राप्ति के निमित्त विविध प्रकार की मिथ्या, कपटता, प्रवंचना, विश्वास- घातकता और नाना प्रकार की अन्याय वा अत्याचार-मूलक क्रियाओं के करने में अपनी कोई आत्मिक हानि नहीं देखते, किन्तु ऐसा करने में अपनी बड़ी चतुराई और अपना बहुत बड़ा लाभ देखते हैं।

8. ऐसे उलटा दृष्टा जनों में से लाखों जन अपने पिता माता आदि के मरने और उनके धन और उनकी सम्पत्ति पर अधिकार पाने और आप भली भांति कमाकर अपनी और अपने आश्रित जनों की पालना करने की योग्यता रखने पर भी, उनके उस सारे धन वा उनकी उस सारी सम्पत्ति वा उसके किसी बड़े अंश को **उनके आत्मिक शुभ वा औरों के किसी शुभ के निमित्त दान** करने के स्थान में उसे **अपने वा अपनों के सुख के लिए ही** काम में लाने में **अधिक लाभ** देखते हैं।

9. ऐसे उल्टा दृष्टा करोड़ों जन नाना सुखों के बोधि और उनके अनुरागी होकर **शुभ** के बिरुद्ध उन सुखों की प्राप्ति को ही अपना **सत्य लक्ष्य** देखते हैं कि जो **लक्ष्य सत्य नहीं।**

10. ऐसे उल्टा दृष्टाओं में से लाखों जन अपने अपने आत्मा के गठन प्राप्त रूप और उसके पतन और उसके जीवन सम्बन्धी नाना सत्यों के विषयों में पूर्ण अबोधि और अज्ञानी होकर और इसलिए धर्म विषयक कोई सत्य ज्ञान न रखकर भी, अपने कुसंस्कार -जात अभ्यास के कारण किसी ऐसे जन को पूर्णत: भ्रांत और पथ भ्रष्ट देखते हैं, कि जो **देवात्मा की आत्म-प्रकाशक देव-ज्योति** के पाने का सुअवसर पाकर धर्म के विषय में नेचर सम्मत कुछ सत्य ज्ञान लाभ करने के योग्य हो चुका हो।

11. ऐसे उल्टा दृष्टा जनों में से लाखों जन औरों के भिन्न अपने किसी सच्चे उपकारी और हिताकांक्षी की ओर से भी अपनी किसी मिथ्या वा पाप-मूलक **परन्तु सुखदायक** क्रिया के विरुद्ध कोई उपदेश वा कोई बात सुनकर जब अपने उस सुख अनुराग पर आघात पाकर उसके प्रति **घृणा भाव** से भर जाते हैं, तब अपने उस **घृणा भाव** के कारण

उसे मित्र के स्थान में शत्रु के रूप में देखते हैं, और जिनके साथ वह अपने एक वा दूसरे प्रकार के नीच सुख अनुराग से जुड़े हुए होते हैं, और जो उनके आत्मिक पतन का कारण होते हैं, उन्हें शत्रु के स्थान में मित्र के रूप में देखते हैं।

12. ऐसे उल्टा दृष्टा जनों में से लाखों लोग अपने अहं अनुराग-जात **घमंड भाव** के कारण उन नाना जनों को जो किसी विषय में अपने बोध वा ज्ञान के विचार से उन से वास्तविक रूप में बढ़िया होते हैं, अपनी अपेक्षा **घटिया देखते** हैं; जबकि उस विषय में वह आप न कोई बोध रखते हैं, और न कोई सत्य ज्ञान रखते हैं। इत्यादि ।

3. **नाना अनावश्यक और आत्मा के लिए महा हानिकारक दुःखों की उत्पत्ति ।**

(1) **शरीर के सम्बन्ध में विविध प्रकार के महा हानिकारक कष्ट और उसकी अकाल मृत्यु करने वाले दुःख।**

करोड़ों मनुष्य **स्वाद-सुख**, **नशे-सुख**, **काम-सुख**, **और आलस्य-सुख** के अनुरागी बनकर अपने शरीर के विविध पाचनकारी और अन्य अंगों पर इतना **अन्याय वा अत्याचार** करते हैं, कि जिससे उनके **वह अंग बिगड़ जाते हैं**, और वह अपना अपना काम **ठीक तरह से** नहीं कर सकते। इन अंगों के ठीक काम न करने से उनके ख़ून के **विषाक्त पदार्थ** उनके शरीरों से भली भान्त बाहर नहीं निकलते, और वह उनके शरीरों में पड़े रहकर उनमें नेचर के अटल नियमानुसार **नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति करते हैं**, और इन रोगों के उत्पन्न हो जाने से उनकी स्वास्थ्य नष्ट हो जाती है, और उनमें कई प्रकार के कष्टों **वा दुःखों** की उत्पत्ति हो जाती है, और हज़ारों जनों के यह कष्ट इतने भयानक हो जाते हैं, कि उनके कारण ऐसे रोगी मनुष्य बहुत बुरी तरह से तड़पते, रोते और चिल्लाते हैं; और उनमें से कितने ही जन उन कष्टों और दुःखों के **सहने का बल न रखने पर** और उनसे अत्यंत तंग आकर अपने हाथ से ही अपने उस शरीर की (कि जिस में वह पहले अपने हाथ से एक काँटा वा सुई तक चुभोना पसंद नहीं करते थे) **हत्या** तक करने के लिए तैयार हो जाते हैं, और ऐसी दशा में सैंकड़ों जन अपने अपने **शरीर की हत्या** कर लेते हैं। फिर जो लोग एक एक समय में किसी प्रकार के ऐसे महा कष्टों और दुःखों को पाकर

अपने अपने शरीर की हत्या नहीं भी करते, वह भी अपने नाना प्रकार के **अमिताचार** (**बद परहेजी**) **से उसमें जिन कई प्रकार के** असाध्य रोगों की उत्पत्ति कर लेते हैं, उनके कारण वह **वर्षों** तक और कई दशाओं में अपने इन **अमिताचार वा असंयम** विषयक अत्याचारों के कारण **सारी उम्र तक** उनके दुःख भोगते हैं।

फिर ऐसे लोगों में से जिन जिन के मस्तिष्क बहुत खराब हो जाते हैं, वह पागल हो जाते हैं।

इसी प्रकार जिन के शरीरों में सांघातिक कीड़ों के उत्पन्न हो जाने से क्षयी (तपेदिक) आदि रोग पैदा हो जाते हैं- और ऐसे रोग अनेक बार जवानी से पहले वा जवानी की उम्र में ही उत्पन्न हो जाते हैं- उनके शरीरों की **आयु** बहुत घट जाती है, और ऐसी दशा में लाखों जनों की **छोटी वा जवानी की उम्र में ही मृत्यु हो जाती है।**

(2) **मोह बन्धनजात आत्मा के लिए विविध प्रकार के महा हानिकारक दुःख ।**

लाखों पुरुष अपनी पत्नियों, और लाखों स्त्रियां अपने पतियों, और ऐसे सब जन अपने अपने पुत्रों, अपनी अपनी लड़कियों, अपने अपने पोतों, अपने अपने घरों, अपनी अपनी जमीनों, अपने अपने धन, अपने अपने जेवरों, अपने एक वा दूसरे प्रकार के पशुओं और अन्य विविध प्रकार के पदार्थों के साथ अपने अपने नाना नीच अनुरागों के द्वारा इतने बंध जाते हैं, कि फिर एक वा दूसरे समय में जब उनमें से उनका कोई ऐसा बंधन टूटता है, और उसके टूटने से उसके साथ उनका **वियोग** होता है, अर्थात जब उसके मर जाने, भाग जाने, विमुख हो जाने, वा नेचर की किसी और दुर्घटना के कारण उनके उस बंधन के टूट जाने से उनका वह सम्बन्ध कट जाता है, तब उसके द्वारा उन्हें जिस जिस प्रकार का आघात लगता है, और उस आघात से उनके भीतर जिस जिस प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है, और उस दुःख से वह जिस तरह से बेचैन होते, रोते चिल्लाते, तड़पते हैं, उसका दृश्य इस पृथ्वी के प्रत्येक देश में देखा जा सकता है। ऐसे लोग यदि नेचर के किसी मनुष्य वा पशु वा किसी भी प्रदार्थ को **अपना** समझ कर उसके साथ किसी एक वा दूसरे **सुखदायक अनुराग से बंधने के स्थान में** उसे अपना न समझते, और उसके साथ किसी नीच सुख के द्वारा बंधने के स्थान में किसी **उच्च भाव** के द्वारा सम्बन्ध

उत्पन्न कर सकते, तो वह इन महा- दु:खों में कभी ग्रस्त न होते।

(3) **विफल कामनाजात नाना प्रकार के महा हानिकारक दु:ख ।**

लाखों जन विवाह के द्वारा अपने लिए किसी पत्नी वा पति के न मिलने पर, लाखों जन विवाहित होकर भी किसी संतान के न होने पर, लाखों जन संतान के होने पर परन्तु किसी पुत्र के न होने पर, लाखों जन जितने धनी बनने की लालसा रखते हैं, उतने धनी न बनने पर, सैंकड़ों जन जिस जिस प्रकार के पोलेटिकल वा सोशियल पद और सन्मान पाने के लिए अपने भीतर प्रबल वासनाएं रखते हैं, उनके न मिलने पर, सैंकड़ों जन जिस किसी मानसिक ज्ञान सम्बन्धी परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहते हैं, उसमें उत्तीर्ण न होने पर, सैंकड़ों जन जिस किसी विशेष स्त्री वा विशेष पुरुष से विवाह करने की प्रबल इच्छा रखते हैं, उस विषय में अपनी कामना के पूर्ण न होने पर, हजारों जन जिन जनों से अपने लिए प्रशंसा की प्राप्ति वा उनसे अप्रशंसित न होने की प्रबल वासना रखते हैं, उनसे किसी कारण से उस प्रशंसा के न पाने वा उनके द्वारा अप्रशंसित होने पर, सैंकड़ों जन किसी रोजगार की लगातार तलाश के बाद भी उसके न मिलने पर; हजारों जन अपने जिस किसी रोग से निवृति पाने के प्रबल आकांक्षी होते हैं, उससे निवृति न पाने पर; लाखों जन अपने जिस पारिवारिक सम्बन्धी वा अन्य जन को अपने सम्बन्ध में सदा सच्चा वा फादार देखने की प्रबल इच्छा रखते हैं, उसके **विमुख वा विश्वासघाती** बन जाने पर; लाखों जन जिस जिस से एक वा दूसरे प्रकार के सुख पाने की आकांक्षा रखते हैं, उससे उस सुख के न पाने पर; सैंकड़ों जन जिस स्त्री वा पुरुष वा लड़के के प्रति किसी प्रकार का प्रेम अनुभव करते हैं, और उसे अपना प्रेमी बनाना चाहते हैं, उसके प्रेमी न बनने पर; लाखों जन इसी प्रकार की अपनी किसी अन्य कामना के पूरा न होने और विफलता और निराशा के उत्पन्न होने पर; जिस जिस प्रकार के आत्मिक दु:ख और नाना दशाओं में **महा घोर और दारुण** दु:ख पाते हैं, और हज़ारों जन ऐसे दु:खों में से किसी दु:ख को सहने के योग्य न होने पर अपने अपने शरीरों की **हत्याएं** तक कर लेते हैं, और अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनके दृश्य इस पृथ्वी के प्रत्येक देश में देखे जा सकते हैं।

(4) **कुसंस्कारजात नाना प्रकार के हानिकारक दु:ख ।**

लाखों मनुष्य बाल्य-काल से धर्म के नाम से वा नेचर के अन्य विविध विषयों के सम्बन्ध में अपने माता पिता और अन्य जनों की **मिथ्या** शिक्षा पाकर अपने इन कुसंस्कारों के कारण जिन **मिथ्याओं के अंध विश्वासी** बन जाते हैं, उनके कारण भी वह विविध समयों में बड़े बड़े दु:ख पाते हैं।

इस प्रकार के महा हानिकारक **मिथ्या विश्वासों के जाल में फंसकर** हजारों स्त्रियां संतान की उत्पत्ति के लिए किसी और के बताने पर दवा के नाम से ऐसी चीजें खाती हैं, जिससे उनके संतान तो कोई नहीं होती, किन्तु उल्टा उनके शरीर में किसी एक वा दूसरे रोग की उत्पत्ति हो जाती है, और वह उस रोग से कष्ट पाती रहती हैं।

हजारों लोग किसी के कहने से जादू वा टोने के नाम से कई प्रकार के कर्म करके अपने लिए कई कष्ट खड़े कर लेते हैं। कितने ही जन किसी "कीमियागर" के जाल में फंस कर और अपने धन वा पहली सम्पत्ति को भी खोकर उसके चले जाने से दु:ख पाते हैं। सैंकड़ों जन किसी कल्पना-मूलक स्वर्ग सुख की प्राप्ति के आकांक्षी बनकर नाना प्रकार के तप विषयक विविध साधन ग्रहण करते हैं, और उनके द्वारा कई प्रकार का **वृथा दु:ख** भोगते हैं। लाखों जन किसी कल्पित देवता की प्रसन्नता और उसके द्वारा किसी कल्पित स्वर्ग विषयक सुखों की प्राप्ति के लालची बनकर दूर दूर के कहलाने वाले तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हैं, और ऐसी कई प्रकार की कठिन यात्राओं से कई प्रकार का वृथा कष्ट पाते हैं। कितने ही जन "योग" के द्वारा किसी सुख की प्राप्ति के प्रबल लालसी बनकर कई प्रकार की ऐसी शरीरिक क्रियाओं के अभ्यासी बनते हैं, कि जिनके करने से उनकी शारीरिक स्वास्थ्य सदा के लिए नष्ट हो जाती है, और वह एक वा दूसरे रोग से रोगी होकर उसके कष्ट भुगतते हैं। इत्यादि।

इस प्रकार के कष्टों के सच्चे दृष्टान्त भी इसी पृथ्वी में देखे जा सकते हैं ।

(5) **ईर्षाजात महा हानिकारक दु:ख ।**

जिन मनुष्यों में "अहं" अनुराग इतना प्रबल होता है, कि वह "अपनी" सच्ची वा झूठी प्रशंसा के भिन्न किसी और के किसी सच्चे **सद्गुण** की प्रशंसा को आराम से नहीं सुन

सकते, और उसके सुनने पर अपने हृदय में आघात लाभ करते और कष्ट अनुभव करते हैं; अथवा "**अपनी**" **अपेक्षा** किसी विषय में किसी को **बढ़िया वा अधिक सुखी** देखकर वा जान कर प्रसन्न होने के स्थान में दुःखी होते हैं, ऐसे जनों के इस प्रकार के सब दुःख ईर्षाजात दुःख कहलाते हैं। इस पृथ्वी में हजारों स्त्री पुरुष इस प्रकार के ईर्षाजात दुःखों से जलते और कुढ़ते रहते हैं। और जिन में इस महा नीच ईर्षा भाव के साथ प्रतिशोध भाव भी प्रबल रूप में वर्तमान हो, वह किसी ऐसे जन की जिससे वह ईर्षा रखते हों, एक वा दूसरी विधि से हानि करने के लिए भी यत्न करते हैं।

(6) **द्वेषजात महा हानिकारक दुःख ।**

किसी जन से अपने किसी अभीष्ट वा मनोरथ के पूरा न होने पर उससे आघात और दुःख पाकर जिन जनों में उसके वा उसके प्रिय जनों के सम्बन्ध में **आप हानि** करने वा औरों के द्वारा उस की हानि कराके अपने उस दुःख का बदला लेने का महा नीच भाव उत्पन्न हो जाता है, उस भाव को **द्वेष-भाव** कहते हैं।

किसी के सम्बन्ध में - यहाँ तक कि किसी हिताकांक्षी के सम्बन्ध में भी - इसी महा नीच भाव के भड़क उठने पर लाखों जनों के हृदय उसके सम्बन्ध में जलते और दुःखी रहते हैं, और जिन जनों में यह द्वेष भाव बहुत विकट रूप धारण करता है, वह उसकी प्रबल प्रेरणा से औरों के सन्मुख भी यह बात प्रकट करते रहते हैं, कि मैं जब तक उसकी अमुक अमुक प्रकार की हानि और कई दशाओं में उसकी हत्या भी न कर लूँगा, तब तक मेरा यह जलता हुआ दिल ठंडा और मेरा दुःखी दिल शांत न होगा।

(7) **घमंडजात महा हानिकारक दुःख ।**

लाखों मनुष्य अपने अहं अनुरागजात घमंड-भाव के कारण जहां अपने आपको औरों की अपेक्षा ऐसे विषयों में भी **झूठ मूठ बढ़िया** समझते वा विश्वास करते हैं, कि जिनमें वह **वास्तव में** उनकी अपेक्षा **बहुत घटिया** होते हैं, वा जिन विषयों में वह कुछ भी सत्य ज्ञान नहीं रखते, वहां वह अपने इसी बुरे भाव के कारण अपने से बढ़िया जनों की अपेक्षा अपनी कीमत भी झूठ मूठ बहुत लगा लेते हैं। ऐसे जन ऐसी दशा में किसी से भी

- यहाँ तक कि अपने किसी हिताकांक्षी से भी - अपनी किसी **वास्तविक** बुरी गति वा क्रिया के सम्बन्ध में कोई शिकायत वा हितकर बात सुनकर अपने हृदय में बहुत आघात और कष्ट बोध करते हैं, और उससे कितने कितने काल तक दु:खी रहते हैं। इसी बढ़े हुए घमंड की दशा के कारण वह कई ऐसे जनों के साथ भी उलझ पड़ते और लड़ाई झगड़ा आदि खड़ा कर लेते हैं, कि जिनसे भी वह कई प्रकार के वृथा कष्ट पाते हैं। कितने ही अपने शारीरिक बल के घमंड में अपने बढ़ियापन के दिखाने के निमित्त अपने चलने फिरने, दौड़ने भागने आदि में बेपरवाही करके वा किसी मनुष्य वा पशु आदि पर अकारण आक्रमण करके और अपने शरीर के किसी अंग को भंग करके वा उसकी कोई और हानि करके कई प्रकार का **दु:ख** भुगते हैं।

(8) अपराधजात विविध प्रकार के हानिकारक दु:ख ।

लाखों मनुष्य धन सम्पत्ति आदि विविध सुखों के दास होकर जब उनकी प्राप्ति के लिए चोरी, ठगी, घूस (रिश्वत), बटमारी, डकैती, जालसाजी आदि और अन्य हजारों जन अन्य विषयों के सुखों के अनुरागी होकर विविध प्रकार के अन्य **अपराध-मूलक** कर्म ग्रहण करते हैं, और अपने उन कर्मों के कारण किसी देश की अपराध विषयक दंड विधि की लपेट में आ जाते हैं, तब वह उनके कारण दंड विषयक भय और अन्य कई कष्टों के भिन्न कारागार (जेल) आदि के दंड का भी दु:ख भोग करते हैं। इस प्रकार के कष्टों और दु:खों के दृष्टान्त भी इसी पृथ्वी के विविध देशों में साक्षात रूप में देखे जा सकते हैं।

4. **आत्मा के बल का नाश और उसकी पूर्ण मृत्यु ।**

जिस प्रकार मनुष्य के **गठन प्राप्त शरीर** में विविध **रोगों** के उत्पन्न हो जाने से, उसे कई प्रकार के **कष्टों वा दुखों** के मिलने के भिन्न, उसके शरीर के बल का भी नाश होता है, और एक एक रोग के लगातार जारी रहने पर उसका बल धीरे धीरे बराबर **घटता** चला जाता है, यहाँ तक कि उसका यह बल जब इतना नष्ट हो जाता है, कि फिर उसके जीवित रखने वाले अंग अपना अपना काम करने के ही योग्य नहीं रहते, तब उसकी **पूर्ण मृत्यु** हो जाती है । उसी प्रकार मनुष्य के **गठन प्राप्त आत्मा** में जब उसके सुख विषयक

विविध अनुरागों और उनके उलट उसके घृणा भावों के कारण विविध प्रकार के **आत्मिक रोग** उत्पन्न हो जाते हैं, और वह बढ़ते चले जाते हैं, और उनके द्वारा उसका पतन होता चला जाता है; तब जैसे एक ओर इस पतन से उसका **आत्मिक बल** घटता जाता है, वैसे ही दूसरी ओर जब उसका यह बल **पूर्णत: नष्ट हो जाता है, तब उसके आत्मा की भी पूर्ण मृत्यु हो जाती है।**

जैसे शरीर के सम्बन्ध में नेचर का यह **अटल नियम** है, कि चाहे वह रोगी न भी हो, तो भी उसके घटते हुए बल की पूर्णता के निमित उसे प्रति दिन जितने **बल** की प्राप्ति के लिए जिस जिस प्रकार के आहार, जितने जितने अंश सूर्य की ज्योति और उसके ताप की प्राप्ति और शुद्ध वायु में श्वास लेने और रहने, और उचित रूप में उसके अंगों को व्यायाम वा परिश्रम के द्वारा हिलाने डुलाने और संयमी होने आदि की नितान्त **आवश्यकता** है, यदि उनमें से किसी की भी कमी की जाय, तो उससे एक ओर जहां उस में **उतना बल** उत्पन्न न होगा, वहां उसकी ऐसी कमी की मात्रा के अनुसार उसका पहला **संचित बल भी घटता जाएगा।** आहार के पूर्णत: छोड़ देने वा न मिलने और अतिशय परिश्रम करने से शरीर का **बल** जो घट जाता है, उसका प्रमाण जैसे इसी पृथ्वी में जगह जगह देखा जा सकता है; वैसे ही प्रत्येक मनुष्य के आत्मा को – चाहे युक्ति के लिए वह मिथ्या और अपहरण आदि रोगों से ग्रस्त न भी माना जाय – प्रतिदिन अपने **पहले आत्मिक बल** को नष्ट होने से **बचाने** और उसमें **नए बल** के उत्पन्न करने के निमित्त नेचर के अटल नियमानुसार उसके विविध जगतों के नाना अस्तित्वों के **शुभ वा भले के लिए** जितने **अंश विशुद्ध रूप से सेवाकारी बनने**, और किसी ऐसी सेवा के निमित्त उसे जिन जिन **सात्विक भावों** की प्राप्ति की आवश्यकता है, वह सात्विक भाव यदि उसमें वर्तमान न हों, तो उसमें अपने **शरीर के निर्माण करने की जो पहले से शक्ति वर्तमान थी, वह किसी निर्माणकारी चिन्ता वा क्रिया के न होने से** धीरे धीरे लगातार **घटती चली जाएगी**, और वह आत्मा दिनों दिन अधिक से अधिक **निर्बल** होता जाएगा। फिर यदि उसमें कोई भाव ऐसे वर्तमान हों, जिनके द्वारा वह पर सेवा विषयक कुछ न कुछ क्रियाएँ करके अपने आत्मा में **कुछ बल** उत्पन्न कर लेता हो, उनके काम में भी जब किसी कारण से कोई विघ्न उत्पन्न हो जाएगा वा कमी आ जाएगी वा उनका काम पूर्णत: बंद हो जाएगा, तब

उसका **बल** केवल यही नहीं कि बढ़ेगा नहीं, किन्तु **घटता** चला जाएगा। और उसके पूर्ण रूप से घट जाने पर उसकी एक दिन उसी प्रकार से **मृत्यु हो जायगी**, **जिस प्रकार** से उसके वा किसी और के जीवित शरीर के बल के पूर्ण रूप से चले जाने से उस शरीर की **मृत्यु हो** जाती है; अर्थात वह फिर जीवित नहीं रहता और पूर्णत: मर जाता है।

प्र० । यह क्योंकर जाना जा सकता है, कि किसी मनुष्य के आत्मा का अपना **बल घट रहा है**, और वह दिनों दिन निर्बल होता जा रहा है।

उ० । आत्मिक बल का घटना जिन चार प्रकार के लक्षणों से जाना जा सकता है, वह यह है :-

1. **उच्च घृणा भाव विषयक बल का नाश ।**

यदि किसी मनुष्य में अपने शरीर वा अपने आत्मा वा दोनों के सम्बन्ध में
पहले किसी प्रकार की ऐसी **चिंता वा क्रिया के लिए उच्च घृणा** वर्तमान थी, कि जो उसके लिए **हानिकारक** थी, और जिस उच्च घृणा के **बल** से वह उस चिन्ता वा कर्म को नहीं करता था, और उसके **हानिकारक फलों से सुरक्षित रहता था**; परन्तु कुछ काल के अनन्तर वह इस दशा में पहुँच गया, कि वह उस हानिकारक चिन्ता वा क्रिया के सम्बन्ध में अपने उस **उच्च घृणा विषयक भाव से शून्य वा रहित हो गया**, अर्थात् उसका **यह भाव नष्ट हो गया**, और फिर उसके अनन्तर उसमें उस प्रकार की चिंता और उस प्रकार के कर्म के लिए केवल यही नहीं कि कोई घृणा नहीं रही, किन्तु उसके उलट उसके सुख के प्रति उसमें आकर्षण उत्पन्न हो गया, और वह इस सुख के आकर्षण से परिचालित होकर उसे ढूँढने और लाभ करने लगा; तो उसका यह लक्षण इस बात का प्रमाण है, कि उसमें पहले जो उच्च घृणा विषयक भाव का बल वर्तमान था, वह बल उसमें एक वा दूसरे कारण से नष्ट हो गया। इस सत्य का प्रमाण इसी पृथ्वी के नाना लोगों के जीवनों से मिल सकता है।

2. **उच्च-दु:ख-भाव विषयक बल का नाश ।**

यदि पहले किसी जन के आत्मा में किसी ऐसी चिंता वा क्रिया के करने से किसी **दु:ख**

वा जलन की उत्पत्ति होती थी, कि जो उसके लिए **हानिकारक** थी, और वह उस **दुःख** के कारण अपने मन मन में उससे आगामी काल में बचने के लिए बार बार आकांक्षा करता था, वा कोई और उपाय ग्रहण करता था; परन्तु धीरे धीरे वह इस दशा में पहुँच गया, कि उसे फिर उस प्रकार की किसी चिंता वा क्रिया के करने से **कुछ भी दुःख बोध नहीं होता**, किन्तु **उलटा सुख** बोध होता है, और वह वैसी चिंता और क्रिया करके उससे सुख के पाने का यत्न भी करता है, तो उसका यह लक्षण इस बात का प्रमाण है, कि उसमें पहले **उच्च दुःख उत्पादक जो भाव-बल वर्तमान था**, वह चला गया।

इसी प्रकार यदि कोई जन पहले किसी के सम्बन्ध में कोई अनुचित वा अन्याय वा पाप वा अपराध-मूलक क्रिया करके उस का बोध होने वा उसका बोध कराए जाने पर केवल यही नहीं, कि वह अपने हृदय में दुःख अनुभव करता था, किन्तु वह **इतना दुःख** अनुभव करता था, कि उसका हानिप्राप्त जन के सम्मुख अपने मुख वा पत्र के द्वारा प्रकाश करने, उसके सम्बन्ध में **कोई दंड लेने** वा किसी और विधि से उसकी उस हानि का **उचित परिशोध** करने के लिए तैयार हो जाता था, और अपने किसी ऐसे दुःख का प्रकाश वा उसका परिशोध करके ही **अपने आत्मा में शांति वा आराम पाता था**; परन्तु फिर वह एक ऐसी दशा में पहुँच गया, कि जिसमें वह इस प्रकार की कोई क्रिया करके उससे **कुछ भी दुःख बोध नहीं करता**; और अपने द्वारा किसी हानिप्राप्त जन के सन्मुख उसका कोई प्रकाश करना नहीं चाहता, और नहीं करता, और न उसका कोई परिशोध करता वा करना चाहता है; तो उसका वह **लक्षण** इस सत्य का पूर्ण प्रमाण है, कि उसमें **उच्च दुःख उत्पादक जो भाव पहले वर्तमान था**, और उसके बल से परिचालित होकर वह अपने आत्मा के लिए जिस जिस प्रकार की **मोक्ष उत्पादक** क्रियाएँ करता था, उसका वह **उच्च भाव** वा **उच्च-बल** नष्ट हो गया। यह सत्य लक्षण भी इसी पृथ्वी के नाना लोगों के जीवनों में देखा जा सकता है।

3. **उच्च आकर्षण वा उच्च सुख विषयक भाव-बल का नाश।**

यदि पहले किसी जन में किसी और आत्मा के किसी **सच्चे सात्विक गुण**, अथवा इससे भी ऊपर **देवात्मा** की किसी देव-शक्ति वा उसके कार्य्य के **सौन्दर्य** के देखने के लिए जिस

देव-ज्योति की आवश्यकता है, वह ज्योति उसे प्राप्त होती थी, और वह केवल यही नहीं कि उस **सौन्दर्य** के देखने योग्य था, किन्तु उस सौन्दर्य के प्रति अपने हृदय में **उच्च आकर्षण** भी बोध करता था; और इससे भी बढ़कर वह इस आकर्षण की प्रबल प्रेरणा के अनुसार उस **सौन्दर्य की महिमा औरों के सन्मुख भी मुक्त कंठ से वर्णन करता था**; और वह इस भाव से परिचालित होकर प्रतिदिन अपने **निज के साधन के द्वारा** उनकी महिमा को आप भी **उपलब्ध** करने और उसके द्वारा **अपनी नीचता** का बोध लाभ करने और उस बोध से अपने आत्मा की कठोरता को दूर करके उसे **नम्र वा कोमल** बनाने और इस सारी विधि से अपने भीतर **श्रद्धा के उच्च वा सात्विक भाव के जाग्रत वा उन्नत करने का साधन करता था**; और ऐसे साधन से वह एक प्रकार का **उच्च सुख वा उच्च रस** भी लाभ करता था; परन्तु फिर वह एक ऐसी दशा में पहुँच गया कि जिस में उसके भीतर किसी ऐसी महिमा के देखने और उपलब्ध करने और उसके द्वारा अपने आत्मा में श्रद्धा-भाव के जाग्रत वा उन्नत करने के लिए कोई उच्च आकर्षण नहीं रहा, और उसे किसी ऐसे साधन से कुछ **सुख वा रस** मिलना बंद हो गया, और उसका हृदय पहले की न्याईं कठोर वा शुष्क हो गया; अथवा यदि वह पहले अपने सम्बन्ध में किसी **उपकारी के उपकारों की सुन्दर छवि** को सन्मुख लाकर उसके उस उपकारी रूप के प्रति अपने हृदय में कोई **कृतज्ञता** का भाव अनुभव करता था, और अपने इस कृतज्ञ भाव से परिचालित होकर उसकी कोई **विशुद्ध शुश्रुषा वा सेवा** करता था, उस सेवा के प्रति उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा; अथवा यदि वह किसी **परोपकार विषयक** काम के प्रति पहले कोई **आकर्षण** बोध करता था, और उसमें किसी प्रकार की कोई **सहायता** करता था, परन्तु फिर उसमें उस परोपकार विषयक कार्य के लिए **कोई आकर्षण नहीं रहा**, और उसे किसी ऐसी हितकर क्रिया के लिए **कुछ सुख वा रस नहीं मिलता**, तो उसके ऐसे सब लक्षण इस बात का पूर्ण प्रमाण हैं, कि उसके आत्मा में इन सब विषयों के सम्बन्ध में जो जो **उच्च आकर्षण** वर्तमान था, और इस उच्च आकर्षण के अनुसार उसे किसी हितकर क्रिया वा साधन के करने से जो उच्च सुख वा उच्च रस मिलता था, उसका नाश हो गया, और उसका वह उच्च आकर्षण विषयक **आत्मिक बल नष्ट हो गया।**

4. **निर्माणकारी शक्ति का नाश ।**

नेचर के अटल नियमानुसार उद्भिद्द और पशु जगत की लाखों गठन प्राप्त जीवनी शक्तियों की न्याईं मनुष्य का आत्मा भी जब तक अपने लिए कई प्रकार के आवश्यक अंगों से विशिष्ट किसी गठन प्राप्त जीवित शरीर के बनाने और उसे जीवित रखने के निमित अपने भीतर **निर्माणकारी शक्ति** रखता है, तभी तक वह उसके द्वारा कोई गठन प्राप्त जीवित शरीर बनाकर जैसे एक ओर अपने आप को **प्रकाश** कर सकता है, वैसे ही दूसरी ओर जहां तक सम्भव हो, आप भी जीवित रह सकता है।

फिर नेचर के ही अटल नियमानुसार उसे **अपनी इस निर्माणकारी शक्ति के बल** को जहां एक ओर अपनी और नेचर की अन्य कई प्रकार की **शक्तियों के पतन वा विनाशकारी प्रभावों से मोक्ष देने** और बचाने की आवश्यकता है, वहां दूसरी ओर उसकी उन्नति वा उसके **विकास** के निमित अपने अस्तित्व में विविध प्रकार के **उच्च भावों** के उत्पन्न और उन्नत करने की भी आवश्यकता है; और यदि वह किसी ऐसी **मोक्ष** और किसी ऐसे **विकास** के लाभ करने के योग्य न बने वा न बन सके, अथवा योग्य होने पर उनके लाभ करने का वह कोई अवसर ही न पा सके; तब उससे एक ओर जैसे उसकी इस **निर्माणकारी शक्ति का बल उसकी हानि की अपेक्षा अधिक न बढ़ेगा**, वैसे ही दूसरी ओर नेचर के विकासकारी नियम के विरुद्ध चलने से उसका अपना पहला बल भी धीरे धीरे घटता चला जायगा। और जब उसकी इस **शरीर निर्माणकारी शक्ति** का यह बल घटते घटते पूर्णत: चला जायगा, तब वह यहाँ वा कहीं और अपने निर्माण किए हुए किसी भी शरीर के छोड़ने वा छुटने पर **किसी अन्य शरीर के निर्माण करने के योग्य न रहेगा**; और ऐसी दशा में पहुँच कर उसके उस **शरीर के मरने के साथ ही उसकी अपनी मृत्यु का हो जाना और अपने व्यक्तिगत अस्तित्व के विचार से पूर्णत: नष्ट हो जाना भी अनिवार्य है।**

प्र० । यह तो बड़ी भयानक दशा है ! परन्तु क्या प्रत्येक जीवित शरीर निर्माणकारी जीवनी-शक्ति की **मृत्यु** के सम्बन्ध में नेचर का **यही अटल नियम है** ?

उ० । जी हां। पहले तुम उद्भिद जगत की जीवनी-शक्तियों के विषय में इस सत्य को उपलब्ध करो। अब तुम यदि गेहूं वा छोले वा मूंग वा मटर के किसी ऐसे दाने को जिसमें **एक नए जीवित पौधे** के निर्माण करने वा बनाने की **शक्ति** वर्तमान हो, और जिसे तुम

यदि अनुकूल ऋतु और अनुकूल भूमि में बो दो, और फिर जल आदि के द्वारा उसकी उस निर्माणकारी शक्ति के कार्य में सहायता करो, तो उससे गेहूं वा छोले वा मुंग वा मटर का एक जीवित पौधा बनकर तैयार हो सकता है; परन्तु यदि तुम उसे किसी विधि से किस नए जीवित पौधे के **बनाने वा निर्माण करने का कोई अवसर न दो**, और उसे पूर्णत: **निक्कमा** पड़ा रहने दो, तो नेचर के अटल नियमानुसार उसका यह फल होगा, कि उसमें पहले किसी नए पौधे के बनाने और उसके सम्बन्ध में प्रतिदिन काम करके अपने भीतर के **निर्माणकारी बल के बढ़ाने वा उन्नत करने के लिए जो शक्ति वर्तमान थी**, **वह निकम्मी** पड़ी रहने से दिनों दिन **अपने बल को खोती जाएगी**, और फिर विशेष काल में उसकी वह **निर्माणकारी शक्ति पूर्णत**: **नष्ट हो जाएगी।** और जब उसकी यह निर्माणकारी शक्ति पूर्णत: चली जाएगी, तब फिर यदि तुम उस दाने के द्वारा किसी पौधे के उत्पन्न करने के निमित उसे किसी अनुकूल भूमि में भी बोओ, और उसके उगने और बढ़ने के निमित सब अनुकूल बातों के द्वारा उसकी सहायता भी करो**, तो भी वह फिर कोई नया पौधा न बना सकेगा।** क्यों **?** इसलिए कि एक नए पौधे के बनाने के लिए उस दाने में पहले जो **निर्माणकारी शक्ति** वर्तमान थी, वह शक्ति ही उस दाने के निकम्में पड़े रहने से काल के साथ साथ धीरे धीरे नष्ट हो गयी।

यह वह अटल सत्य है, कि जिसका तुम इसी लोक में अपनी **ठीक परीक्षा के द्वारा** प्रमाण पा सकते हो।

प्र० । यह बात तो पूर्णत: सत्य है, परन्तु इसका क्या प्रमाण कि उस दाने में जो एक नए पौधे की बनाने वाली वा निर्माणकारी जीवनी-शक्ति वर्तमान थी, उसने उस दाने से निकल कर अपने लिए किसी और स्थान में कोई नया पौधा नहीं बना लिया, और वह उसमें रह कर जीवित नहीं **?**

उ० । नेचर के अटल नियमानुसार उसके लिए ऐसा करना **सम्भव नहीं** ।

प्र० । क्योंकर **?**

उ० । मान लो, कि गेहूं के दाने की जीवनी-शक्ति है, और उसमें इतनी बलिष्ट निर्माणकारी शक्ति भी वर्तमान है, कि जो अनुकूल दशा के मिलने पर उस दाने से एक नया पौधा भी बना सकती है। परन्तु नेचर के अटल नियमानुसार जब तक उसे उतेजित करने के लिए

इस पृथ्वी की किसी अनुकूल भूमि और अनुकूल ऋतु में बोकर उसकी जल आदि से सहायता न की जाय, अथवा उसे किसी और स्थान में कोई अनुकूल दशा प्राप्त न हो, तब तक वह किसी नए पौधे के बनाने और उसके विकसित करने का कोई काम ही नहीं कर सकती। फिर यदि उसे इस प्रकार के कार्य के निमित को अनुकूल सामान भी मिल जाए, तो भी उसे पहले पहल एक नए पौधे के बनाने के लिए **जिस अनुकूल सामग्री की आवश्यकता है**, उसे वह कुछ दिन तक नेचर के ही अटल नियमानुसार **अपने उस दाने के कलेवर से ही ले सकती है**, इसके बिना कदापि नहीं। फिर यदि वह दाना किसी भूमि से संलग्न हो और उसमें से जड़ बनकर भूमि तक पहुँच चुकी हो, तो इसके अनन्तर वह नेचर के ही अटल नियमानुसार अपनी उस जड़ वा उन जड़ों के द्वारा उस मिट्टी की नरम और गीली जगह से **वह सब पदार्थ खैंचने के योग्य हो सकती है**, कि जिस सामग्री से वह उस पौधे के जीवित आकार को और अधिक बड़ा बना सकती है। अब जब तक नेचर के इन सब नियमों के अनुसार सारी बातें पूरी न हों, तब तक वह कोई जीवित और बड़ा पौधा नहीं बना सकती। अब तुम यदि उस गेहूं के दाने की जीवनी शक्ति के सम्बन्ध में नेचर के इन अटल नियमों को पूरा न होने दो, तो वह किसी प्रकार से और **किसी और विधि** से फिर कोई पौधे बना नहीं सकेगी।

इसके भिन्न यदि तुम उसे इस नये पौधे के बनाने के काम से रोक कर **पूर्णत: निकम्मा** पड़ा रहने दो, तो उसके इस प्रकार निकम्मा पड़ा रहने से नेचर की उन अन्य प्रतिकूल असर डालने वाली शक्तियों के कारण जिन से वह घिरी हुई होती है, **उसके लिए धीरे धीरे अपनी इस निर्माणकारी शक्ति के बल को खोना और मृत्यु की ओर गति करना और एक दिन पूर्णत: नष्ट हो जाना भी अनिवार्य है।**

फिर वह अपनी निर्माणकारी शक्ति के रहते रहते भी सिवाय **उस विशेष दाने की सामग्री के**, **कि जिसमें उसका निवास है**, **पहले पहल कहीं और किसी और सामग्री के द्वारा** अपने इस पौधे के बनाने का कार्य नहीं कर सकती। इसलिए या तो उसे एक नए पौधे के बनाने के निमित्त अपनी निर्माणकारी शक्ति में जितने बल की आवश्यकता है, उसके नष्ट हो जाने से पहले पहले ऐसी अनुकूल दशा मिले, कि जिससे उत्तेजित वा जाग्रत होकर वह अपने उस दाने से उस सामग्री को ले ले, और उससे एक नन्हा सा पौधा बना कर

और फिर आगे चलकर उस भूमि से उसके बनाने की सामग्री लाभ करे, कि जिसके साथ वह अपने इस नन्हे पौधे की जड़ को संलग्न कर चुकी हो, या वह अपने चौतरफा प्रतिकूल असरों के द्वारा **अपने इस निर्माणकारी बल को धीरे धीरे पूर्णत: खोकर** एक दिन आप भी नष्ट हो जाय। नेचर के इस अटल नियम के पूरा होने के बिना वह किसी और जगह वा किसी और विधि से जीवित नहीं रह सकती, और उसकी **मृत्यु का हो जाना अनिवार्य है।**

फिर नेचर के इसी अटल नियम के अनुसार यदि किसी पशु वा मनुष्य का कोई ऐसा भ्रूण (अधूरी दशा का बना हुआ बच्चा) जो किसी दुर्घटना से गर्भपात के हो जाने के कारण **समय से बहुत पहले उत्पन्न हो गया हो**, उसकी जीवनी शक्ति भी **पहली अनुकूल दशा के चले जाने से** फिर उस भ्रूण में से किसी कीड़े वा पक्षी वा किसी बछड़े वा किसी मनुष्य आदि के जीवित आकर के बनाने का कोई काम न कर सकेगी; और उसके निर्माणकारी काम के बन्द हो जाने पर जैसे उस भ्रूण के भीतर की **जीवनी शक्ति** का धीरे धीरे नष्ट हो जाना अनिवार्य है, वैसे ही उस भ्रूण का मर जाना वा नष्ट हो जाना भी अनिवार्य है।

यह सब ऐसे सत्य हैं कि जिनका इसी पृथ्वी में **ठीक परीक्षा** के द्वारा **पूर्ण प्रमाण** मिल सकता है ।

प्र० । तब क्या प्रत्येक मनुष्यात्मा के लिए अपनी **निर्माणकारी शक्ति** को अपनी और नेचर की विविध प्रकार की अन्य शक्तियों के विनाशकारी प्रभावों से **बचाने वा मोक्ष देने** और उसमें नेचर के नाना जगतों के सम्बन्ध में निर्माण कार्य करने वाली उच्च शक्तियों को उत्पन्न करके उनके द्वारा **उसे उन्नत** वा विकसित करने की आवश्यकता है **?**

उ० । जी हाँ ।

प्र० । और यदि कोई स्त्री वा पुरुष ऐसा न करे, वा न कर सके, तो क्या उसके आत्मा का धीरे धीरे पतित होते जाना और अपनी निर्माणकारी शक्ति के बल को खोना और फिर किसी काल में उसके बल को पूर्णत: खो चुकने पर **अपने व्यक्तिगत अस्तित्व के विचार से पूर्णत: नष्ट हो जाना वा मृत्यु को प्राप्त हो जाना भी अनिवार्य है** ?

उ० । जी हाँ । और प्रत्येक जन के लिए अपने विनष्ट होने से पहले अपने आत्मिक रोगों से उत्पन्न विविध प्रकार के अनावश्यक और अनुचित शारीरिक कष्टों और मोह-जात

आदि विविध प्रकार के अन्य आत्मिक दुखों को प्राप्त होना और भोगना भी अनिवार्य है। इसलिए गठन प्राप्त जीवित आत्मा होकर और फिर अपनी निर्माणकारी शक्ति के द्वारा एक गठन प्राप्त जीवित शरीर को बना कर जो जन एक ओर अपनी उस आत्मिक गठन की **आत्मिक रोगों से रक्षा करने** और उसे अपने भीतर की जिन जिन पतनकारी शक्तियों के विनाशकारी प्रभावों से मोक्ष देने की आवश्यकता है, उनसे मोक्ष पाने के योग्य नहीं बनता, वा नहीं बन सकता वा नहीं बनना चाहता; और दूसरी ओर अपनी गठन में विविध प्रकार के उच्च भावों को उत्पन्न करके और नेचर के विविध विभागों के सम्बन्ध में उनके द्वारा सेवाकारी बनकर अपनी निर्माणकारी शक्ति को उन्नत वा उसका विकास करना नहीं चाहता, वा उसका विकास कर नहीं सकता; और वह नेचर के **विकासकारी नियम को अपने अस्तित्व में पूरा नहीं करता**, **वा नहीं कर सकता**; **उसका नेचर के इस अटल नियम के विरुद्ध गति करके** एक न एक दिन अपनी आत्मिक गठन को पूर्णत: नष्ट कर देना और अपने उस अस्तित्व के विचार से **पूर्णत**: **नष्ट हो जाना अनिवार्य है।** और जब तक उसके इस अस्तित्व का पूर्ण नाश न हो, और वह कुछ न कुछ जीवित रहे, तब तक अपने पतनजात **एक वा दूसरे प्रकार के शारीरिक कष्टों और कई प्रकार के आत्मिक दुखों को पाना और भोगना भी उसके लिए अनिवार्य है।**

प्र० । तब क्या मनुष्य के आत्मा में जिस निर्माणकारी शक्ति का प्रकाश हुआ है, उस **निर्माणकारी शक्ति** की घटाने वा नष्ट करने वाली उस की जो जो नीच सुख अनुराग विषयक आत्मिक शक्तियाँ हैं, उनके अधिकार से मोक्ष और रक्षा पाना, और **उसके बल** को बढाने वा उसे विकसित करने वाले जो जो उच्च वा सात्विक भाव हैं, उनकी प्राप्ति ही मनुष्य का मूल लक्ष्य है **?**

उ० । जी हाँ । जिस किसी अधिकारी मनुष्य के आत्मा में इस सत्य ज्ञान की जागृति वा उसका बोध हो जाय, वही इस एकमात्र मूल लक्ष्य को अपना मूल लक्ष्य देख वा जान सकता है, परन्तु जिसमें इस बोध की जाग्रति न हो, वा न हो सके; वह अपने आत्मा के इस मूल लक्ष्य को जान नहीं सकता। ऐसी दशा में उसके लिए इस मूल बात के सम्बन्ध में अन्धकारग्रस्त वा अज्ञानी रहना और **पतन** के मार्ग पर चलना और **पतित** होते होते और विविध प्रकार के दु:ख भोगते भोगते अपने सार अस्तित्व के विचार से नष्ट हो जाना

अनिवार्य है।

****

पच्चीसवां अध्याय ।

अधिकारी मनुष्यों की जहां जहाँ तक आत्मिक पतन से मोक्ष हो सकती है, उसकी प्राप्ति की सत्य विधि ।

1 - **उच्च घृणा की उत्पत्ति के द्वारा किसी पतनकारी गति से मोक्ष ।**

प्र० । कोई मनुष्य अपने किसी आत्मिक पतन से क्योंकर **मोक्ष** पा सकता है **?**

उ० । मनुष्य अपनी प्रकृति से ही विविध प्रकार के **नीच सुखों का लालसी** होता है**,** और फिर वह अपनी इस लालसा को बढ़ाते बढ़ाते उनका वा उनमें से बहुतों का **अनुरागी** बन जाता है। उसके यह विविध **नीच-सुख अनुराग** और उनसे उत्पन्न विविध नीच **घृणा-भाव ही उसके पतन का मूल कारण हैं**; क्योंकि उनके द्वारा परिचालित होने से **नेचर के अटल नियमानुसार** उसके लिए अपने और औरों के सम्बन्ध में विविध प्रकार की **मिथ्याओं और विविध प्रकार के अहितों** का उत्पन्न करना और उनका भी अनुरागी बनना और अपने इस अनुराग के कारण अपनी **निर्माणकारी शक्ति के सम्बन्ध में नेचर के शुभकर नियम को भंग करना वा उसके विरुद्ध चलना वा गति करना और अपनी ऐसी सब गतियों से दिनों दिन पतित होना अनिवार्य हो जाता है।**

अब जब तक किसी मनुष्य के आत्मा में **किसी प्रकार की भी मिथ्या वा किसी प्रकार की भी अहित मूलक गति के प्रति आकर्षण वा अनुराग वर्तमान रहे**, **और उसके उलट उस में नेचर-सम्मत किसी विधि के अनुसार आवश्यक मात्रा में कोई विकर्षण वा घृणा भाव उत्पन्न न हो**, **तब तक वह अपनी उस मिथ्या वा अहित-मूलक गति को त्याग नहीं कर सकता**, **और न उसे वह त्याग करना ही चाहता है**, इसीलिये उससे उसकी मुक्ति भी नहीं हो सकती**;** और उसके द्वारा उसका जो पतन होता है**,** उस पतन से उसकी रक्षा भी नहीं हो सकती। इस प्रकार के विकर्षण वा घृणा भाव को **उच्च विकर्षण वा उच्च घृणा भाव** कहते हैं।

प्र० । किसी आत्मा में यह **उच्च विकर्षण वा उच्च-घृणा-भाव** क्योंकर (कैसे) उत्पन्न हो

सकता है **?**

उ० । प्रथम यदि उसके आत्मा में कोई ऐसी **देव-ज्योति** प्रवेश कर सके कि जो उसे उसकी किसी **मिथ्या वा अहित मूलक पतनकारी गति** को जो उसे सुखदायक और इसीलिये **सुन्दर वा आकृष्टकारी** बोध होती हो**,** उसके असल रूप में अर्थात **पतनकारी वा बुरे वा कुत्सित वा हानिकारक रूप में दिखा सके**; और

दूसरे यदि उसके भीतर कोई ऐसा **देव-तेज** प्रवेश कर सके**,** कि जो उसमें उसकी इस पतन वा हानिकारक गति के प्रति इतनी **उच्च घृणा पैदा कर दे**, कि जिस से उस में उसके प्रति पहले से जो **आकर्षण वा अनुराग भाव** वर्तमान हो**,** वह नष्ट हो जाय**,** और फिर उसका दिल उसकी ओर न जाय**,** और वह अपने भीतर **उसके प्रति विकर्षण अनुभव करे।**

प्र० । इस अद्भुत और निराली देव-ज्योति और इस अद्भुत और निराले देव-तेज की किसी जन को कहाँ से और क्योंकर प्राप्ति हो सकती है **?**

उ० । इन दोनों चीज़ों की किसी ऐसे आत्मा से ही प्राप्ति हो सकती है**,** कि जिस में नेचर के ही विकास कार्य के द्वारा **उनका विकास हुआ हो।**

प्र० । वह आत्मा कौन हैं **?**

उ० । वह आत्मा वही **देवात्मा** हैं**,** कि जिनका इससे पहले वर्णन हो चुका है।

प्र० । क्या प्रत्येक मनुष्य में उनकी इस **देव-ज्योति** और उनके इस **देव-तेज** की किरणें प्रवेश कर सकती हैं **?**

उ० । जी नहीं । वह केवल किसी ऐसे आत्मा में ही प्रवेश कर सकती हैं**,** कि जो अपने किसी सुख अनुराग के द्वारा उस सुख के सम्बन्ध में **पूर्णत: कठोर न बन गया हो**, **और वह उस विषय में उनकी प्राप्ति के लिए अपने भीतर कुछ न कुछ योग्यता रखता हो ।** ऐसे ही जन को **अधिकारी मनुष्य** कहते हैं।

प्र० । क्या इस प्रकार के सब अधिकारी मनुष्यों को उनकी इस अद्वितीय **देव-ज्योति** और उनके इस अद्वितय **देव-तेज** की किरणें मिल सकती हैं **?**

उ० । नहीं । जिन्हें नेचर की परिवर्तनकारी गति में किसी अच्छी वा शुभ घटना के उत्पन्न होने से उनकी प्राप्ति का **शुभ अवसर** मिल सके**,** उन्हीं को **अपनी अपनी योग्यता के**

अनुसार उनकी प्राप्ति हो सकती है। इन्हीं दोनों प्रकार की किरणों की प्राप्ति को **देव-प्रभावों** की प्राप्ति भी कहते हैं।

ऐसे अधिकारी जनों के भिन्न इस पृथ्वी के और सब मनुष्यों के लिए-चाहे वह किसी कहलाने वाले धर्म सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हों, और चाहे वह कोई धर्म मत मानते हों, और चाहे वह कोई भी धर्म मत न मानते हों-**आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में पूर्ण अन्धकार वा अज्ञान की दशा में रहना**, **और अपनी इस अन्धता के कारण एक वा दूसरे प्रकार के मिथ्या धर्म मतों के जाल में फंसे रहना**, **और इसीलिये उनसे मोक्ष न पाना**, **अनिवार्य है।** इसके भिन्न जो जो जन अपने जिस जिस आत्मिक रोग के कारण अपने वा औरों के सम्बन्ध में **जो जो अहित उत्पादक गतियाँ** करते हैं, उनकी उन पतनकारी गतियों के प्रति यदि उनमें देवात्मा की देव- ज्योति और उनके देव-तेज के पाने पर ही **यथेष्ट उच्च घृणा** उत्पन्न हो सकती हो, और उनकी प्राप्ति के बिना किसी और विधि से नहीं, तो उनके पाने के बिना भी **उनकी उनसे मोक्ष नहीं हो सकती।**

प्र० । परन्तु क्या धन, मान और अपने और अपने पारिवारिक जनों की शारीरिक स्वास्थ्य विषयक किसी सुख की किसी सच्ची हानि के विषय में किसी और सुयोग्य जन के उपदेश से कितने ही जनों से कई प्रकार की बुराइयां दूर नहीं हो सकतीं **?**

उ० । जिन जनों में अपने धन वा मान वा अपनी शारीरिक स्वास्थ्य की किसी **हानि का कुछ बोध** वर्तमान हो, उनके सामने यदि कोई मनुष्य जो उस हानि के लिए अपने भीतर यथेष्ट घृणा रखता हो, उसकी बुराई का वर्णन करे वा उसके विषय में उसे समझाने की चेष्टा करे, और उसकी हानि के विषय में उसमें जो बोध पहले से वर्तमान है, उसकी बार बार अपील करे, तो उनमें से कुछ अधिकारी जनों से ऐसी बुराइयां अवश्य दूर हो जाती हैं; परन्तु उसके साथ ही यह भी सच है कि और जिन नाना जनों में **पहले से कई प्रकार की बुराइयां मौजूद नहीं भी होती**, वह किसी इस वा उस जन के **उपदेश वा उसकी प्रेरणा वा संगत से उनमें उत्पन्न हो जाती हैं।**

परन्तु कोई भी अधिकारी जन जहां तक **देवात्मा की देव-ज्योति** और उन्हीं के **देव-तेज** को पाकर अपने **आत्मिक अन्धकार** और अपने विविध प्रकार के **मिथ्या विश्वासों** और अपनी विविध प्रकार की **अन्य मिथ्याओं** और अपने और औरों के सम्बन्ध में अपनी

अहित उत्पादक विविध चिंताओं और क्रियाओं से **सच्ची मोक्ष पा सकता है**, **वहां तक वह मोक्ष किसी और के द्वारा कभी नहीं पा सकता।**

इसके भिन्न कोई अधिकारी जन देवात्मा के साथ सात्विक भावों के द्वारा अपने आत्मा का सम्बन्ध स्थापन करने के योग्य हो जाने पर, जहां तक वा जितना अपने आत्मा में उच्च शक्तियों और उच्च जीवन का विकास कर सकता है, वहां तक वा उतना विकास भी वह अपने आत्मा में **किसी और के द्वारा कभी नहीं कर सकता।**

प्र० । देवात्मा के इन महा दुर्लभ **देव-प्रभावों** की प्राप्ति किसी अधिकारी जन को **कब तक** हो सकती है **?**

उ० । जब तक एक ओर उनकी प्राप्ति के लिए उसके अपने आत्मा में **आकांक्षा** वर्तमान रहे, और वह अपनी इस आकांक्षा से परिचालित होकर अपने आप उनके साथ प्रतिदिन **आत्मिक योग** के द्वारा उनकी **सच्ची आत्मिक पूजा** करके उन्हें लाभ कर सके; अथवा आप ऐसे आत्मिक योग के करने के अयोग्य होने पर उन के किसी देव- प्रभाव पहुचाने वाले अनुगत जन की संगत और उसके उपदेश से उनके पाने का शुभ अवसर पा सके, **तभी तक उसे उनके इन देव-प्रभावों की प्राप्ति हो सकती है; अन्यथा किसी और प्रकार से नहीं हो सकती।**

प्र० । यदि किसी जन को अपने निज के साधन के द्वारा वा देवात्मा के देव-प्रभावों के पहुचाने वाले किसी श्रेष्ठ जन के किसी उपदेश के द्वारा उनकी **देव-ज्योति** की इतनी किरणें मिल सकें, कि जिनमें उसे अपने किसी **सुख अनुराग** वा उस सुख अनुराग से उत्पन्न अपने वा नेचर के किसी भी अस्तित्व के सम्बन्ध में **अपनी कोई पतनकारी चिन्ता वा क्रिया अपने आत्मा के लिए पतनकारी रूप में दिखाई दे,** परन्तु उसमें उसके प्रति **कुछ भी अथवा यथेष्ट रूप से उच्च घृणा उत्पन्न न हो,** तो क्या ऐसी दशा में उसकी अपनी उस पतनकारी गति से मोक्ष हो सकती है ?

उ० । नहीं, कदापि नहीं। जब किसी मनुष्य का आत्मा इस दशा में पहुँच गया हो कि वह अपनी किसी **पतनकारी गति को पतनकारी रूप में देख कर भी उसके लिए कुछ भी वा इतनी उच्च घृणा बोध न कर सके, कि जिसे पाकर ही वह उसे त्याग कर सकता हो, तब समझना चाहिए, कि उसमें अपने उस पतन से मोक्ष पाने की कोई योग्यता नहीं रही,**

और इसीलिए उससे उसकी फिर कभी भी मोक्ष नहीं हो सकती।

फिर यदि किसी जन में अपने वा किसी और के सम्बन्ध में **जिन जिन पतनकारी विश्वासों वा चिंताओं वा अन्य क्रियाओं की उत्पत्ति होती हो, उन्हें पतनकारी रूप में दिखाने के लिए देवात्मा की जितने अंश देव-ज्योति और उनसे उद्धार वा मोक्ष पाने के लिए उसे जितने अंश उच्च घृणा उत्पादक देव-तेज की आवश्यकता है, उनकी प्राप्ति के लिए उसमें कुछ भी आकांक्षा वर्तमान न हो, अथवा उसे अपने निज के साधन के द्वारा भी उनकी सच्ची प्राप्ति न होती हो, तो भी उन पतनों से उसकी कभी और किसी और विधि से मोक्ष नहीं हो सकती।**

प्र० । क्या किसी जन में अपनी किसी पतनकारी गति के प्रति **उच्च घृणा** की उत्पत्ति होने से उसे **सदा के लिए** उससे मोक्ष मिल जाती है ?

उ० । किसी दशा में सदा के लिए भी और किसी दशा में सदा के लिए नहीं, किन्तु कुछ काल के लिए ही मोक्ष मिलती है। किसी पतनकारी गति से सदा के लिए मोक्ष पाने के निमित नेचर के नियमानुसार किसी जन को **जितनी मात्रा में उच्च घृणा पाने की आवश्यकता है, उतनी मात्रा** में यदि उसे उसकी प्राप्ति हो जाय, तो उसकी अपनी उस पतनकारी गति से **सदा के लिए मोक्ष हो जाती है,** परन्तु यदि उसमें **उतनी मात्रा में उच्च घृणा उत्पन्न न हो सके,** तो फिर वह उसकी मात्रा के अनुसार जितने काल तक के लिए उससे मोक्ष पा सकता हो, उतने काल तक ही वह उससे मुक्त रह सकता है, और उससे अधिक नहीं; उसके अनन्तर वह फिर अपनी **उसी पहली पतनकारी गति में पड़कर पतित हो सकता है।**

2 – उच्च दुःख की उत्पत्ति के द्वारा किसी पतन विषयक विकार से मोक्ष ।

यद्यपि उच्च घृणा की उत्पत्ति से किसी अधिकारी जन को कुछ **काल वा सदा के लिए** अपनी एक वा दूसरे प्रकार की पतनकारी **गति से मोक्ष** मिल जाती है, तथापि उसने अपनी उस पतनकारी **गति** वा क्रिया से **अपनी वा किसी और की हानि करके** उसके द्वारा अपने भीतर जो पतन विषयक **आत्मिक विकार** उत्पन्न कर लिया होता है**, उस विकार से उसकी मोक्ष नहीं हो जाती।**

प्र० । यह पतन विषयक **आत्मिक विकार** क्या होता है **?**

उ० । नेचर के किसी अजीवित वा जीवित जगत के किसी अस्तित्व के **किसी उचित अधिकार की हानि वा उसका अपहरण करने** से अथवा जान बुझकर अपने शरीर वा अपने आत्मिक हित के विरुद्ध किसी चिन्ता वा अन्य क्रिया के करने से मनुष्य के आत्मा में कठोरता और अन्धता आदि की जो उत्पत्ति होती है, उसकी इस प्रकार से **बिगड़ी हुई वा खराब दशा को आत्मिक विकार कहते हैं।**

प्र० । क्या आत्मा की ऐसी बिगड़ी हुई दशा किसी विधि से दूर भी हो सकती है **?**

उ० । जी हां; यदि उस में अपने उस विकार के सम्बन्ध में नेचर के नियमानुसार किसी **सच्चे बोध की यथेष्ट मात्रा में जाग्रति हो सके**; तो वह पूर्णत: वा किसी अंश में दूर भी हो सकती है। अर्थात उसमें यह **बोध** उत्पन्न हो, कि उसने अपने अमुक नीच सुख अनुराग वा अपनी अमुक नीच घृणा के वशीभूत होकर अपने वा नेचर के जिस किसी जन वा पशु वा पौधे वा पदार्थ की **हानि** की है, उसे करके **उसने अपने आत्मा की हानि की है।**

प्र० । इस **आत्मिक हानि बोध** की जाग्रति से क्या होता है **?**

उ० । यदि किसी मनुष्य में इस प्रकार के बोध की **यथेष्ट मात्रा में जाग्रति हो सके**, तो उसमें **अपनी इस आत्मिक हानि के लिए दु:ख की उत्पत्ति होती है**, और वह इस **दु:ख भाव से** परिचालित होकर अपनी उस **हानिकारक क्रिया के सम्बन्ध में** जहां तक सम्भव हो**, परिशोध करना चाहता है।**

यह परिशोध दो प्रकार का होता है:-

(1) अपने द्वारा किसी **और की हानि** के सम्बन्ध में।

(2) अपने द्वारा **अपनी ही किसी हानि** के सम्बन्ध में।

इनमें से किसी और के सम्बन्ध में **अपनी किसी हानिकारक क्रिया के विषय में बोध के होने पर** जब कोई जन कोई ऐसी क्रिया वा क्रियांए करता है, कि जिससे उसके द्वारा किसी और की जो कुछ हानि हुई हो, वा उसे जो कुछ **अनुचित कष्ट वा दु:ख** मिला हो, वह जहां तक सम्भव हो दूर हो; तब उसकी ऐसी कोई क्रिया वा क्रियांए **हानि-परिशोध** की क्रिया वा क्रियाएं कहलाती है। दृष्टान्त :-

एक जन औरों से घूस (रिश्वत) लेकर इस पाप वा अपराध के द्वारा धन कमाता था, और

इस पाप के द्वारा उसे जब और जितना धन मिलता था, उसे पाकर वह **बहुत प्रसन्न** होता था। नेचर की किसी शुभ घटना से उसके आत्मा में **देवात्मा के देव-प्रभावों** के प्रवेश करने का अवसर मिला। उनकी **देव-ज्योति** को पाकर उसे अपनी वह क्रिया **अपने प्रकृत अर्थात पापरूप में** दिखाई दी, और उनके **देव-तेज** को पाकर उसमें उस पाप कर्म के प्रति इतनी **उच्च घृणा** उत्पन्न हुई, कि उसके अनन्तर उसने उस पाप कर्म को बिलकुल छोड़ दिया, और फिर उस पाप कर्म से उसकी मोक्ष हो गई। परन्तु उस पाप कर्म के छोड़ने तक उसने जितना धन **औरों का अपहरण किया था**, **वह धन उसी के पास रहा**, और उस धन को अपने पास रखने में उसे कोई कष्ट वा **दुःख** बोध नहीं हुआ। फिर एक समय ऐसा आया, कि जिसमें उसे **देवात्मा के देव-तेज** की और अधिक प्राप्ति हुई, और उसे उस रूपये के सम्बन्ध में इस **सत्य की उपलब्धि** से कि पाप कर्मों के द्वारा कमाया हुआ जो धन उसके पास है, **वह जब कि वास्तव में उसका नहीं है**, **किन्तु औरों का है**, तब उसे उस धन को अपने पास रखने वा उसे दबा लेने का **कोई अधिकार** (**हक़**) **नहीं।** इस सत्य के बार बार सन्मुख आने से उसके हृदय में जहां एक ओर **दु:ख वा जलन की उत्पत्ति वा अनुभूति आरम्भ हो गई**, वहां उसके भीतर बार बार यह **प्रेरणा** भी होने लगी, कि तुम्हें इस ज़हर को अपने भीतर से निकाल देना चाहिए, और अपने आत्मा को इस ज़हर और इस दुख से मुक्त करना चाहिए। तुम्हें **इस धन के लालच वा अनुराग में फंसकर अपने अमूल्य आत्मिक जीवन की हानि न करनी चाहिए।** इस दुख और उसकी इस प्रेरणा से परिचालित होकर वह एक ऐसी दशा में पहुँचता है, कि उस पाप कर्म से प्राप्त सब रूपये को उन लोगों को लौटा देना चाहता है, कि जिनसे उसे उसने अपने पाप कर्म के द्वारा लाभ किया था। वह रुपया वह उन लोगों वा उनके वारिसों को दु:खी हृदय के साथ वापिस करता है – हां इससे भी बढ़कर वह उसे **ब्याज समेत** और **शोक** के साथ वापिस करता है और इससे भी और अधिक बढ़कर ऐसे हानि प्राप्त जनों में से जिन जिन जनों का उसे कोई पता नहीं, उनका रुपया भी वह अपने पास रखना वा उसे अपने काम में लाना वा उसे अपनी संतान आदि को देना नहीं चाहता; किन्तु किसी शुभ कार्य में सहायक हो जाने के लिए दे देता है, और ऐसा करने से वह अपने हृदय के उस **विकार** से (कि जो उसने अपने उस **पापकर्म के द्वारा उसमें उत्पन्न कर लिया था**) **मोक्ष**

पाकर सच्ची आत्मिक पवित्रता लाभ करता है। अब यदि उसमें **देवात्मा के देव-प्रभावों के द्वारा** अपने इस पाप कर्म के विकार से मोक्ष और सच्ची आत्मिक पवित्रता लाभ करने के लिए नेचर के सच्चे नियमानुसार इस **उच्च दुःख की यथेष्ट मात्रा में उत्पत्ति न होती**, तो वह ईश्वर आदि किसी कहलाने वाले देवता वा किसी देवी पर विश्वास रख कर, उस विश्वास वा किसी भी अन्य मिथ्या विश्वास से इस पाप के विकार से कदापि सच्ची आत्मिक मोक्ष लाभ न कर सकता। नेचर की इस सच्ची विधि के अनुसार किसी प्रकार के **आत्मिक विकार** से मोक्ष पाने के निमित्त इस प्रकार के **उच्च दुःख** की प्राप्ति की प्रत्येक जन को आवश्यकता है।

प्र० । क्या जो लोग रिश्वत विषयक पाप के भिन्न ठगी, प्रवंचना, जालसाज़ी, चोरी, बटमारी, लूट, डकैती आदि अन्य पाप कर्मों के द्वारा **औरों का धन वा माल अपहरण करते हैं**, उन्हें भी अपने इस प्रकार के पाप कर्मों से मोक्ष लाभ करने के निमित्त **उच्च घृणा** और उनके विकारों से मोक्ष अथवा **सच्ची आत्मिक शुद्धि वा पवित्रता** के लाभ करने के निमित्त **उच्च दुःख** की प्राप्ति की आवश्यकता है **?**

उ० । निस्सन्देह। किसी पापी जन के सम्बन्ध में जब तक **नेचर का यह नियम पूरा न हो**, तब तक उसकी अपने पापों और ऐसे पापों से उत्पन्न **आत्मिक विकारों से** कदापि मोक्ष नहीं हो सकती।

प्र० । यदि किसी ने किसी का धन वा माल नहीं, किन्तु **किसी की किसी उचित शान्ति वा उसके किसी उचित सुख का अपहरण किया हो**, तो क्या उसके **विकार से भी मोक्ष वा पवित्रता** लाभ करने के निमित्त उसे नेचर के नियमानुसार **उच्च दुःख** की प्राप्ति की आवश्यकता है **?**

उ० । निश्चय । इससे भी ऊपर यदि किसी जन ने किसी मनुष्य की **कोई हानि भी न की हो**, **परन्तु उसने अपने किसी सुख विषयक अनुराग वा अपने किसी घृणा भाव के कारण अपने मन मन में ही किसी के सम्बन्ध में कोई अन्याय वा पाप-मूलक चिंता की हो**, और अपनी उस चिंता के अनुसार उसने उसके सम्बन्ध में **कोई अन्याय वा पापमूलक कर्म न भी किया हो**, **तो भी उसकी ऐसी चिंता से उस में आत्मिक विकार की उत्पत्ति होती है।** और उसे भी अपनी इस पाप-मूलक चिंता की गति से मोक्ष पाने के लिए उच्च

घृणा की और उसके विकार से मोक्ष वा पवित्रता पाने के निमित्त उच्च दुःख की प्राप्ति की आवश्यकता है।

दृष्टान्त:- कोई पुरुष किसी के धन वा माल वा भूमि, अथवा किसी अन्य पुरुष की पत्नी वा बेटी वा बहन आदि किसी स्त्री के सम्बन्ध में **अपने किसी नीच भाव से परिचालित होकर कोई अन्याय वा पाप मूलक चिन्ता करता है**, अथवा कोई स्त्री किसी के धन वा माल वा किसी पुरुष के सम्बन्ध में इसी प्रकार की कोई **अन्याय वा पाप-मूलक चिन्ता करती है**; परन्तु इससे अधिक उनमें से कोई जन किसी की कुछ हानि नहीं करता, वा उसे किसी ऐसी हानि के करने का अवसर नहीं मिलता, तो भी इस **अन्याय वा पाप-मूलक चिन्ता की गति** से नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार उसकी **आत्मिक हानि** अवश्य होती वा उसका **आत्मिक पतन** अवश्य होता है। और उसकी अपनी इस पतनकारी गति वा उसके विकार से नेचर के अटल नियमानुसार उस समय तक मुक्ति वा मोक्ष **असम्भव है**, जब तक उसमें अपनी उस गति के सम्बन्ध में **उच्च घृणा** और उसके **विकार** के सम्बन्ध में **उच्च दुःख** की उत्पत्ति न हो।

प्र० । परन्तु जिन जनों को किसी और के सम्बन्ध में अपनी किसी अन्याय वा पाप-मूलक बाह्यक क्रिया वा अन्याय वा पाप-मूलक किसी आंतरिक चिन्ता के करने से **केवल सुख ही सुख बोध होता हो**, **और ऐसा करके उन्हें अपनी उस क्रिया के प्रति कोई घृणा बोध न होती हो**, **और न उन्हें उसके लिए कोई दु:ख बोध हो**, **जैसा कि इस पृथ्वी के कहलाने वाले नाना धर्म सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाले लाखों जनों का हाल है**, उनकी अपने उन **पाप-कर्मों** वा अपने उस **आत्मिक विकार** से क्योंकर मोक्ष हो सकती है **?**

उ० । नेचर के अटल नियमानुसार उनकी उन दोनों से ही उस समय तक **मोक्ष** असम्भव है, जब तक किसी ऐसी मोक्ष के लाभ **करने की योग्यता** रखने पर उन्हें **किसी सच्चे मोक्षदाता के उच्च घृणा और उच्च दु:ख उत्पादक देव-प्रभावों की यथेष्ट मात्रा में प्राप्ति न हो।**

प्र० । यदि कोई मनुष्य अपने शरीर की **स्वास्थ्य** के सम्बन्ध में अपने किसी खान पान वा अन्य क्रिया को **हानिकारक** जानकार भी अपने किसी स्वाद-सुख वा काम-सुख वा आलस्य-सुख आदि के वशीभूत वा उसका दास हो जाने के कारण उसे त्याग न करना

चाहता हो, वा त्याग न कर सकता हो, तो क्या इससे उसकी शारीरिक स्वास्थ्य की हानि के भिन्न **कोई आत्मिक हानि भी होती है** ?

उ० । अवश्य होती है । वह जब **जान बूझकर** अपने शरीर के सम्बन्ध में यह फैसला करता है, कि मैं उसके सम्बन्ध में अपनी अमुक अमुक **असंयम वा अमिताचार-मूलक क्रिया को इसलिए छोड़ना नहीं चाहता वा छोड़ नहीं सकता**, कि उसके छोड़ने से मेरा **अमुक अमुक सुख** चला जाता है, और इससे यदि मेरे शरीर को कोई हानि पहुंचती है, अर्थात उसमें किसी रोग वा कष्ट आदि की उत्पत्ति होती वा हो सकती है, तो मैं उसकी कुछ परवाह नहीं करता; **तब वह जानबुझ कर उस हानि वा बुराई का साथी और अनुरागी बनता है**, और इसीलिए अपने इस पतनकारी अनुराग से अपने शरीर के भिन्न अपने **आत्मा की भी अवश्य हानि करता है।**

प्र० । यदि किसी मनुष्य में अपनी किसी सुखदायक परन्तु पतनकारी आंतरिक चिन्ता वा बाह्यक क्रिया के सम्बन्ध में **घृणा और दु:ख** की उत्पत्ति तो होती हो, परन्तु वह इतनी मात्रा में न उत्पन्न होती हो, कि जिससे उसकी उससे पूर्ण मोक्ष हो जाय, और ऐसी दशा में उसके भीतर यह कामना वर्तमान हो, कि मेरी उससे मोक्ष हो जाय, परन्तु बीच-बीच में जब उसमें ऐसी **सुखदायक परन्तु पतनकारी** चिन्ता उत्पन्न हो जाती हो, अथवा उससे इस प्रकार का **सुखदायक परन्तु पतनकारी कर्म हो जाता हो**, और ऐसी चिन्ता वा ऐसा कर्म कर चुकने के अनन्तर उसके हृदय में **अपनी इस बुरी चिन्ता वा क्रिया के प्रति कुछ घृणा और कुछ दु:ख वा परिताप (जलन) की उत्पत्ति भी होती हो**, और वह अपने ऊपर अपनी उस क्रिया से दु:खी होकर बार बार धिक्कार भी डालता हो, तो उसका इस दशा से किस उपाय से **उद्धार** हो सकता है **?**

उ० । इस शोचनीय दशा से **मोक्ष** पाने के निमित उसे अपने ऊपर कुछ ऐसे **दंडों** के लेने की आवश्यकता है, कि जो उसमें उसकी उस घृणा और उसके उस दुख को जो वह अपनी किसी पतनकारी चिन्ता वा इससे भी आगे अपने किसी पतनकारी अन्य कर्म के सम्बन्ध में अनुभव करता है, बढ़ाने में सहायकारी हों। यथा – यदि वह चारपाई पर सोता हो, तो वह दंड लेकर किसी आवश्यक समय तक ज़मीन पर सोवे; यदि वह रात दिन में तीन बार भोजन करता हो, तो दो बार करे; वह जिन जिन स्वादिष्ट वस्तुओं का

अधिक पक्षपाती हो. उनमें से आवश्यक समय तक किसी एक वा दूसरी वस्तु को न खावे; धन का अनुराग रखने पर अपने ऊपर धन का आवश्यक मात्रा में जुर्माना करे, और उसे किसी उचित और शुभ काम की सहायता के निमित्त अर्पण वा दान करे; अपनी उस पतनकारी चिन्ता वा अपने उस पतनकारी कर्म की **हानियों** पर विचार करने और ऐसा करके उनके सम्बन्ध में अपनी **घृणा के बढ़ाने के लिए** उचित संख्या में पत्र वा लेख लिखने का साधन ग्रहण करे; जिस किसी जन के सम्बन्ध में उसने कोई ऐसी हानिकारक क्रिया की हो, उसके परिशोध के निमित उस की स्वीकृति और उसके सम्बन्ध में अपने दु:ख के प्रकाश आदि के विषय में पत्र लिखकर वा अपने हृदय के सच्चे भाव से निकले हुए मुहं के सच्चे शब्दों के द्वारा उसके हृदय में कुछ आराम वा शांति के उत्पन्न करने की चेष्टा करे; और यदि किसी पशु के सम्बन्ध में उसने कोई हानि की हो, तो उसके वा उसकी नसल वा पशु जगत के जीवों के सम्बन्ध में औरों के द्वारा भी उसी प्रकार की हानि के दूर करने के निमित उचित मात्रा में अपना धन देकर वा किसी और उचित विधि से उसका परिशोध करे। इत्यादि। **इस प्रकार के विविध दंड विषयक साधनों के ग्रहण करने और सरल भाव से उनके पूरा करने के योग्य बनने से भी ऐसी किसी पतनकारी चिन्ता वा ऐसे पतनकारी किसी अन्य कर्म से मोक्ष पाने में बहुत कुछ वा पूर्ण सहायता मिल सकती है।**

प्र० । यदि किसी जन में अपनी किसी पतनकारी चिन्ता वा अन्य पतनकारी क्रिया के लिए कुछ उच्च घृणा उत्पन्न हो गई हो, परन्तु वह इतनी गहरी वा यथेष्ट मात्रा में न हो, कि जिससे वह पूर्ण नष्ट हो गई हो. तो उसकी इस **उच्च घृणा के बढ़ाने के निमित** क्या क्या उपाय ठीक बैठ सकते हैं **?**

उ० । यदि वह योग्यता रखता हो, तो वह इस के लिए निम्नलिखित कई उपाय ग्रहण कर सकता है:-

(1) किसी ऐसे लेख वा पुस्तक का ध्यान और विचार पूर्वक पाठ करना, कि जिसमें उस प्रकार की पतनकारी गति की हानियों का सच्चा वर्णन हो, और इस पाठ के द्वारा उन हानियों को सामने लाना, वा उपलब्ध करना; और इस साधन को जहाँ तक सम्भव हो, प्रतिदिन वा दिन में कई कई बार भी करना ;

(2) किसी ऐसे संगीत का ध्यान और विचार के द्वारा गान करना, कि जिसमें उस पतनकारी गति की हानियों का सच्चा वर्णन हो, और उसके द्वारा उस हानि वा उन हानियों को उपलब्ध करना;

(3) थोड़े से शब्दों के किसी ऐसे वचन का यथा "**मेरी अमुक** गति बहुत बुरी है, वा बहुत हानिकारक है", ध्यान पूर्वक बार बार जप करना;

(4) किस ऐसे जन के पास रहना जो उस पतनकारी गति से आप मोक्ष पा चुका हो, और उसके भीतर उस गति के प्रति बहुत गहरी **उच्च घृणा** वर्तमान हो। इस विषय में यदि वह कोई उपदेश देता वा कोई कथन करता हो, तो उसे ध्यान पूर्वक सुनना, और उसकी सत्यता पर बार बार विचार करना, और उसे बार बार उपलब्ध करने की चेष्टा करना;

परन्तु यदि वह इन में से किसी उपाय वा साधन को ग्रहण न कर सकता हो, और इस विषय में उसे किसी और **सुयोग्य जन से** भी कोई सहायता न मिल सकती हो, तब फिर उसकी उच्च घृणा के बढ़ाने में केवल यही नहीं, कि कोई और बात सहायक नहीं हो सकती, किन्तु यदि उसकी उस पतनकारी गति में किसी और तरफ़ से कोई रोक न हो, तो उसकी **उस पहली उच्च घृणा का धीरे धीरे घटते जाना और अन्त में पूर्ण नष्ट हो जाना भी अनिवार्य है।**

प्र० । क्या सत्य मोक्ष के सम्बन्ध में नेचर के सत्य नियमों के विरुद्ध इस पृथ्वी के जिन जिन कहलाने वाले धर्म सम्प्रदायों के संस्थापकों वा उनके अनुयायी जनों ने शिक्षा दी है, वा उन सम्प्रदायों के उपदेशक ऐसी शिक्षा देते हैं, वह सब मिथ्या नहीं ?

उ० । वह सबकी सब पूर्णत: मिथ्या है।

****

छब्बीसवां अध्याय ।

मनुष्य के आत्मा में उच्च जीवन के विकास की सत्य विधि ।

मनुष्यात्मा में जिन **दो प्रकार की** उच्च वा सात्विक शक्तियों की जागृति और उन्नति से **उच्च जीवन** का विकास होता वा हो सकता है, उनकी जब तक किसी मनुष्य के आत्मा में जागृति न हो, तब तक उस में उच्च जीवन का आरम्भ भी नहीं होता, और नहीं हो सकता।

प्र० । वह उच्च शक्तियां क्या हैं ?

उ० । उन उच्च-शक्तियों में से **परोपकार** विषयक उच्च वा सात्विक शक्तियों का वर्णन इसी पुस्तक के उन्नीसवें अध्याय में किया जा चुका है।

प्र० । किसी मनुष्य के आत्मा में कोई परोपकार विषयक उच्च वा सात्विक शक्ति कब और कैसे जागृत होती है ?

उ० । यदि,

(1) किसी जन के आत्मा में उसके पूर्वजों के क्रम में कोई ऐसा उच्च भाव **बीज** रूप में आया हो;

(2) उसकी जागृति वा उन्नति के लिए जहाँ तक और जिस जिस प्रकार की नेचर विषयक **अनुकूल दशा** की आवश्यकता है, वह **अनुकूल दशा** उसे प्राप्त हो; और यदि इन दोनों बातों में से कोई बात भी न हो, तो फिर उसके आत्मा में से उस भाव विषयक उच्च -शक्ति की कुछ भी जागृति वा उत्पत्ति नहीं होती, और कभी भी और किसी प्रकार से भी नहीं हो सकती।

प्र० । यदि किसी जन के आत्मा में उसके पूर्वजों के द्वारा कोई परोपकार विषयक उच्च भाव बीज रूप में आया हो, तो क्या उसमें भी उसकी जागृति वा उत्पत्ति अवश्य हो जाती है ?

उ० । प्रत्येक जन के आत्मा में नहीं; किन्तु किसी ऐसे जन के आत्मा में अवश्य होती वा

हो सकती हो; कि जिसे अपने उस **उच्च भाव के बीज के पूर्णत: मर जाने से पहले पहले** उसकी जागृति वा उन्नति के लिए **कुछ न कुछ अनुकूल दशा** मिली हो, और उस बीज की नष्ट कर देने **वाली विरोधी शक्तियों** से उसकी रक्षा हो सकी हो; अन्यथा नहीं।

प्र० । जिस मनुष्य के आत्मा में उसके पूर्वजों के क्रम में किसी उच्च भाव का बीज आया हो, वह क्या कभी मर भी जाता है **?**

उ० । जी हां; यदि उसके फूटने वा जाग्रत होने के निमित उसे कुछ भी अनुकूल दशा न मिले, तो वह एक विशेष काल के अनन्तर धीरे धीरे मर जाता है, और **जब वह पूर्णत: मर जाता है**, तब फिर उस आत्मा में उस उच्च भाव की कभी और किसी विधि से **उत्पत्ति** नहीं होती।

दृष्टान्त :- यदि गेहूं वा जव वा छोले वा मकई आदि के किसी भी ऐसे दाने को कि जिसमें उस दाने से गेहूं वा जव वा छोले वा मकई आदि के पौधे के आकार की बनाने वाली जीवित-शक्ति वर्तमान हो, उसे कई वर्ष तक किसी ऐसे पौधे के बनाने का कोई अवसर न मिले, वा उसे कोई ऐसा अवसर न दिया जाय**, तो उसकी वह जीवित शक्ति धीरे धीरे अपना बल खोती जाएगी**, **और एक विशेष काल में उसकी पूर्णत: मृत्यु हो जाएगी**; और फिर उसके पूर्णत: मर जाने पर जैसे उस दाने में फिर उसी प्रकार की कोई जीवित-शक्ति कभी उत्पन्न न होगी, वैसे ही उस दाने को अच्छी से अच्छी भूमि में बोने और उस भूमि में पानी देने आदि किसी क्रिया के द्वारा भी कोई पौधा उत्पन्न न होगा, और कभी भी और किसी विधि से भी उत्पन्न न होगा।

इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य के आत्मा में **किसी परोपकार विषयक उच्च भाव का बीज** आया भी हो, परन्तु उसकी **पूर्णत: मृत्यु** से पहले पहले उसकी जागृति के लिए उसे कोई अनुकूल दशा न मिले, तो वह भाव भी **सदा के लिए** मर जाता है।

प्र० । क्या ऐसा भी होता है कि किसी आत्मा के भीतर किसी परोपकार विषयक उच्च भाव की उत्पत्ति हो, और वह भाव कुछ काल तक स्थिति भी करे, परन्तु फिर धीरे धीरे मर जाए **?**

उ० । जी हां; ऐसा भी होता है, कि किसी किसी जन में किसी **परोपकार विषयक उच्च भाव** की उत्पत्ति हो जाती है, परन्तु फिर कई प्रकार की शक्तियों के प्रतिकूल प्रभावों से

कुछ काल के अनन्तर उस भाव की **पूर्णत**: **मृत्यु** हो जाती है।

प्र० । अनुकूल और प्रतिकूल दशा क्या होती है **?**

उ० । किसी मनुष्य वा पशु वा पौधे के जीवित शरीर वा उसके जीवित आकार के बनाने और फिर उसके द्वारा अपने भीतर की कई प्रकार की अन्य छिपी हुई शक्तियों के धीरे धीरे प्रकट वा प्रकाश करने के निमित उसकी जीवनी-शक्ति को **अपने से बाहर नेचर की जिन जिन और शक्तियों की सहायता पाने की आवश्यकता है**, उनकी प्राप्ति का अवसर पाने को अनुकूल दशा वा अनुकूल सामानों की प्राप्ति, और उसके विरुद्ध दशा की प्राप्ति को प्रतिकूल दशा की प्राप्ति कहते हैं।

प्र० । क्या **कोई सहायकारी वा अनुल दशा** प्रत्येक मनुष्य वा पशु वा पौधे की जीवनी शक्ति को प्राप्त नहीं होती **?**

उ० । नहीं; लाखों और करोड़ों को प्राप्त नहीं होती।

प्र० । तब उनका परिणाम क्या होता है **?**

उ० । उन्हें अपने अपने लिए किसी गठन प्राप्त जीवित शरीर वा गठन प्राप्त जीवित आकर के बनाने के निमित नेचर से जिस जिस प्रकार के **अनुकूल सामानों** की प्राप्ति की आवश्यकता है, वह सामान यदि उन्हें न मिले, तो फिर इस दशा में वह सब ही धीरे धीरे नष्ट हो जाती हैं। और यदि उनमें से किसी किसी को **केवल कुछ कुछ काल के लिए** ऐसी अनुकुल दशा मिले और फिर न मिले, तो उस उस का उतने उतने काल तक तो इस प्रकार के कार्य का क्रम चलेगा, परन्तु उसके अनन्तर बंद हो जायेगा।

प्र० । क्या कभी ऐसा भी होता है, कि किसी मनुष्य के आत्मा को उसके पूर्वजों से जिस किसी परोपकार विषयक सात्विक भाव का बीज मिला हो, वह उसके जन्म काल से **प्रतिकूल** प्रभावों में पलने और वास करने के कारण केवल यही नहीं कि अपने फूटने का कोई अवसर नहीं पाता, किन्तु वह धीरे धीरे भीतर ही भीतर पूर्णत: नष्ट हो जाता है **?**

उ० । जी हाँ; किसी ऐसी प्रतिकूल दशा में किसी ऐसे उच्च भाव का बीज भी अवश्य पूर्णत: नष्ट हो जाता है।

इसलिए किसी ऐसे बच्चे का कि जिसमें इस प्रकार का कोई उच्च भाव विषयक बीज आया हो, किसी ऐसे माँ बाप वा परिवार में जन्म लेना, और उसका उनके और अन्य

जनों के ऐसे प्रभावों में वास करना जो उसके लिए **प्रतिकूल** वा विनाशकारी हों, अत्यन्त शोचनीय है !!

प्र० । तब क्या किसी मनुष्य के आत्मा में उच्च जीवन की उत्पत्ति के लिए जैसे

(1) किस परोपकार विषयक भाव का बीज रूप में वर्तमान होना आवश्यक है, वैसे ही

(2) उस बीज के प्रस्फुटित और उन्नत होने के लिए नेचर के अटल नियमानुसार जिस जिस प्रकार के अनुकूल प्रभावों का मिलना आवश्यक है, उनकी भी पूर्ण आवश्यकता है ?

उ० । निश्चय । इन दोनों ही बातों का होना आवश्यक है।

प्र० । यदि किसी मनुष्य के आत्मा में परोपकार विषयक किसी उच्च वा सात्विक शक्ति का बीज आया हो, और उसके प्रस्फुटित और उन्नत होने के लिए उसे अनुकूल प्रभाव प्राप्त हों, तो क्या ऐसी दशा में उसके उस उच्च भाव की सदा उन्नति हो सकती है ?

उ० । यदि

(1) उसका वह भाव उन्नतशील हो, और

(2) उसे उस भाव की उन्नति के निमित जिन उन्नति-उत्पादक शक्तियों के साथ अपने जिन जिन स्थायी सम्बन्ध सूत्रों के द्वारा जुड़ने और जुड़े रहने की आवश्यकता है, वह सम्बन्ध सूत्र उसमें वर्तमान हों, और उसके उन सम्बन्ध सूत्रों को कोई और विरोधी शक्ति शिथिल वा नष्ट न कर सकती हो।

दृष्टान्त :-

किसी प्याज़ की जीवित गुट्ठी किसी भूमि में बोने के बिना भी जिस वायु से वह घिरी हुई होती है, उसके एक विशेष अंश के ताप और उसके एक विशेष अंश के गीलेपन के **प्रभावों** को प्राप्त होकर फूट आती है, और इतनी अनुकूल दशा के मिलने पर भी उसके भीतर की जीवनी शक्ति उस गुट्ठी की सामग्री में से एक ओर जैसे एक अंकुर बना लेती है, वैसे ही दूसरी और छोटी छोटी कुछ जड़ें भी बना लेती है, परन्तु उसकी गुट्ठी में इस प्रकार की जितनी सामग्री होती है, वह उतनी नहीं होती कि जितनी उसे **अपने पूर्ण आकर के पौधे के बनाने के लिए आवश्यक है**; इसलिए कुछ काल के अनन्तर जब उस गुट्ठी के भीतर की सारी सामग्री खर्च हो जाती है, तब उसके उस पौधे के बनने का काम भी बंद हो जाता है, और उस गुट्ठी की जीवनी- शक्ति किसी अनुकूल भूमि के साथ

अपनी जड़ों को सलंगन करके अर्थात उस भूमि के साथ जुड़कर और सम्बंधित होकर **अपने पौधे के पूर्ण आकार के बनाने के लिए जो सामग्री पा सकती थी**, **उसके न मिलने से अपनी निर्माणकारी शक्ति** के कार्य को और आगे नहीं बढ़ा सकती, और इसीलिए अपनी उस शक्ति को भी और आगे उन्नत नहीं कर सकती। फिर वह अपने चारों ओर जिस जिस प्रकार की शक्तियों से घिरी हुई होती है, उनके **प्रतिकूल प्रभावों से** धीरे धीरे अपनी उस **निर्माणकारी शक्ति के बल को खोना आरम्भ करती है**, और उसके पूर्णत: खोने वा नष्ट हो जाने पर वह आप भी **मर जाती है**, **और सदा के लिए मर जाती है।**

इसी प्रकार किसी किसी मनुष्य को **परोपकार** विषयक कोई कोई ऐसा भाव जो उसे अपने पूर्वजों से अपने आत्मा में बीज रूप में मिला हो, किसी अनुकूल दशा के मिलने पर प्रस्फुटित हो जाता है; परन्तु जब तक किसी ऐसे आत्मा के साथ उसका कोई स्थायी सम्बन्ध स्थापन न हो कि जिसमें,

(1) उसके उस उच्च भाव को उसकी योग्यता के अनुसार जहाँ तक सम्भव है विकसित करने के लिए,

(2) उसके उस उच्च भाव के भिन्न उसमें जिस जिस किसी और उच्च भाव का बीज आया हो, और उसके प्रस्फुटित और उन्नत होने के लिए उसे कोई अनुकूल प्रभाव न मिले हों; और न मिल सकते हों, उसके प्रस्फुटित और उन्नत करने के लिए,

(3) उसमें उसकी योग्यता के अनुसार आत्म-प्रकाशक ज्योति को पहुंचाकर उसके आत्मिक अन्धकार को दूर करने और उसके जिन जिन नीच अनुरागों और उसकी जिन जिन नीच घृणाओं के प्रभावों से उस में इस आत्मिक अन्धकार की उत्पत्ति होती हो, उनके प्रति **उच्च घृणा** के उत्पन्न करने और इस विधि से उनसे उसे सत्य मोक्ष देने के लिए,

(4) उसे अपने आत्मा के **गठन प्राप्त रूप** और उसके जीवन के **पतन** के विषय में जिन जिन सत्यों के उपलब्ध करने वा देखने की आवश्यकता है, उनके उपलब्ध कराने और इस प्रकार से उस में धर्म विषयक सत्य ज्ञान के उपलब्ध करने, और उनमें से जिन जिन आत्मिक हित सम्बन्धी सत्यों का साथ देने से उसके आत्मा की **निर्माणकारी शक्ति का बल बढ़ सकता है**; उनके प्रति **आकर्षण उत्पन्न** करने के लिए **जिन सच्ची देव-शक्तियों**

की आवश्यकता है, वह पूर्ण रूप से वर्तमान हों;

तब तक किसी भी अधिकारी मनुष्य के आत्मा में उसकी अपनी योग्यता के अनुसार जहाँ जहाँ और जिस जिस प्रकार के **उच्च जीवन** का विकास हो सकता है, वह नेचर के अटल नियमानुसार कभी भी और किसी और विधि से नहीं हो सकता।

प्र० । ऐसी देव-शक्तियों से विशिष्ट आत्मा कौन है, कि जिन के साथ आत्मिक सम्बन्ध स्थापन होने से किसी भी अधिकारी आत्मा का, जहाँ तक उसकी योग्यता के अनुसार सम्भव हो, इस प्रकार का सर्वांग आत्मिक कल्याण वा विकास हो सकता है **?** और उसके साथ नेचर की किस विधि के द्वारा इस प्रकार का आत्मिक सम्बन्ध स्थापन हो सकता है **?**

उ० । ऐसे आत्मा एक मात्र वह **देवात्मा** हैं कि जिन में नेचर के ही करोड़ों वर्षों की विकासकारी गति से उन **सच्ची देव-शक्तियों** का विकास हुआ है, कि जिन के **देव-प्रभावों** के द्वारा नेचर के नियमानुसार **अधिकारी आत्माओं** में उनकी योग्यता के अनुसार इस प्रकार का **उच्च परिवर्तन** होता है।

और उनके साथ किसी अधिकारी आत्मा का **जिन दूसरी प्रकार के उच्च वा सात्विक भावों के द्वारा आत्मिक सम्बन्ध स्थापन होता है**, उनका वर्णन इससे अगले अध्याय में मिलेगा।

****

सताईसवां अध्याय ।

देवात्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध स्थापन करने की सत्य विधि ।

मनुष्य जगत का कोई अधिकारी जन अपने आत्मा में **जिन जिन उच्च वा सात्विक भावों** को विकसित कर सकने पर उनके द्वारा देवात्मा के साथ **आत्मिक** सम्बन्ध स्थापन कर सकता है**,** उन में से चार सात्विक भाव यह हैं :-

(1) उनके सत्य देव रूप के सम्बन्ध में **सत्य और अटल विश्वास भाव।**

(2) उनके सत्य देव रूप के सम्बन्ध में **सत्य और अटल श्रद्धा भाव**।

(3) उनके सत्य देव रूप से अति दुर्लभ आत्मिक कल्याण पाकर उनके प्रति **अटल कृतज्ञ भाव।**

(4) उनके देव प्रभावों के लिए **आकर्षण भाव।**

यह चारों उच्च सात्विक भाव जब तक किसी अधिकारी आत्मा **में कुछ भी** वर्तमान न हों**, तब तक उसका उनके देव-रूप के साथ कुछ भी आत्मिक सम्बन्ध स्थापन नहीं होता**, **और नहीं हो सकता।**

इन चारों सात्विक भावों में से प्रत्येक सात्विक-भाव का आगे चलकर अलग अलग अध्याय में वर्णन मिलेगा।

****

अठाईसवां अध्याय ।

देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सत्य और अटल विश्वास भाव ।

प्र० । देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में **सत्य और अटल विश्वास भाव** से क्या अभिप्राय है **?**

उ० । किसी अधिकारी मनुष्य के आत्मा में **देवात्मा की देव-ज्योति के पहुँचने पर** जब उसे अपनी किसी भी **मिथ्या** वा अपनी किसी **अहित मूलक गति** के विषय में इस सत्य की उपलब्धि हो**,** कि उस **मिथ्या वा अहित मूलक चिन्ता**, **वा अन्य क्रिया का प्रेमी वा साथी बनने से उसका आत्मिक पतन होता है**, **और उसके आत्मा की निर्माणकारी शक्ति का बल घटता है**, **और किसी सत्य और शुभ-मूलक चिन्ता वा क्रिया का साथ देने से उसके आत्मा की निर्माणकारी शक्ति का बल बढ़ता है**, **और उसके बढ़ने से ही उसके आत्मा का जीवन उन्नत वा उसका कल्याण होता है**, **इसलिए देवात्मा में हित और सत्य विषयक जिन अनुराग शक्तियों का सर्वांग विकास हुआ है**, और उन्हें पाकर उन्हें जो सच्चा **देव-जीवन वा देवरूप** प्राप्त हुआ है**,** वह देव- रूप **सत्य** है**,** और उसमें किसी प्रकार का **कोई संदेह नहीं है**, और न उसमें कभी भी कोई संदेह हो सकता है**;** तब उसके हृदय में उनके प्रति इस प्रकार की **सत्य साक्षी देने वाले** जिस उच्च वा सात्विक भाव की उत्पत्ति होती है**,** उसे उनके सम्बन्ध में **सत्य विश्वास भाव** कहते हैं।

प्र० । क्या देवात्मा के प्रति इस प्रकार के सत्य विश्वास की उत्पत्ति से पहले किसी अधिकारी आत्मा में किसी और के सम्बन्ध में भी **सत्य विश्वास** का उत्पन्न होना आवश्यक है **?**

उ० । जी हां **:-**

1. जिस **सत्य नेचर** के विकासकारी कार्य से **देवात्मा** का आविर्भाव हुआ है**,** जिस **सत्य नेचर** की शक्तियों और उसके पदार्थों के द्वारा ही **प्रत्येक सत्य अस्तित्व** प्रकट होता और स्थिति करता है**,** जिस **सत्य नेचर** की ही शक्तियों के **प्रतिकूल प्रभावों** के ग्रहण करने से कोई अस्तित्व **बिगड़ता** और अपने व्यक्तिपन के विचार से **पूर्णत**: नष्ट होता है**,** और जिस

सत्य नेचर की ही शक्तियों के **अनुकूल प्रभावों** को ग्रहण करने के योग्य होने पर उसका कोई अस्तित्व **श्रेष्ठ बनता वा विकसित होता है**, उस **सत्य नेचर के** इस रूप को देवात्मा की देव-ज्योति के द्वारा उपलब्ध करने और उसके सम्बन्ध में इन सब सत्यों की सत्यता के प्रति **विश्वास** करने की भी नितांत **आवश्यकता** है।

2. सत्य नेचर के विकासकारी कार्य में उसका जो जो **अजीवित** और जीवित अस्तित्व **जहाँ तक सहायक** बनता है, वहां तक वह **पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ**, और जहाँ तक **विरोधी वा विघ्नकारी वा बाधा-जनक** बनता है, वहां तक वह पहले की अपेक्षा **अश्रेष्ठ वा पतित** बनता है। इस सत्य को देवात्मा की देव-ज्योति में उपलब्ध करने और उसकी सत्यता पर भी विश्वास करने की आवश्यकता है।

3. सत्य नेचर में सत्य अनुराग और मिथ्या अनुराग **दो परस्पर विरोधी अनुराग हैं**; इसलिए उसके अटल नियमानुसार इन दोनों के अनुरागियों में जहाँ एक ओर **युद्ध का होना अनिवार्य है**, वहां दूसरी ओर इस प्रकार के युद्ध वा संग्राम के उत्पन्न होने पर उसके **विकास** विषयक अटल नियम के अनुसार **सत्य के अनुरागी वा सत्य के पक्षपाती की अंतिम जय का होना भी अनिवार्य है।** इस सत्य को भी देवात्मा की देव-ज्योति में उपलब्ध और उसकी सत्यता पर विश्वास करने की आवश्यकता है।

4 . सत्य नेचर में शुभ अनुराग और अशुभ अनुराग **दो परस्पर विरोधी अनुराग हैं।** इसलिए इन दोनों के अनुरागियों में उसके अटल नियमानुसार जहाँ एक ओर **युद्ध वा संग्राम का होना अनिवार्य है**, वहां दूसरी ओर इस युद्ध वा संग्राम के उत्पन्न होने पर उसके **विकास** विषयक अटल नियम के अनुसार किसी भी **शुभ के अनुरागी वा शुभ के पक्षपाती की अंतिम जय का होना भी अनिवार्य है।** इस सत्य को भी देवात्मा की देव-ज्योति में उपलब्ध और उसकी सत्यता पर विश्वास करने की आवश्यकता है।

अब यदि इन सत्यों के उपलब्ध करने और उनकी सत्यता पर विश्वास करने के लिए देवात्मा की जिस **देव-ज्योति** की आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति के लिए किसी जन में कोई योग्यता न हो, तो फिर उसमें देवात्मा के सम्बन्ध में जिस **सत्य विश्वास भाव** की उत्पत्ति की आवश्यकता है, वह विश्वास भाव कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।

****

उनत्तीसवां अध्याय ।

देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सत्य और अटल श्रद्धा भाव ।

प्र० । देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में **श्रद्धा** विषयक अटल सात्विक भाव क्या होता है **?**

उ० । देवात्मा की **देव-ज्योति** को पाकर जब किसी अधिकारी जन को उनके **सत्य देवरूप और उस रूप की विकासक उनकी देव-शक्तियों की कुछ उपलब्धि हो**, और वह उन्हीं की **देव-ज्योति** में एक ओर **अपने आप को उनसे विहीन** और नाना प्रकार के **नीच सुखों का अनुरागी** और अपने इन नीच अनुरागों के कारण **नाना प्रकार की नीच घृणाओं से भरपूर** और इसीलिए आत्मिक रोगों में ग्रस्त देखता हो**,** और दूसरी ओर अपने आत्मिक रोगों से **मोक्ष** और अपने आत्मिक विकास के निमित्त **उन्हीं के इस सत्य देवरूप में समस्त सामग्री उपलब्ध करता हो**, तब **इन सत्यों की उपलब्धि से** जैसे एक ओर वह उनके इस **देवरूप** की सत्य महिमा और **अपनी तुच्छता को** किसी सीमा तक उपलब्ध करता है**,** और अपने आपको उनका **आश्रित** और उन्हें अपना **पूर्ण आश्रय** बोध करता है**,** वहां दूसरी ओर उनके इस **देवरूप की सराहना वा स्तुति** करने वा उसकी महिमा गाने वा किसी और के द्वारा उनकी स्तुति सुनने का आकांक्षी वा अभिलाषी भी बन जाता है। और इस आकांक्षा वा अभिलाषा के जाग्रत हो जाने पर उनके इस **सच्चे देवरूप की** आप स्तुति वा आराधना करके वा किसी और के द्वारा सुनकर अपने आत्मा में **उच्च रस वा सात्विक सुख लाभ करता है।** उसकी इसी उपलब्धि को **सात्विक श्रद्धा-भाव** कहते हैं।

इस सात्विक श्रद्धा-भाव के उत्पन्न होने से ही देवात्मा के सम्बन्ध में उसमें **सच्ची दीनता** का भाव उत्पन्न होता वा हो सकता है। और इस सात्विक श्रद्धा के उत्पन्न होने से ही उसमें उनके प्रति **सच्चे सन्मान भाव** की उत्पत्ति और उसके **प्रदर्शन** करने की **वास्तविक आकांक्षा** जाग सकती है**;** और वह उसे वास्तविक रूप से प्रदर्शन कर सकता है। इन सात्विक श्रद्धा के भली भान्ति उत्पन्न होने से ही वह उनके देवरूप की महिमा को अपनी

आंतरिक दृष्टि से दर्शन करके उसका निडर होकर और अपने हृदय के उच्छवास के साथ औरों के सन्मुख वर्णन और प्रचार कर सकता है।

******

तीसवां अध्याय ।

देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सत्य और अटल कृतज्ञ भाव ।

प्र० । देवात्मा के सम्बन्ध में कृतज्ञता विषयक उच्च वा सात्विक भाव की उत्पत्ति से क्या अभिप्राय है **?**

उ० । देवात्मा के देव-प्रभावों को पाकर किसी अधिकारी मनुष्य के अपने आत्मा से सम्बन्धित **जो जो मिथ्या विश्वास दूर हुए हों**, और उसे अपने **आत्मा वा सत्य धर्म** के विषय में जो कुछ **सत्य ज्ञान** मिला हो, जिस जिस मिथ्या और हानिकारक अनुष्ठान वा प्रथा से **विरत** होने का भाव जागा हो, और जहाँ तक उसके अपने शरीर वा उसके अपने किसी पारिवारिक सम्बन्धी आदि का कोई **हित** हुआ हो, ऐसे **सब प्रकार के हितों** को पाकर यदि उसे वह सब प्रकार के हित अपने ऊपर **ऋण** की न्याई बोध हों, और यदि वह **इस हित वा ऋण के परिशोध करने के निमित्त** अपने आत्मा में उनकी किसी प्रकार की सेवा करने का **सच्चा और विशुद्ध भाव** उठता हुआ अनुभव करे, और वह अपने इस सच्चे और विशुद्ध भाव से प्रेरित होकर उनके स्थूल शरीर वा उनके किसी आश्रित मनुष्य वा पशु वा उद्यान वा पौधे वा वृक्ष वा घर वा अन्य सम्पति के सम्बन्ध में **उनकी शुभ इच्छा** के जानने और उसे जानकर उसके अनुसार उनकी रक्षा वा सेवा करने के लिए तैयार हो, और **उनके स्थूल शरीर के त्याग के अनन्तर भी इन विषयों में उनके लिए सेवाकारी बनने और रहने का यथेष्ट भाव बोध करता हो**; और ऐसी सेवा के लिए जहाँ तक उसे अपने मानसिक और शारीरिक बल और धन आदि को **अर्पण** करने की आवश्यकता हो, वहां तक वह उन्हें **अर्पण** करने की अपने भीतर **पूर्ण आकांक्षा** रखता हो, तब उसके इस उच्च भाव को उनके सम्बन्ध में सात्विक **कृतज्ञ भाव** कहते हैं।

****

इकतीसवां अध्याय ।

देवात्मा के देव प्रभावों के लिए आकर्षण भाव ।

प्र० । देवात्मा के देव-प्रभावों के लिए आकर्षण भाव क्या होता है ?

उ० । देवात्मा की **देव-ज्योति** के द्वारा जब किसी अधिकारी आत्मा पर यह सत्य प्रकट हो जाए, कि वह अपने जिन नाना प्रकार के नीच सुखों के अनुरागों के कारण विविध प्रकार के आत्मिक रोगों से रोगी है, और उन रोगों के कारण उसके आत्मा का जो पतन हो रहा है, और उसकी निर्माणकारी शक्ति का बल घट है, और यह विनाश की ओर जा रहा है, उस पतन और विनाश से जहां तक सम्भव हो, वह देवात्मा के ही **देव-प्रभावों** को पाकर **सत्य मोक्ष लाभ** कर सकता है, और उसको देवात्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध स्थापन करने वाले जिन **सात्विक भावों** की आवश्यकता है, उनकी यदि किसी अंश में उसमें उत्पत्ति हुई है, तो वह उन्हीं के देव-प्रभावों को पाकर हुई है, और वह सब भाव उसमें उन्हीं के **देव-प्रभावों** के द्वारा **स्थिति और उन्नति कर सकते हैं**, और उनके भिन्न उसमें जिन जिन अन्य उच्च भावों की जागृति और उन्नति सम्भव हो, उनकी जागृति और उन्नति भी उन्हीं के देव-प्रभावों को पाकर हो सकती है; तब इन सत्यों के उपलब्ध करने पर यदि उसके भीतर देवात्मा के **देव-प्रभावों की** प्राप्ति के लिए किसी सच्ची आकांक्षा वा कामना का भाव उत्पन्न हो, तो उसका वह भाव देवात्मा **देव-प्रभावों के प्रति आकर्षण भाव कहलाता है।**

अब यदि देवात्मा के **देव-प्रभावों के प्रति यह आकर्षण भाव** किसी मनुष्य में जाग्रत न हुआ हो, तो वह **अपनी ओर** से उनकी प्राप्ति के लिए कभी कोई साधन न करेगा; और इसलिए उन्हें अपने साधन के द्वारा कभी लाभ भी न कर सकेगा; और ऐसी दशा में **देवात्मा के देवरूप के साथ उसका कोई आत्मिक सम्बन्ध उत्पन्न न होगा**; और वह **अपने आप** उनकी कोई सच्ची **आत्मिक पूजा** न कर सकेगा।

प्र० । क्या यह सम्भव है, कि किसी मनुष्य में देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में कुछ **सत्य विश्वास** की जागृति हुई हो, और उनके प्रति कुछ **सच्ची श्रद्धा और कृतज्ञता** का भाव भी

जागा हो; परन्तु उसमें उनके **देव-प्रभावों** के लिए आकर्षण भाव की इतनी उत्पति न हुई हो, कि जिससे वह उनकी प्राप्ति के लिए आप कोई नियमित साधन कर सके, और अपने ऐसे साधन के द्वारा उन्हें लाभ कर सके **?**

उ० । जी हाँ । इस दशा में वह देवात्मा के देवरूप की कोई सच्ची आत्मिक पूजा भी नहीं कर सकता, कि जो उसकी सच्ची आत्मिक मोक्ष और उसमें उच्च भावों की जागृति और उनकी रक्षा और उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है।

प्र० । यदि कोई जन देवात्मा की सच्ची देव-पूजा करने की योग्य न हो, वा योग्य न बन सके, तो उससे उसकी क्या क्या आत्मिक हानि हो सकती है **?**

उ० । इससे उसके आत्मिक रोगों से उसकी **सत्य मोक्ष** का कोई नियमित पथ न खुलेगा, और उसमें उच्च जीवन की उन्नति का भी कोई लगातार क्रम न चलेगा।

प्र० । क्या इस दशा में उसकी कोई और हानि भी होगी **?**

उ० । जी हां । यदि इस दशा में पतित होते होते उसमें किसी ऐसी उच्च संगत में योग देने की आकांक्षा भी न रहे, कि जिसमें किसी और योग्य साधक के द्वारा उस तक **देवात्मा के देव-प्रभाव** पहुच सकें; अथवा किसी ऐसी उच्च संगत में बैठने पर भी वह अपनी अयोग्यता के कारण देवात्मा के देव-प्रभाव कुछ भी लाभ न कर सके, तो फिर उनके देव -प्रभावों की प्राप्ति से पूर्णत: कट जाने पर उसके लिए नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार दिनों दिन और भी अधिक से अधिक पतित होते जान **अनिवार्य है।**

प्र० । परन्तु यदि कोई जन ऐसा हो, कि वह अपने निज के साधन में भी देवात्मा के **देव-प्रभावों** को लाभ करने के योग्य बन चुका हो, तो क्या वह अपने निज के साधन के द्वारा अपने आत्मा में देवात्मा के देव-प्रभावों के प्रति अपने **आकर्षण** को लगातार बढ़ा वा उन्नत हो सकेगा **?**

उ० । यदि वह अपने ऐसे साधन के समय देवात्मा की **देव-ज्योति** के पाने पर क्या देवात्मा और क्या किसी मनुष्य वा पशु वा पौधे वा नेचर की किसी अन्य वस्तु के सबन्ध में अपनी किसी चिन्ता वा अपने किसी वचन वा अपनी किसी अन्य क्रिया को अपने आत्मिक जीवन के लिए **हानिकारक** रूप में देखकर उसके प्रति कोई **यथेष्ठ उच्च-घृणा** वा इससे भी ऊपर कोई **यथेष्ठ दुःख भाव** बोध न कर सके, अथवा धन, मान, बड़ाई,

संतान, पति, पत्नी आदि विषयक किसी **नीच सुख अनुराग** को अपने आत्मिक जीवन के लिए पतनकारी रूप में देखकर उसके प्रति कोई **उच्च घृणा** वा इससे भी उपर कोई दु:ख बोध न कर सके, और ऐसी दशा रखकर देवात्मा की **इस देव-ज्योति का साथ न दे सके**, और उसका लगातार निरादर करके सुखी वा संतुष्ट रहे, तो उसमें केवल यही नहीं कि देवात्मा के देव-प्रभावों के लिए कोई आकर्षण भाव उन्नत न होगा, किन्तु वह उल्टा घटता जायगा, और घटते घटते किसी दिन कुछ भी न रहेगा।

फलत: किसी अधिकारी जन में भी देवात्मा के देव-भावों के प्रति उतने ही अंश आकर्षण बढ़ सकता है, कि जितने अंश उसके आत्मा में से एक वा दूसरे प्रकार का **पतनकारी सुख अनुराग घट सकता है**, और उस पतनकारी सुख अनुराग के प्रति उसमें **विकर्षण** उत्पन्न हो सकता है। परन्तु यदि **उसमें अपने किसी भी पतनकारी सुख अनुराग के प्रति कोई विकर्षण वा घृणा भाव उत्पन्न न हो**, **और अपने किसी पतनकारी विश्वास**, **वा अपनी किसी पतनकारी चिन्ता वा अपने किसी पतनकारी वचन वा अपनी किसी पतनकारी अन्य क्रिया के प्रति कोई सच्चा विकर्षण भाव जाग्रत न हो**, तो फिर नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार उसमें देवात्मा के **देव प्रभावों के लिए किसी आकर्षण भाव की उन्नति भी सम्भव नहीं।**

****

बत्तीसवां अध्याय ।

देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में विश्वास भाव की उन्नति के साधनों की विधि ।

प्र० । देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में विश्वास भाव की उन्नति क्योंकर हो सकती है **?**

उ० । जब तक उनके देवरूप के सम्बन्ध में उनके किसी विश्वासी जन के आत्मा में अपने इस भाव की **उन्नति** की कोई आकांक्षा वा कामना उत्पन्न न हो, तब तक वह उसकी उन्नति विषयक किसी साधन के ग्रहण करने का इच्छुक ही नहीं हो सकता। और यदि वह किसी अवसर पर देवात्मा के **देव-प्रभावों** को पाकर किसी ऐसे साधन के ग्रहण करने के निमित्त अपने हृदय में कोई **अल्पकालिक लहर** उठने पर उसे आरम्भ भी कर दे, तो वह इस प्रकार के किसी साधन को लगातार चला नहीं सकता।

प्र० । इस विश्वास-भाव की उन्नति विषयक आकांक्षा वा कामना से क्या अभिप्राय है**?**

उ० । यदि देवात्मा की **देव-ज्योति** को पाकर किसी अधिकारी जन में उनके देवरूप की कुछ सच्ची उपलब्धि हो, तो उसे अपनी इस उपलब्धि की दशा में इस महा सत्य की भी उपलब्धि होगी कि उसे अपने **आत्मा के अन्धकार के दूर करने**, उसके नाना प्रकार के पतनकारी विश्वासों, उसकी नाना प्रकार की पतनकारी चिंताओं, उसके नाना प्रकार के पतनकारी वचनों और उसकी विविध प्रकार की अन्य पतनकारी क्रियाओं को उनके **पतनकारी रूप में**, और अपने आत्मा और धर्म के विषय में **जिन सत्यों के देखने**, और उसे अपने आत्मिक जीवन के विकास के लिए जिन उच्च भावों को **सुंदर रूप में उपलब्ध करने के लिए जिस देव-ज्योति की आवश्यकता है**, वह देव-ज्योति उसमें नहीं किन्तु देवात्मा में है; और उसे अपनी ऐसी जिन जिन पतनकारी गतियों से **सच्ची मोक्ष** मिल सकती है, उस मोक्ष की प्राप्ति, और उसे अपने आत्मा में जिस जिस प्रकार के उच्च वा सात्विक भावों को विकसित करके सच्चे धर्म जीवन के लाभ करने की आवश्यकता है, उस सच्चे धर्म जीवन की उत्पत्ति और उन्नति जिस **देव-तेज** की प्राप्ति से हो सकती है,

वह **देव-तेज** भी उसमें नहीं, किन्तु **उनके देवरूप** में है। तब इस **सत्य विश्वास के उत्पन्न होने पर** जब उसे यह ज्ञान भी हो, कि यदि किसी कारण से उसके भीतर का यह सच्चा और हितकर विश्वास मर जाय वा नष्ट हो जाय, तो फिर इस हानि से बढ़कर उसकी कोई और हानि नहीं। इसीलिए उसे अपने इस महा हितकर विश्वास को इतना गहरा और गाढ़ वा उन्नत करना चाहिए कि जिससे वह कभी शिथिल वा नष्ट न हो, किन्तु वह उसमें **पूर्णत: स्थाई और अटल हो जाय**, तब उसके भीतर की यह चाह वा अभिलाषा उसके विश्वास भाव की उन्नति विषयक आकांक्षा वा कामना कहलाती है।

प्र० । क्या इस आकांक्षा से परिचालित होकर जब कोई जन देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में कोई विश्वास वर्द्धक साधन ग्रहण करता है, **तब उससे कोई उच्च वा सात्विक रस वा सुख भी मिलता है** ?

उ० । जी हाँ; अवश्य। और यदि इस **उच्च सुख** की प्राप्ति में उसका कोई नीच सुख विषयक अनुराग रोक न बने, और वह उसे नष्ट न कर दे, और उस उच्च सुख की प्राप्ति के लिए उसका **आकर्षण** दिनों-दिन बढ़ता जाय, तो वह **अपने इस सच्चे विश्वास के लिए** एक वा दूसरे प्रकार के साधन को न केवल ग्रहण कर सकता है, किन्तु उसे जारी भी रख सकता है, अन्यथा न वह किसी ऐसे साधन को ग्रहण कर सकता है, और न उसे लगातार चला सकता है।

प्र० । देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में यदि किसी अधिकारी जन में अपने विश्वास भाव की उन्नति के लिए यथेष्ट आकांक्षा वा अभिलाषा उत्पन्न हो जाय, तो वह अपने इस महा श्रेष्ठ भाव को किस किस विधि से उन्नत कर सकता है **?**

उ० । यदि कोई ऐसा अधिकारी आत्मा देवात्मा के **अद्वितीय देवरूप की उपलब्धि का सच्चा इच्छुक बन** चुका हो, और उनकी देव-ज्योति के पाने का अधिकारी और उसकी प्राप्ति का भी सच्चा आकांक्षी हो चुका हो, तो वह किसी शुद्ध और सुंदर स्थान में अकेला वा अपने जैसे और अधिकारी जनों के साथ बैठकर **उनके इस देवरूप के प्रकाशक निम्नलिखित मूल सत्यों को उपलब्ध करने का** अभ्यास वा साधन करके अपने इस **सत्य विश्वास को उन्नत वा विकसित कर सकता है** :-

पहले मूल सत्य की उपलब्धि का साधन ।

देवात्मा में देव-जीवन के विकास की कथाओं का पाठ और उन पर विचार, **अर्थात**:-

नेचर के नियमानुसार इस पृथ्वी के मनुष्य जगत के लाखों वर्षों के विकास के अनन्तर **देवात्मा के आविर्भाव में हित और सत्य विषयक अनुराग शक्तियां** जो पहले पहल **बीज रूप** में प्रकट हुईं; और फिर नेचर की ही विकासकारी विधि के द्वारा उनका जब जब और जितना जितना और जिस जिस प्रकार से **क्रमशः विकास** हुआ, उस विकास की कथा का उनकी रची हुई पुस्तकों और उनके लेखों में से पाठ, और उस कथा के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार महा सत्यों पर ध्यान पूर्वक विचार :-

(1) उनके नन्हें आत्मा में **हित विषयक देव-अनुराग** जो पहले पहल केवल **बीज रूप** में प्रकट हुआ था, वह बीज नेचर की विकासकारी विधि के अनुसार जब प्रस्फुटित हुआ और जब जब और जहाँ जहाँ और जिस जिस प्रकार से उन्नत हुआ, और फिर उन्नत होते होते जिस प्रकार से **नेचर के सारे जगतों के** साथ सम्बन्धित हो गया, और वह नेचर के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में विविध प्रकार के **हितों के बोधी और प्रेमी बने**, उनके इस अद्विितीय हित अनुराग के विकास और विविध प्रकार के हित विषयक बोधों की बार बार उपलब्धि।

(2) उनके हित बोधों के **उलट** मनुष्य जगत में नेचर के विविध विभागों के सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार की **अहित उत्पादक** चिंताएं और अन्य क्रियाएँ होती हैं, उनके विषय में **उन्होंने जो जो बोध लाभ किये**, उनके इन अहित विषयक अद्विितीय बोधों के विकास की बार बार उपलब्धि।

(3) उन्होंने अपने आत्मा में नेचर के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में हित और अहित बोधों के विकसित होने पर क्या मनुष्य जगत के लोगों के परस्पर के सम्बन्ध में, और क्या उस जगत और उससे नीचे के जगतों के परस्पर के सम्बन्ध में जिस महा **अहित उत्पादक अनमेल** के सत्य को उपलब्ध किया, और इस **अनमेल के दूर होने और उस में हित उत्पादक मेल के उत्पन्न होने की प्रबल आकांक्षा अनुभव की**, और इस प्रबल भाव से परिचालित हो कर उन्होंने मनुष्य जगत के अधिकारी जनों के लिए नेचर के सकल विभागों के सम्बन्ध में अपने अपने **उस अनमेल की दशा के देखने और उससे उद्धार**

पाने और उच्च बोधों को उत्पन्न कर के उनके साथ हितकर मेल के उत्पन्न करने के सम्बन्ध में जो जो वर्जित और कर्तव्य कर्म विषयक आदेश लिखे, **और उनके साधनों की विधियाँ बताई**, उनके इन आदेशों का पाठ और उन पर विचार करके उन की इस अद्वितीय शिक्षा की विशेषता की बार बार उपलब्धि। और वह नेचर के सब विभागों में अहित उत्पादक अनमेल के दूर और हित उत्पादक मेल के उत्पन्न होने के निमित्त अपने दैनिक साधनों में अपने शुभ कामना विषयक संगीत के जिन निम्नलिखित पदों को गाकर शुभकामना करते हैं, उन की उस शुभ कामना की विशेषता पर विचार:-

"सकल विभागों में नेचर के,
उच्च-गतिप्रद परिवर्तन हो;
नीच गति हो विनष्ट दिन दिन,
श्रेष्ठ मेल उनमें उत्पन्न हो।"

अर्थात मेरे देव-प्रभावों के द्वारा नेचर के सारे विभागों में जहाँ तक उच्च परिवर्तन सम्भव हो, वह उच्च परिवर्तन उत्पन्न हो, और जहाँ तक उनमें से परस्पर के सम्बन्ध की नीच गतियाँ विनष्ट हो सकती हों, वह विनष्ट हों, और इस प्रकार से उनमें **श्रेष्ठ मेल** की उत्पत्ति हो।

(4) उन के नन्हें आत्मा में **सत्य विषयक देव** - **अनुराग जो पहले पहल बीज रूप में प्रकट हुआ था**, वह बीज उनमें नेचर की विकासकारी विधि के अनुसार जब प्रस्फुटित हुआ, और जब जब और जहाँ जहाँ और जिस जिस प्रकार से उन्नत हुआ, और उन्नत होते होते वह जिस प्रकार नेचर के सारे जगतों के साथ सम्बन्धित हो गया, और वह अपने इस सत्य अनुराग के विकास से नेचर के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में सत्य और केवल सत्य ज्ञान के प्रेमी बन गये, उन के इस विकास की बार बार उपलब्धि।

फिर वह अपने इस सत्य अनुराग के विकास के साथ साथ नेचर, और नेचर में से मनुष्यात्मा के सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार क्रम क्रम से अधिक से अधिक सत्य ज्ञान लाभ करने के योग्य बने, और उनके बाल्य-काल के धर्म के नाम से संस्कार प्राप्त नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास दूर हुए, और इस पृथ्वी के मनुष्यों में क्या धर्म के नाम से, क्या मनुष्यों के अपने परस्पर के बर्तावों, और क्या नेचर के अन्य जगतों के सम्बन्ध में जिस

जिस प्रकार के मिथ्या विश्वास, मिथ्या चिन्ताएं, मिथ्या वचन और अन्य मिथ्या-मूलक कर्म फैले हुए हैं, उनके विषय में उनके आत्मा में विविध बोधों की उत्पत्ति और उन्नति हुई, और अपनी इस उन्नति के मार्ग में एक विशेष काल में पहुचकर उन्होंने आत्मा और आत्मिक जीवन के विषय में नेचर-मूलक वा नेचर सम्मत जो जो सत्य उपलब्ध किए, और उन्हें उपलब्ध करके उन्होंने इस पृथ्वी में धर्म के नाम से जितनी शिक्षा प्रचलित है, उसे **मिथ्या** बताया, और धर्म के विषय में सत्य ज्ञान की प्रकाशक पुस्तकें लिखीं, और प्रकाशित कीं, और इस धर्म विषयक सत्य ज्ञान की प्राप्ति के निमित पाठ और विचार विषयक साधनों की विधि तैयार और प्रचलित की, उनके इस अद्वितीय सत्य अनुराग विषयक विकास की बार बार उपलब्धि।

फिर इस प्रकार के सब पाठ और विचार के द्वारा इस तत्व की उपलब्धि, कि देवात्मा में **इन देव शक्तियों के प्रकाश और विकास की जो कथा है**, **वह पूर्णत**: **निराली है**; अर्थात उनकी इन देव शक्तियों के बीजों से विहीन होने के कारण न तो विकास सम्बन्धी उसकी अपनी कोई ऐसी कथा है, न उसके किसी पारिवारिक वा अन्य सम्बन्धी की, न उसके किसी देशवासी की, न इस पृथ्वी के किसी भी देश के किसी जन की, न किसी कहलाने वाले देवता वा देवी की, न उनमें से किसी के कहलाने वाले अवतार की, न किसी महर्षि, ऋषि, मुनि, सिद्ध, बुद्ध, तीर्थंकर, जिन्न, योगी, भक्त, गुरु, साधु, महंत, सन्यासी, वैरागी, पैगम्बर, पीर, वली और सेंट की, न कहलाने वाले ईश्वर के किसी विशेष पुत्र वा किसी आचार्य आदि की। क्योंकि यदि उसमें वा उनमें से किसी भी सच्चे अस्तित्व रखने वाले में यह **सच्ची देव शक्तियां बीज रूप में आई होतीं**, और उनका उस में वा उनमें से किसी में **विकास** हुआ होता, **तो उसकी अपनी वा उनमें से किसी और के विकास की कथा भी देवात्मा की इस विकास की कथा से मिलती जुलती पाई जाती। परन्तु क्या उसकी अपनी और क्या उनमें से किसी और की ऐसी कोई कथा नहीं है। इसलिए देवात्मा के देव जीवन की विकास विषयक यह कथा उनके अद्वितीय देवरूप वा अद्वितीय देव जीवन का पूर्ण और अकाट्य प्रमाण है।** इस मूल सत्य की बार बार उपलब्धि करने से साधक के भीतर **देवात्मा के सत्य देवरूप के सम्बन्ध में सत्य विश्वास भाव की उन्नति होती वा हो सकती है।**

दूसरे मूल सत्य की उपलब्धि का साधन ।

देवात्मा के परम लक्ष्य के सम्बन्ध में विविध लेखों का पाठ और उन पर विचार ।

यदि किसी आत्मा में **हित और सत्य विषयक देव शक्तियों** का क्रमशः विकास हुआ हो, तो उसके इस विकास के क्रम में एक ऐसे समय के आने पर, जब कि उनका उस पर **इतना प्रबल अधिकार हो**, **कि वही उसकी पूर्ण परिचालक बन जावें**, नेचर के आत्मिक जगत के नियमानुसार **उनके भावी विकास के निमित** उसके लिए **अपनी अन्य सब शक्तियों को पूर्णत: समर्पण करना**, और उनकी **विरोधी** सब शक्तियों के साथ **युद्ध** करने के निमित खड़ा होना, और इस **देव-युद्ध** में प्रवृत होकर जिस जिस अधिकारी जन में जहाँ जहाँ तक सम्भव हो**, उन्हीं की जय चाहना**, और इस जय को लाभ करके जहाँ तक सम्भव हो**, प्रत्येक अधिकारी जन का आत्मिक कल्याण करना**, और इस अतुल संग्राम में प्रवृत रहकर **अपने देव-जीवन का भी अधिक से अधिक विकास** करना, और इसी और केवल इसी कार्य को अपने आविर्भाव का **एक मात्र लक्ष्य वा परम लक्ष्य जानना और अनुभव करना**, **और उसी के लिए जीना वा अपना जीवन उत्सर्ग करना अनिवार्य हो जाता है।**

इसीलिए देवात्मा के इस उन्नतशील देव-जीवन के विकास में जब ऐसा समय आया, तब उन्होंने मनुष्य जगत के सन्मुख अपने जिस **परम लक्ष्य की घोषणा की**, **उस परम लक्ष्य** की घोषणा उनकी इन सच्ची देव-शक्तियों से विहीन उनसे पहले किसी कहलाने वाले देवता वा देवी वा उसके किसी कहलाने वाले अवतार वा किसी कहलाने वाले धर्म सम्प्रदाय के किसी संस्थापक आदि ने नहीं की थी**; क्योंकि इन सच्ची देव- शक्तियों से विहीन होने के कारण उन में से कोई ऐसी घोषणा कर नहीं सकता था।**

नेचर की अपनी विधि के अनुसार इस समय के आने पर देवात्मा ने अपनी पूरे बतीस वर्ष की वयस में अपने इस **परम लक्ष्य** की अपने एक संगीत के जिन शब्दों के द्वारा घोषणा की, वह यह थे :-

"सत्य शिव सुन्दर हि, मेरा परम लक्ष्य होवे,
जग के उपकार हि में, जीवन यह जावे ।"

अर्थात सुन्दर, सत्य और शुभ मेरा परम लक्ष्य हो, और जगत के उपकार में हि मेरा यह सारा जीवन व्यतीत हो।

उनके इसी परम लक्ष्य के प्रकट करने वाले उनके कुछ वचन यह हैं :-

"सत्यस्य प्रेमी अहं, सत्यं मया जयं लभेत;
शुभस्यच प्रेमी अहं, शुभं मया जयं लभेत;
असत्यस्य शत्रु रहं, असत्यं मया नष्टं भवेत;
अनृतस्य शत्रु रहं, अनृतं मया नष्टं भवेत;
अशुभस्य शत्रु रहं, अशुभं मया नष्टं भवेत्।"

अर्थात

"मैं सत्य का प्रेमी हूं, सत्य सदा मेरे द्वारा **जय** लाभ करे। मैं शुभ वा हित का प्रेमी हूं, शुभ वा हित सदा मेरे द्वारा **जय** लाभ करे। मैं असत्य वा मिथ्या का शत्रु हूँ, असत्य वा मिथ्या सदा मेरे द्वारा **नष्ट हो**। मैं अशुभ वा अहित का शत्रु हूँ, अशुभ वा अहित सदा मेरे द्वारा नष्ट हो।"

यह **परम लक्ष्य** देवात्मा से पहले इस पृथ्वी में किसी ने कभी प्रकट नहीं किया था – न किसी कहलाने वाले विष्णु, शंकर, ब्रह्मा, ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, वाहगुरू, अल्ला, खुदा, लार्ड, गाड आदि किसी देवता ने, न उनमें से किसी के कहलाने वाले किसी अवतार वा किसी विशेष पुत्र ने, न किस कहलाने वाले ऋषि, महर्षि, मुनि, योगी, भक्त, सन्त, महंत, सिद्ध, बुद्ध, तीर्थंकर ने, और न किसी पैगम्बर, पीर, वली और गुरु आदि ने; क्योंकि देवात्मा में जिन **सच्ची देव-शक्तियों** का प्रकाश हुआ है, **उनसे विहीन** होकर किसी और के लिए ऐसे **परम लक्ष्य** की घोषणा करना **सम्भव** नहीं था। इसीलिए देवात्मा के भिन्न इस परम लक्ष्य की किसी ने कभी कोई घोषणा नहीं की।

देवात्मा के इस परम लक्ष्य की उपलब्धि के निम्मित्त उसके निम्नलिखित चार बड़े बड़े लक्षणों की उपलब्धि आवश्यक है :-

1 - **देवात्मा में अपने इस परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त सब प्रकार के सुख विषयक देव-त्याग का विकास।**

देवात्मा में अपने इस अद्वितीय परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त जैसे **अशुभ** और **मिथ्या के अनुरागियों और पक्षपातियों** के साथ **देव-युद्ध** करना अनिवार्य हो गया, वैसे ही इस

देव-युद्ध में अशुभ पर शुभ की और मिथ्या पर सत्य की जय के लिए यथावश्यक **अपने सब प्रकार के सुखों का त्याग करना भी अनिवार्य हो गया।** इन्हीं सुखों के त्याग का नाम **सुख विषयक देव-त्याग है।**

2 - **देवात्मा में अपने परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त यथावश्यक अपने विविध वंशीय, साम्प्रदायिक, सामजिक और पारिवारिक आदि सब प्रकार के सम्बन्धियों के त्यागने के लिए जन विषयक देव-त्याग का विकास।**

देवात्मा के लिए अपने परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त जैसे अशुभ और असत्य के अनुरागियों और पक्षपातियों के साथ **देव-युद्ध** करना अनिवार्य हो गया, वैसे ही उनके इस **परम लक्ष्य की सिद्धि में उनके** जो जो वंशीय-जन, साम्प्रदायिक जन, पारिवारिक जन और अन्य कहलाने वाले मित्र आदि जन विरोधी वा विघ्नकारी वा बाधाकारी वा रोक बने, उन सब का त्याग करना भी अनिवार्य हो गया; इसीलिये उन्होंने उन का भी त्याग किया। इस प्रकार के सब सम्बन्धियों के त्याग का नाम **जन विषयक देव-त्याग है।**

3 - **देवात्मा में अपने परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित विविध प्रकार के घोर से घोर और सांघातिक आघातों के ग्रहण और सहन करने के लिए दु:ख़ ग्रहण विषयक देव-भाव का विकास।**

देवात्मा के लिए अपने परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित जैसे **अशुभ और असत्य** के उन सब अनुरागियों और पक्षपातियों के साथ **देव-युद्ध** करना अनिवार्य हो गया, कि जो बाहर के जन थे और जो उनके **विरोधी** बनकर उनके **उत्पीड़नकारी** बने, और जिनकी उत्पीड़नकारी नाना प्रकार की नीच क्रियाओं से **बड़े बड़े हृदयविदारक आघातों और कष्टों और घोर से घोर दुखों, शारीरिक रोगों, और विविध प्रकार की अन्य हानियों को ग्रहण करना उनके लिए अनिवार्य हो गया**; वैसे ही उनके लिए **अपने पारिवारिक और सामाजिक जनों** की अबोधता, घमंड, द्वेष, स्वार्थ, कर्तव्य- विहीनता, स्वेच्छाचारिता और अपमान आदि मूलक विविध प्रकार की महा नीच क्रियाओं से भी साधारण आघातों और कष्टों के भिन्न, **नाना समयों में बड़े बड़े विशेष कष्ट और घोर से घोर दु:ख और बड़ी बड़ी भयानक यन्त्रणाएं पाना और ग्रहण करना भी अनिवार्य हो गया।** फिर इन में से उनके जो जो उपकृत जन **कृतघ्न** बन जाने पर उन्हें **भांति भाँती से सताने, तड़पाने और उनकी**

अन्य हानियां करने के लिए तैयार हुए, उनकी इन महा कृतघ्नता मूलक क्रियाओं से भी अपने देव-हृदय पर बड़े बड़े आघात और दारुण कष्ट पाना और स्वीकार करना अनिवार्य हो गया। इससे भी बढ़कर ऐसे ही नाना जनों की **पिशाचाना क्रियाओं** के कारण वह अपने शरीर की **स्नायु- प्रणाली के चकनाचूर हो जाने पर** नाना समयों में जिस प्रकार शारीरिक **मृत्यु के निकट पहुँच जाते रहे**, वह महा शोचनीय दशा **पूर्णत: अवर्णनीय है।** और अपने जिस देव-भाव के महा प्रबल अधिकार में होने के कारण उन्हों ने अपने ऊपर यह सब प्रकार के महा आघात, महा कष्ट, महा यन्त्रणायें और अति दारुण दु:ख स्वीकार और ग्रहण किये, उसी का नाम **दु:ख ग्रहण विषयक देव-भाव हैं।**

4 - **देवात्मा में अपने परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त अपनी शारीरिक, मानसिक, विद्या और धन सम्पत्ति आदि विषयक सारी शक्तियों के अर्पण करने के समर्पण विषयक देव-भाव का विकास ।**

देवात्मा के लिए अपने परम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त जैसे **अशुभ और असत्य** के अनुरागियों और पक्षपातियों के साथ **देव-युद्ध** करना अनिवार्य हो गया, वैसे ही अपनी शारीरिक, मानसिक, विद्या और धन और अन्य सम्पत्ति विषयक **सब शक्तियों का अर्पण करना भी अनिवार्य हो गया।** इसी सब शक्तियों के समर्पणकारी भाव का नाम **समर्पण विषयक देव-भाव है।**

देवात्मा का यह **अद्वितीय परम लक्ष्य उनके अद्वितीय देव-रूप** का दूसरा पूर्ण और अकाट्य प्रमाण है। इस दूसरे मूल सत्य की बार बार उपलब्धि करने से देवात्मा के सच्चे देव-रूप के सम्बन्ध में विश्वास भाव की उन्नति होती वा हो सकती है।

तीसरे मूल सत्य की उपलब्धि का साधन ।

देवात्मा में देव जीवन के विकास से अद्वितीय देव-ज्योति का प्रकाश और विकास ।

देवात्मा में **सच्ची देव शक्तियों** के क्रमश: विकास से उनमें जिस **देव-ज्योति** का क्रमश: विकास हुआ, वह **देव-ज्योति** भी उनसे पहले **उन शक्तियों से विहीन** किसी भी कहलाने वाले देवता वा देवी वा उनमें से किसी के कहलाने वाले अवतार वा किसी कहलाने वाले धर्म सम्प्रदाय के संस्थापक वा किसी भी अन्य नामधारी मनुष्य में प्रकट नहीं हुई थी;

इसलिए इस **देव-ज्योति** के द्वारा ही आत्मा के संगठन प्राप्त रूप, उनके रोगों, उसके पतन, उस पतन के विनाशकारी फलों, उन फलों से उसकी मोक्ष, और उसमें उच्च जीवन के विकास के सम्बन्ध में **जो जो महा सत्य दिखाई देते हैं**, **वा दे सकते हैं**, **और बिना उसके किसी और विधि और किसी और प्रकार से दिखाई नहीं देते**, **और नहीं दे सकते**, **उनका ज्ञान भी उनमें से किसी को न था**; **और इन सत्यों के ज्ञान के विचार से इस पृथ्वी का सारे का सारा मनुष्य जगत पूर्ण अन्धकार की दशा में था।**

देवात्मा ने ही अपनी इस **अद्वितीय देव-ज्योति** को क्रम क्रम से विकसित करने के योग्य होने पर इन विषयों के छिपे हुए और अति गूढ़ **महा सत्यों** को समय के साथ साथ देखा और प्रकट किया है।

देवात्मा की रची हुई और पुस्तकों को छोड़कर देव-शास्त्र के इसी तीसरे खंड में मनुष्यात्मा के सम्बन्ध में जितना कुछ वर्णन है, उसमें उनकी इसी पूर्णत: **नई शिक्षा** का प्रकाश किया गया है।

इस शिक्षा के ही सत्य ज्ञान से जहाँ किसी अधिकारी मनुष्य को **धर्म के विषय में सत्य ज्ञान मिलता है**, वहां उस पर यह सत्य भी प्रकट होता वा हो सकता है, कि **देवात्मा से पहले मनुष्य जगत में किसी को भी धर्म के विषय में कोई सत्य ज्ञान न था और उनसे पहले इस पृथ्वी में किसी भी कहलाने वाले देवता वा देवी वा किसी भी संप्रदाय के संस्थापक के द्वारा धर्मं विषयक सत्य ज्ञान का प्रचार नहीं हुआ था**, **और न किसी अंधकार-ग्रस्त आत्मा के द्वारा उसका प्रचार होना कभी सम्भव था।**

इस अद्वितीय **देव-ज्योति** के क्रमश: विकास से देवात्मा ने जिन महा गूढ़ सत्यों को देखा, उनमें से बड़े बड़े सत्य यह हैं :-

(1) मनुष्य के आत्मा के संगठन-प्राप्त रूप और उसके रोगों, उसके पतन और विनाश, उसके पतन से उसकी मोक्ष और उसमें उच्च जीवन के विकास के विषय में जो **सत्य ज्ञान** है, वही और केवल वही ज्ञान धर्म विषयक सत्य ज्ञान है; और इस सत्य ज्ञान को छोड़ कर एक वा दूसरे किसी झूठे देवता, उसकी किसी झूठी स्तुति, उससे किसी झूठी प्रार्थना, उसके सम्बन्ध में किसी मन्त्र वा उसके नाम आदि का जप, उससे किसी झूठी सहायता पर निर्भर, और उससे किसी झूठी मोक्ष, किसी प्रकार के योग वा अन्य विधि के

द्वारा किसी सुख वा आनंद की प्राप्ति आदि के विषय में इस पृथ्वी में जितने विश्वास वा मत, धर्म के नाम से फैले हुए हैं, उनमें से कोई विश्वास वा मत धर्म विषयक सत्य ज्ञान नहीं।

(2) धर्म विषयक सत्य ज्ञान की बुनियाद **एक मात्र सत्य नेचर पर हैं।** इसी हेतु से धर्म विषयक सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए **सत्य नेचर के मूल तत्वों का ज्ञान भी आवश्यक है। इसीलिए सत्य नेचर के अटल नियमों के विरुद्ध इस पृथ्वी के नाना सम्प्रदायों में धर्म के नाम से जो जो और जितनी जितनी शिक्षा प्रचलित है**, **वह सब की सब पूर्णत: मिथ्या है।**

(3) हित और सत्य विषयक पूर्णांग **देव-अनुरागों** और उनके उलट अहित और असत्य विषयक पूर्णांग **देव घृणाओं** से विशिष्ट **एक मात्र देवात्मा ही सत्यदेव हैं**, और इन देव-शक्तियों से विहीन **कोई सत्य अस्तित्व भी सत्यदेव नहीं।**

(4) सत्यदेव होने के कारण **एक मात्र देवात्मा ही** सब अधिकारी मनुष्यों के लिए **सत्य उपास्य हैं**, **और उनके भिन्न और कोई सत्य उपास्य नहीं।**

(5) मनुष्यात्माओं में विविध प्रकार के **सुख विषयक नीच अनुरागों** और उनसे उत्पन्न विविध प्रकार के नीच घृणा भावों की वर्तमानता और उनकी प्रेरणाओं से ही उनके द्वारा **सब प्रकार की मिथ्याओं और सब प्रकार के अहितों की उत्पत्ति होती है।** उसके ये नीच सुख अनुराग और उनसे उत्पन्न उसके नीच घृणा भाव मनुष्य जगत में सब प्रकार की **मिथ्याओं** और सब प्रकार के **अहितों** की उत्पत्ति के **मूल कारण** हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा मनुष्यात्माओं का **पतन** और उसकी **मृत्यु** वा उनका विनाश होता है, **इसीलिए कोई भी सुख किसी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता।**

(6) नीच सुखों के सब प्रकार के अनुरागों और उनसे जिन जिन घृणाओं की उत्पत्ति होती है, उन सब घृणाओं और उन दोनों से जिन जिन असत्यों और अहितों की उत्पत्ति होती है, उन सब प्रकार के असत्यों और उन सब प्रकार के अहितों से जहां जहां तक किसी जन के लिए सम्भव हो, सच्चा उद्धार पाना ही **सत्य मोक्ष** है, और उसके भिन्न और कोई भी सत्य मोक्ष नहीं।

(7) किसी मनुष्यात्मा में **परोपकार** विषयक और देवात्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध

उत्पादक उच्च वा सात्विक भावों की **जाग्रति और उन्नति से ही उच्च वा सच्चे धर्म जीवन का विकास होता है**, इसी उच्च जीवन की प्राप्ति से **उसके जीवन- बल वा उसकी निर्माणकारी शक्ति की उन्नति होती है**; बिना इन उच्च शक्तियों के विकास के उस में न तो **उच्च वा धर्म जीवन की उत्पत्ति होती है**, और न उसकी निर्माणकारी शक्ति की उन्नति होती है।

(8) देवात्मा के **देव-प्रभावों** के मिलने से किसी अधिकारी आत्मा को उसकी योग्यता के अनुसार **जहाँ तक वा जितनी सत्य मोक्ष मिलती वा मिल सकती है**, वह उसे किसी और विधि से नहीं मिलती और नहीं मिल सकती। और जो जन अपेक्षाकृत बढ़िया श्रेणी के अधिकारी हों, उनमें उनके **सत्य देवरूप** के साथ जिन **उच्च वा सात्विक शक्तियों के द्वारा** सच्चा और आत्मिक सम्बन्ध स्थापन हो सकता है, उन सच्ची वा सात्विक शक्तियों का, और फिर उन्हें प्राप्त होकर उनके द्वारा देवात्मा के देवरूप के साथ आत्मिक सम्बन्ध स्थापन हो जाने पर **उसमें उच्च वा धर्म जीवन का भी जितना विकास होता वा हो सकता है**, **उतना उच्च विकास उसमें और किसी विधि से नहीं हो सकता**। और उनके देवरूप के साथ सच्चे **आत्मिक सम्बन्ध** के स्थापित हो जाने से किसी अधिकारी आत्मा के लिए उसकी भावी सत्य-मोक्ष और उसमें उसके भावी उच्च-जीवन के विकास का जहाँ तक पथ खुल सकता है, वहां तक वह पथ किसी और विधि से नहीं खुलता और नहीं खुल सकता।

यह वह **महा सत्य** हैं कि जिन्हें **देवात्मा ने ही इस पृथ्वी में अपनी अद्धितीय देव-ज्योति के द्वारा देखा और प्रकट किया है**, और जिन्हें इस देव-ज्योति से विहीन किसी मनुष्य वा कहलाने वाले देवता वा देवी ने कभी नहीं देखा था, और इसीलिए कभी प्रकट भी नहीं किया था। फिर प्रत्येक अधिकारी आत्मा भी इन महा सत्यों को **केवल देवात्मा की ही देव-ज्योति को पाकर देख सकता है**; और उस देव-ज्योति के बिना कदापि नहीं ।

अधिकारी मनुष्यों में इस देव-ज्योति के द्वारा उच्च परिवर्तन विषयक कार्य ।

(1) देवात्मा की इस अद्धितीय **देव-ज्योति** की जब कुछ किरणें किसी अधिकारी मनुष्य के आत्मा में पहुचती हैं, तब उनके द्वारा उसका **आत्मिक अंधकार दूर होता है**, और उसे

धर्म के नाम से पहले से प्राप्त **कई प्रकार के मिथ्या विश्वास मिथ्या रूप में दिखाई देते हैं**, कि जो इस देव-ज्योति के बिना उसे पहले **कभी मिथ्या दिखाई नहीं देते थे।**

(2) देवात्मा की इसी **देव-ज्योति** की किरणों को पाकर किसी अधिकारी आत्मा को अपनी एक वा दूसरी **पतनकारी चिन्ता वा पतनकारी अन्य क्रिया अपने लिए पतनकारी वा हानिकारक रूप में दिखाई देती है**, कि जो उसे पहले इस **देव-ज्योति** के पाने के बिना **अपने लिए पतनकारी वा हानिकारक रूप में दिखाई नहीं देती थी।**

(3) देवात्मा की इसी **देव-ज्योति** की किरणों को पाकर किसी अधिकारी आत्मा को एक वा दूसरा **उच्च वा सात्विक भाव सुन्दर और अपने लिए हितकर रूप में दिखाई देता है**, कि जो इस **देव-ज्योति** के मिलने से पहले उसे सुन्दर और हितकर रूप में दिखाई नहीं देता था।

(4) देवात्मा की इसी **देव-ज्योति** की किरणों को पाकर किसी अधिकारी आत्मा को अपनी एक वा दूसरी **हीनता** दिखाई देती है, कि जो इस **देव-ज्योति** के मिलने से पहले उसे कुछ भी दिखाई नहीं देती थी।

अपनी इसी देव-ज्योति के द्वारा अधिकारी आत्माओं में उच्च परिवर्तन लाने के निमित देवात्मा अपने दैनिक साधन में अपने शुभ कामना विषयक जिस संगीत का गान करते हैं, उसके कुछ पद यह हैं :---

आत्मा तिमिर हर देव-ज्योति मम,
आत्म प्रकाशक देव-ज्योति मम, } चारों दिग वह परकीरण हो ;
आत्मा बोध प्रद देव-ज्योति मम,

तिमिर से निकलें जन अधिकारी,
आत्म रूप देखें अधिकारी, } आत्मज्ञान उन में उत्पन्न हो ।
आत्म रोग देखें अधिकारी, } सत्य धर्म का ज्ञान उत्पन्न हो ।
आत्म-पात देखें अधिकारी,
आत्म-हित देखें अधिकारी,

फलतः इस देव-ज्योति के यह सब चमत्कार और लक्षण जैसे **अद्वितीय हैं,** वैसे ही यह **देव-ज्योति** जिस देवात्मा में विकसित हुई है, वह उनके **सत्य देवरूप** का तीसरा पूर्ण और अकाट्य प्रमाण है। इस तीसरे मूल सत्य की भी बार बार उपलब्धि करने से देवात्मा के सच्चे देवरूप के सम्बन्ध में विश्वास भाव की उन्नति होती वा हो सकती है।

चौथे मूल सत्य की उपलब्धि का साधन ।

देवात्मा में देव-जीवन के विकास से अद्वितीय देव-तेज़ का प्रकाश और विकास ।

देवात्मा में सच्ची देव-शक्तियों के क्रमशः विकास से निम्न लिखित चार देव- भावों से विशिष्ट जिस **देव-तेज** का क्रमशः विकास हुआ, उसका विकास भी उनसे पहले **उन देव-शक्तियों से विहीन** किसी कहलाने वाले देवता वा देवी वा उनमें से किसी के कहलाने वाले अवतार वा किसी कहलाने वाले धर्म सम्प्रदाय के किसी संस्थापक वा किसी भी अन्य जन में नहीं हुआ था :-

1 - **देवात्मा में देव-तेज सम्बन्धी देव-घृणा का विकास ।**

(1) देवात्मा में शुभ और सत्य विषयक **देव-अनुरागों** के क्रमश: विकास से नेचर के अटल नियमानुसार उनके विरुद्ध अशुभ और असत्य के प्रति जिन **घृणा शक्तियों वा घृणा भावों** का क्रमश: विकास हुआ, उन्हीं घृणा भावों का नाम **देव-घृणा है।**

(2) देवात्मा में इसी **देव-घृणा** के क्रमश: विकास के साथ साथ मनुष्यात्माओं की सब प्रकार की **मिथ्याओं** और उनकी सब प्रकार की आंतरिक और बाह्यक **अशुभ-मूलक क्रियाओं** के प्रति घृणा भावों का क्रमश: विकास हुआ।

(3) देवात्मा में अपने इसी **देव-घृणा** के विकास के कारण नेचर के नियमानुसार किसी भी **सुख अनुराग** की उत्पत्ति न हो सकी, और न हुई; क्योंकि **सुख अनुराग** से ही विविध प्रकार की मिथ्याओं और विविध प्रकार के अहितों की उत्पत्ति होती है। इसलिए **मनुष्यात्माओं की न्याई देवात्मा किसी भी सुख के अनुरागी न बन सके**, **और न बने और न हुए।**

(4) देवात्मा में **देव-घृणा** के विकास के कारण, जैसा कि नेचर के नियमानुसार होना आवश्यक था, किसी भी **सुख के विषय**, अर्थात किसी मनुष्य, पशु, पौधे वा वृक्ष, धन, धरती, घर वा अन्य पदार्थ के लिए भी किसी अनुराग की उत्पत्ति न हो सकी, और न हुई; और **मनुष्यात्माओं की न्याई वह किसी भी सुख सम्बन्धी विषय के भी अनुरागी न बन सके**, **और न बने और न हुए।**

(5) देवात्मा में किसी भी सुख के **विषय**, अर्थात किसी भी मनुष्य, पशु, पौधे वा वृक्ष, धन, धरती, घर वा अन्य पदार्थ के लिए अनुराग के उत्पन्न न होने से उनमें से किसी के प्रति **पक्षपात** की भी उत्पत्ति न हो सकी, और न हुई; और वह **मनुष्यात्माओं की न्याई उनमें से किसी के पक्षपाती न बन सके**, **और न बने और न हुए।**

(6) देवात्मा में किसी भी सुख के **विषय** अर्थात् किसी मनुष्य, पशु, पौधे वा वृक्ष, धन, धरती, घर वा अन्य पदार्थ के अनुराग के उत्पन्न न होने से उन में से किसी के सम्बन्ध में **दासत्व** की भी उत्पत्ति न हो सकी, और न हुई; और इसीलिये वह उनमें से किसी के साथ "मोह" बन्धन में न बन्धे**, और न उनमें से किसी के दास बने और दास हुए।**

(7) देवात्मा में किसी भी सुख के **विषय** अर्थात् किसी मनुष्य, पशु, पौधे वा वृक्ष, धन, धरती, घर वा अन्य पदार्थ के अनुराग के उत्पन्न न होने से उनमें से किसी के प्रति घृणा भाव की भी उत्पत्ति न हो सकी, और न हुई; और वह **मनुष्यात्माओं की न्याई उनमें से किसी के लिए घृणाकारी न बन सके**, **और न बने और न हुए।**

(8) देवात्मा में नेचर के किसी भी मनुष्य, पशु, पौधे वा वृक्ष, और उसके किसी भी अजीवित पदार्थ के प्रति **घृणा भाव के उत्पन्न न होने से** उनमें से किसी के सम्बन्ध में **द्वेष वा प्रतिशोध वा ईर्षा-भाव** की उत्पत्ति भी न हो सकी, और न हुई; और वह **मनुष्यात्माओं की न्याई उनमें से किसी के सम्बन्ध में द्वेषी वा ईर्ष्याकारी न बन सके**, **और न बने और न हुए।**

2 – देवात्मा में देव-तेज सम्बन्धी देव-दुःख का विकास ।

मनुष्य जगत में मनुष्यों के सुख विषयक नीच अनुरागों और उनके नीच घृणा-भावों के द्वारा क्या उनके परस्पर के विविध सम्बन्धों में, और क्या पशु जगत के लाखों जीवों के

सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार के पूर्णत: अनुचित महा-कष्टों और महा-दुखों की उत्पत्ति होती है, और उससे नीचे के जगतों के विविध अस्तित्वों का भी विविध प्रकार से अहित होता है; और उनके यह सब सम्बन्ध **अन्याय वा अधर्म- मूलक बने हुए हैं**, उनके इन **अधर्म-मूलक सम्बन्धों के प्रति** देवात्मा में जिस दु:ख का क्रमश: विकास हुआ, उसका नाम **देव-दुख** हैं।

3 – **देवात्मा में देव-तेज सम्बन्धी देव-शत्रुता का विकास ।**

देवात्मा में देव-दुख के क्रमश: विकास से मनुष्य जगत के सुख विषयक **नीच अनुरागों** और उनसे उत्पन्न उसके नीच **घृणा-भावों** और उनसे जिस जिस प्रकार की **मिथ्याओं और अशुभों** की उत्पत्ति होती है, उन सब के प्रति क्रम क्रम से जिस शत्रुता विषयक भाव का विकास हुआ, और वह उन नीच अनुरागों और उन नीच घृणा भावों और उनसे उत्पन्न विविध प्रकार के असत्यों और विविध प्रकार के अहितों के अधिक से अधिक शत्रु बनते गए, उसका नाम **देव-शत्रुता** है।

4 – **देवात्मा में देव-तेज सम्बन्धी देव-विश्वास का विकास ।**

देवात्मा में देव-तेज सम्बन्धी **देव-युद्ध** के क्रमश: विकास से जैसे सब प्रकार के **अशुभ और असत्य के नष्ट** करने और उन पर **जय** लाभ करने का भाव दिनो-दिन विकसित होता गया, वैसे ही इस **देव-युद्ध** में रत होने और उसके द्वारा अशुभ और असत्य के प्रेमियों और पक्षपातियों पर नेचर की ही विकासकारी शक्तियों की सहायता को पाकर अशुभ के विरुद्ध शुभ की, और असत्य के विरुद्ध सत्य की जय पर जय लाभ करने से उनकी जय के सम्बन्ध में नेचर के विकास विषयक कार्य के प्रति क्रमश: जिस **विश्वास** का विकास हुआ, उसी का नाम **देव-विश्वास है।** इस देव-विश्वास के सम्बन्ध में देवात्मा का अपना वचन यह है:-

“असत्यस्य सह संग्रामे, सत्य मेव लभते जयम;
अशुभस्य सह संग्रामे, शुभ मेव लभते जयम”।

अर्थ – असत्य के साथ संग्राम के उत्पन्न होने पर सत्य ही जय लाभ करता है; अशुभ के

साथ संग्राम के होने पर शुभ ही जय लाभ करता है।

अधिकारी मनुष्यात्माओं में देवात्मा के इस देवतेज के द्वारा उच्च परिवर्तन की उत्पत्ति का कार्य ।

(1) देवात्मा के इस अद्वितीय **देव-तेज** की जब कुछ किरणें किसी अधिकारी आत्मा में प्रवेश करने का अवसर पाती हैं, तब उसे उन्हीं की **देव-ज्योति** की किरणों के मिलने से अपने आत्मा वा धर्म के विषय में जो कोई विश्वास वा मत **मिथ्या दिखाई दिया हो**, उस मिथ्या विश्वास वा मिथ्या मत के प्रति उसमें **उच्च घृणा** की उत्पत्ति होती है, कि जो उच्च घृणा उसमें पहले नहीं होती; और यदि उसमें इस **देव-तेज** की किरणें इतनी मात्रा में प्रवेश कर सकें, कि जितनी मात्रा में प्रवेश करने से ही नेचर के आत्मिक जगत के नियमानुसार उसके **उस मिथ्या विश्वास वा मत का पूर्ण नाश हो सकता है**, तो उतनी मात्रा में इस **उच्च घृणा** के उत्पन्न हो जाने पर उसके लिए अपने उस **प्रिय मिथ्या विश्वास वा मत का पूर्ण नाश हो सकता है**, तो उतनी मात्रा में इस **उच्च घृणा** के उत्पन्न हो जाने पर उसके लिए अपने उस **प्रिय मिथ्या विश्वास वा मिथ्या मत को परित्याग करना और उससे सत्य मोक्ष लाभ करना अनिवार्य हो जाता है।**

(2) देवात्मा के इस अद्वितीय **देव-तेज** की जब कुछ किरणें किसी अधिकारी आत्मा में प्रवेश करती हैं, तब उनसे उन्हीं की **देव-ज्योति** की किरणों को पाकर अपनी जो कोई पतनकारी चिन्ता वा अन्य क्रिया **अपने लिए** पतनकारी वा हानिकारक रूप में दिखाई दी हो, उस पतनकारी चिन्ता वा अन्य क्रिया के लिए उसमें **उच्च घृणा** की उत्पत्ति होती है, कि जो **उच्च घृणा** उसमें पहले नहीं होती, और यदि उसमें इस **देव-तेज** की किरणें इतनी मात्रा में प्रवेश कर सकें, कि जितनी मात्रा में प्रवेश करने पर ही नेचर के आत्मिक जगत के नियमानुसार उसकी उस पतनकारी चिंता वा पतनकारी अन्य क्रिया का पूर्ण **नाश** जो सकता है, तो उतनी मात्रा में इस **उच्च घृणा** के उत्पन्न होने पर उसके लिए अपनी उस पतनकारी चिन्ता वा अन्य क्रिया का **परित्याग** करना और उससे **सत्य मोक्ष** लाभ करना अनिवार्य हो जाता है।

(3) देवात्मा के इस अद्वितीय **देव-तेज** की जब कुछ किरणें किसी अधिकारी मनुष्य में

प्रवेश करती हैं, तब उसे उन्हीं की **देव-ज्योति** की किरणों को पाकर अपना जो जो **आत्मिक विकार** अपने आत्मा के लिए हानिकारक वा पतनकारी रूप में दिखाई दिया हो, उस विकार के सम्बन्ध में **उच्च दुख** की उत्पत्ति होती है, कि जो **उच्च दुःख** उसमें पहले नहीं होता। और यदि उसमें इस **देव-तेज** की किरणें इतनी मात्रा में प्रवेश कर सकें, कि जितनी मात्रा में प्रवेश करने पर ही नेचर के आत्मिक जगत के नियमानुसार उसकी अपने उस पतनकारी **आत्मिक विकार** से शुद्धि हो सकती है, तो उतनी मात्रा में इस **उच्च दुःख** के उत्पन्न होने पर उसके लिए अपने उस आत्मिक विकार के सम्बन्ध में **हानि परिशोध** करके उसके द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, उससे **सत्य पवित्रता वा सत्य मोक्ष** लाभ करना अनिवार्य हो जाता है।

(4) देवात्मा के इस अद्वितीय **देव-तेज** की जब कुछ किरणें किसी आत्मा में प्रवेश करती हैं, तब उसे उन्हीं की **देव-ज्योति** की किरणों को पाकर जो कोई उच्च वा सात्विक भाव **सुन्दर और अपने लिए हितकर** रूप में दिखाई दिया हो, उसके प्रति उसमें **आकर्षण** उत्पन्न होता है; कि जो **आकर्षण** उसमें पहले नहीं होता। और यदि देवात्मा के इस **देव-तेज** की किरणें उसे लगातार मिल सकें, और वह उन्हें ग्रहण कर सके, तो उनकी आवश्यक मात्रा में प्राप्ति से आत्मिक जगत के नियमानुसार उसके भीतर का वह **आकर्षण भाव** धीरे धीरे और भी उन्नत हो सकता है, और वह उस उच्च वा सात्विक भाव के **उच्च सुख** का अनुरागी भी बन सकता है और उसका अनुरागी बनने पर उसके द्वारा अपने आत्मा में उच्च जीवन का विकास कर सकता है।

अधिकारी जनों में अपने इसी **देव-तेज** के द्वारा उच्च परिवर्तन उत्पन्न करने के निमित, देवात्मा अपने दैनिक साधन में अपने शुभ कामना विषयक जिस संगीत का गान करते हैं, उसके पद यह हैं:-

<u>उच्च घृणा प्रद देव-तेज मम</u>
उच्च दुःख प्रद देव-तेज मम
चारों दिग वह परकिरण हो;

<u>नीच राग हर देव-तेज मम</u>
नीच घृणा हर देव-तेज मम
चारों दिग वह परकिरण हो;

उच्च घृणा पावें अधिकारी,
उच्च दु:ख पावें अधिकारी
नीच राग त्यागें अधिकारी,
नीच घृणा त्यागें अधिकारी,

आत्मरोग से
आत्मपात से।
नीच गति से

निस्तारन हो।

परम लक्ष्य मेरा पूरन हो,

जीवन व्रत मेरा पूरन हो ।

उच्च भाव प्रद देव-तेज मम
उच्च राग प्रद देव-तेज मम

चारों दिग वह परकिरण हो;

उच्च भाव पावें अधिकारी,
उच्च राग पावें अधिकारी,
उत्पन्न पावें अधिकारी,
उच्च अंग पावें अधिकारी,
उच्च गति पावें अधिकारी,

उच्च रुप उन में उत्पन्न हो।
श्रेष्ठ रुप उन में उत्पन्न हो।
आत्म बल उन में उत्पन्न हो।
जीवन बल उन में उत्पन्न हो।

परम लक्ष्य मेरा पूरन हो,

जीवन व्रत मेरा पूरन हो ।

देवात्मा के **देव-तेज** सम्बन्धी यह सब अद्बितीय लक्षण भी **उनकी सच्ची देव शक्तियों से विहीन** जैसे किसी कहलाने वाले देवता वा देवी में प्रकट नहीं हुए थे, और नहीं हो सकते थे, वैसे ही वह उनमें से किसी के कहलाने वाले अवतार वा किसी भी कहलाने वाले धर्म संप्रदाय के किसी संस्थापक वा किसी भी अन्य मनुष्य में कभी उत्पन्न नहीं हुए थे, और नहीं हो सकते थे।

देवात्मा के सच्चे देवरूप के सम्बन्ध में उनकी रचित विविध पुस्तकों और लेखों के पाठ और विचार के द्वारा इन चारों मूल सत्यों की उपलब्धि से प्रत्येक अधिकारी आत्मा में उसकी अपनी योग्यता के अनुसार उनके प्रति सात्विक विश्वास भाव की उन्नति हो सकती है।

****

तेतीसवां अध्याय।

देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में श्रद्धा भाव की उन्नति के साधनों की विधि।

प्र०। देवात्मा के **देवरूप के सम्बन्ध में उनका कोई श्रद्धावान जन अपने श्रद्धा-भाव** की क्योंकर उन्नति कर सकता है **?**

उ०। जब तक देवात्मा के **देवरूप** के सम्बन्ध में किसी श्रद्धावान जन के भीतर अपने श्रद्धा-भाव की **उन्नति** की आकांक्षा वा कामना उत्पन्न न हो**,** तब तक वह अपने इस श्रद्धा-भाव की उन्नति विषयक किसी साधन को ग्रहण करने का इच्छुक ही नहीं हो सकता। और यदि वह किसी अवसर पर देवात्मा के देव-प्रभावों को पाकर उसके ग्रहण करने के निमित्त अपने हृदय में कोई अल्पकालिक लहर उठने पर उसे आरम्भ भी कर दे**,** तो भी वह इस प्रकार के किसी साधन को लगातार चला नहीं सकता।

प्र०। इस श्रद्धा-भाव की उन्नति की आकांक्षा वा कामना क्या होती है **?**

उ०। इस सात्विक श्रद्धा-भाव के उत्पन्न होने से किसी जन में जिस **सात्विक उच्च रस वा उच्च सुख** की उत्पत्ति होती है**,** उसके लिए जब किसी जन में **इतना आकर्षण उत्पन्न हो**, कि वह उसे **अपने आप** बार बार प्राप्त करना चाहे**,** और उसकी अप्राप्ति से दुःख अनुभव करे**,** तब इस विषय में उसकी यह चाह उसकी **सात्विक आकांक्षा वा कामना** कहलाती है।

प्र०। क्या ऐसी आकांक्षा देवात्मा के प्रत्येक श्रद्धावान जन में नहीं होती **?**

उ०। नहीं।

प्र०। क्या ऐसा भी होता है कि किसी किसी जन में कुछ दिनों के लिए इस प्रकार की आकांक्षा जागती और रहती है**,** और फिर मर जाती है **?**

उ०। जी हाँ।

प्र०। ऐसा क्यों होता है **?**

उ०। ऐसे जनों के आत्माओं में जो नीच सुख विषयक विविध प्रकार के अनुराग होते हैं**,**

वह **इस सात्विक सुख के विरोधी होने के कारण** थोड़े दिनों में उसे दूर वा नष्ट कर देते हैं, और फिर वह इस सात्विक सुख के कुछ भी आकांक्षी नहीं रहते, और अपने उन्हीं नीच सुखों की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहते हैं।

प्र० । परन्तु देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में यदि किसी अपेक्षाकृत श्रेष्ठ अधिकारी जन में अपने श्रद्धा-भाव की उन्नति की यथेष्ट आकांक्षा वा कामना उत्पन्न हो जाए, तो वह अपने इस श्रद्धा-भाव को किस विधि से उन्नत कर सकता है **?**

उ० । ऐसा जन अपने इस भाव की जिन जिन विधियों से उन्नति कर सकता है, वह यह है :--

(1) उनके देवरूप के सम्बन्ध में **विश्वास भाव** की उत्पत्ति और उन्नति के सम्बन्ध में जिन **मूल सत्यों की उपलब्धि** और उस उपलब्धि के निमित्त जिस जिस प्रकार के **पाठ और विचार** के साधनों की विधि का इससे पहले वर्णन हो चुका है, उनकी उपलब्धि और उनकी उपलब्धि के निमित्त जिस जिस प्रकार के पाठ और विचार के साधनों की विधि बताई जा चुकी है, उन पाठ और विचार विषयक नियमित साधनों से उनका श्रद्धावान जन उनके देवरूप के सम्बन्ध में अपने **श्रद्धा-भाव** की उन्नति कर सकता है।

(2) देवात्मा की देव-ज्योति को पाकर किसी ऐसे श्रद्धावान जन को जिस समय और जिस स्थान में उनके देवरूप की कुछ भी सत्य उपलब्धि हो, उसके उपलब्ध होने पर अपने आपको उससे **विहीन** देखने, और उनके देवरूप की तुलना में अपने आपको **तुच्छ** उपलब्ध करने, और अपने घमंड भाव के घटने पर, यदि वह उनके इस देवरूप के सन्मुख दीनता पूर्वक जहाँ तक अपना सिर झुका सकता हो, वहां तक सिर झुका कर प्रणाम के द्वारा उनके प्रति **सच्चे सन्मान भाव का प्रकाश करे**, और जहाँ तक वह इस सन्मान की प्रकाशक दशा में रह सकता हो, वहां तक इस दशा में रहने का **अभ्यास करे**, **तो इस साधन** से उसके श्रद्धा-भाव की उन्नति हो सकती है।

(3) देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सच्ची श्रद्धा के उत्पन्न होने पर ऐसे श्रद्धावान जन में उनसे सम्बंधित एक वा दूसरे जन, वा पशु वा उद्यान वा वृक्ष वा पौधे वा घर वा अन्य विविध प्रकार की वस्तुओं (विशेषकर उनकी रचित पुस्तकों और उनके रचित लेखों) के प्रति **सन्मान भाव का उत्पन्न होना भी अनिवार्य है।** इसलिये उनके प्रति हार्दिक भाव से

आवश्यक और उचित सन्मान प्रदर्शन करने से देवात्मा के प्रति श्रद्धा-भाव की उन्नति होती है।

(4) देवात्मा के प्रति सच्ची श्रद्धा की उन्नति से उनके किसी श्रद्धावान जन में उनके इस सत्य देवरूप के विरुद्ध उनके किसी घृणाकारी वा उनके उस रूप के उल्टा दृष्टा जन से किसी बात के सुनने, वा किसी ऐसे बुरे जन के किसी लेख के पढ़ने, वा उसके पास बैठने, वा उससे मिलने जुलने, वा उसकी संगत में रहने की आकांक्षा वा रुची का न होना, वा **यदि पहले कभी ऐसी रुची रही हो**, **तो उसका घटना और नष्ट होना**, **जैसे अनिवार्य है**; वैसे ही उनके किसी ऐसे विरोधी जन के मुहं से उनके देवरूप के सम्बन्ध में कोई विरोधी बात सुनकर वा उसे किसी लेख में पढ़कर वा उसके विषय में किसी और से ठीक समाचार पाकर उसकी ऐसी बुरी क्रिया से **अपने हृदय में आघात पाना भी अनिवार्य है।** इसलिए यदि किसी ऐसे अवसर पर उनका श्रद्धावान जन चुपचाप न रहता हो, किन्तु अपने मुहं वा लेख वा दोनों के द्वारा **उस मिथ्या के खंडन वा प्रतिवाद करने की चेष्टा करता हो**, तो वह अपने ऐसे साधन के द्वारा भी उनके प्रति अपने इस सच्चे श्रद्धा-भाव की उन्नति कर सकता है।

(5) देवात्मा का उनके जिन माता-पिता के द्वारा आविर्भाव हुआ, जिस स्थान में उनके जन्मदाता, रक्षाकर्ता, पालनकर्ता और शिक्षदाता माता-पिता के द्वारा उनकी वर्षों तक पालना हुई, उनके अद्वितीय आविर्भाव में उनके श्रद्धेय माता पिता और दादा दादी आदि पूर्वजों ने अपने श्रेष्ठ जीवन के द्वारा जहाँ तक भाग लिया, उनके इस जन्म स्थान और उनके उपकारी माता पिता और अन्य पूर्वजों के सम्बन्ध में उनके सच्चे श्रद्धावान जन के हृदय में **ज्ञान लाभ करने की आकांक्षा का उत्पन्न होना और उनके प्रति उचित सन्मान बोध करना**, **उनके सद्गुणों का हृदय के उच्छवास के साथ वर्णन करना**, **और देवात्मा के जन्म और उनकी बाल्यलीला के स्थान के दर्शन की आकांक्षा और यथासाध्य उसकी यात्रा करना भी अनिवार्य है।** इसलिए इस प्रकार के साधन से भी उनके किसी श्रद्धावान जन में उनके प्रति श्रद्धा-भाव की उन्नति हो सकती है।

(6) देवात्मा का अपने जन्म स्थान के भिन्न जिन जिन और स्थानों में किसी विशेष काल तक निवास रहा हो, और किसी ऐसे स्थान में उनके प्रति श्रद्धा आदि उच्च भाव

उत्पादक कोई **स्मारक चिन्ह सुरक्षित किए गए हों, अथवा इससे भी बढ़कर उनकी कोई समाधि बनाई गई हो, उन स्थानों और उनके स्मारक चिन्हों और उनकी किसी ऐसी समाधि के दर्शनों की अभिलाषा का भी उनके किसी श्रद्धावान जन में उत्पन्न होना अनिवार्य है।** इसलिए इस प्रकार के सच्चे भाव से परिचालित होकर यदि उनका कोई सच्चा श्रद्धावान जन ऐसे स्थानों की उचित रूप से यात्रा करे, तो इस साधन के द्वारा भी उसके श्रद्धा भाव की उन्नति हो सकती है।

(7) देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सच्ची श्रद्धा के उत्पन्न होने पर ऐसे प्रत्येक श्रद्धावान जन में उनके इस देवरूप के प्रकाशक एक वा दूसरे स्तोत्र वा भजन वा उनके उस रूप की प्रकाशक किसी आरती के आप गाने और उनके सुनने, उनके देवरूप के सम्बन्ध में आप कीर्तन करने वा उनके अन्य श्रद्धावान जनों के मुख से इस प्रकार के कीर्तन के सुनने और उनकी देव-जीवन सम्बन्धी कथाओं के पढ़ने और सुनने के निमित भी आकांक्षा की उत्पत्ति का होना, और आप ऐसा साधन करके वा अन्य जनों के ऐसे साधनों में योग देकर **जीवन-दायक उच्च रस लाभ करना भी अनिवार्य है।** इसलिए ऐसे प्रत्येक साधन से भी उनके किसी सच्चे श्रद्धावान जन में उनके प्रति श्रद्धा-भाव की उन्नति हो सकती है।

(8) देवात्मा के देवरूप के सम्बन्ध में सच्ची श्रद्धा के उत्पन्न होने पर उनके ऐसे प्रत्येक श्रद्धावान जन में **उनके ऐसे सब सच्चे श्रद्धावान जनों के प्रति भी सन्मान भाव का होना अनिवार्य है**, कि जो सारी उम्र उनके देवरूप के **सच्चे विश्वासी** और उनके देवरूप के प्रति **श्रद्धावान** रहे हों, और ऐसे जनों में से उन जनों के प्रति और भी अधिक सन्मान भाव रखना अनिवार्य है, कि जिनमें देवात्मा के सम्बन्ध में श्रद्धा-भाव के भिन्न कृतज्ञता और उनके परम लक्ष्य में सेवा विषयक किसी भाव की उत्पत्ति और उन्नति भी हुई हो, और जिन्होंने अपने आत्मा में इन सात्विक भावों की वर्तमानता का भली भान्त प्रमाण दिया हो। ऐसे जनों के जीवन-चरित्रों से इन विषयों के पाठ और उन पर विचार और इन्हीं विषयों में उनके उपदेशों के पाठ और उन पर विचार करने से भी उनके श्रद्धावान जन में श्रद्धा-भाव की उन्नति हो सकती है।

****

चौंतीसवाँ अध्याय ।

देवात्मा के सम्बन्ध में कृतज्ञ-भाव की उन्नति के साधनों की विधि ।

प्र० । देवात्मा के सम्बन्ध में उनका कोई कृतज्ञ जन अपने कृतज्ञ-भाव की उन्नति क्योंकर कर सकता है **?**

उ० । जब तक कोई जन **केवल ऋण परिशोध भाव** से प्रेरित होकर अपनी ओर से अर्थात् **अपने आप** उनके सम्बन्ध में कोई **विशुद्ध सेवा** करना न चाहता हो, वा उनकी सेवा करके उससे वह कोई **उच्च रस वा उच्च सुख और ऐसी कोई सेवा न कर के कोई दु:ख बोध न करता हो**, तब तक इस बात का कोई प्रमाण नहीं, कि उसमें देवात्मा के सम्बन्ध में किसी **सच्चे कृतज्ञ भाव** की उत्पत्ति हुई है। इसलिए ऐसी दशा में यदि कोई जन अपने आपको अपने मुंह वा लेख के द्वारा उनका उपकृत वा कृतज्ञ प्रकट भी करे, तो भी ऐसा प्रकट करना इस बात का प्रमाण नहीं, कि उसके आत्मा में उनके सम्बन्ध में **हित वा ऋण परिशोध विषयक किसी उच्च वा सात्विक कृतज्ञ भाव की जागृति वा उत्पत्ति हुई है।** इसलिए जब तक किसी जन में इस **कृतज्ञ भाव की वास्तविक उत्पत्ति न हो**, तब तक वह इस भाव की उन्नति का आकांक्षी वा अभिलाषी ही नहीं हो सकता।

प्र० । ऋण परिशोध भाव क्या होता है **?**

उ० । ऋण दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का ऋण वह होता है, कि जो कोई जन अपनी स्वाधीन वयस में पहुँचकर किसी से कोई धन वा अन्य वस्तु **अपनी ओर से चाह कर** उधार लेता है। और दूसरी प्रकार का वह ऋण है, कि जिसे वह किसी से **आप चाहकर वा मांग कर नहीं लेता**, किन्तु अपनी शारीरिक वा आत्मिक **असहाय अवस्था में** किसी और से सहायता वा सेवा पाकर सत्य धर्म के नियमानुसार उसका ऋणी बन जाता है। इन दोनों प्रकार के ऋणों के दृष्टान्त यह हैं :-

किसी युवक मनुष्य ने किसी और जन के पास जाकर यह आवेदन किया, कि मेरे घर में एक मेहमान आने वाला है, मुझे उसके लिए एक चारपाई की आवश्यकता है, आप कृपा करके अपनी चारपाइयों में से एक चारपाई मुझे तीन रोज़ के लिए उधार दें दें, मैं उसे आज से चौथे दिन आपको लौटा दूंगा। एक और जन ने किसी और धनी जन के पास

जाकर कहा, कि मुझे सौ रूपये की आवश्यकता है, आप मुझे इतना रुपया उधार दें दें, और यदि उसका ब्याज लेना चाहें, तो इस दर से मैं उसका ब्याज देने के लिए भी तैयार हूँ, और मैं आपका यह रुपया ब्याज समेत छै महीने तक अदा कर दूंगा। पहले जन के **अपनी ओर से आवेदन करने पर उसे** एक चारपाई दी गयी, और दूसरे जन के भी **अपनी ओर से** आवेदन करने पर उसे सौ रुपया दिया गया। दोनों को ही यह चीज़ें इस शर्त पर दी गईं, कि वह उन्हें अपने इक़रार के अनुसार नियत समय में वापिस दे देंगे। यह पहले प्रकार का ऋण है।

दूसरे प्रकार के ऋणों के दृष्टांत :-

एक जन ने अपने वा किसी और के **असहाय बच्चे के शरीर की** कुछ वर्षों तक पालना की, उसे खाने के निमित्त अपने पास से आहार दिया, पीने के निमित्त पानी दिया, उसके पहनने के लिए अपने दामों से वस्त्र बनाए। उसके मल-मूत्र लिप्त पोतड़े धोये, और सुखाये, उसे साफ़ रखने के लिए उसका मुंह धोया, उसके हाथ धोए, उसके सारे शरीर को नहलाया और पौंछा उसे गोद में रक्खा, उसके खेलने के लिए खिलौने दिए, उसकी स्वास्थ्य की रक्षा और उन्नति के लिए उसे आवश्यकता के अनुसार खुली वायु में रक्खा, उसके पहनने के मैले कपड़े धोबी से धुलवाए, और उसके लिए उसे पैसे दिए, वा आप धोए और धोने के लिए साबुन मोल लिया, उसकी बीमारी में उसकी चिकित्सा और सुश्रूषा की, और ऐसा करने में आवश्यक होने पर अपना उचित सुख वा अपना उचित आराम त्याग किया। फिर समय आने पर उसे विविध शब्दों का उच्चारण और बोलना सिखाया। किसी स्कूल में भेजकर उसे विद्या पढ़ाई, और विविध अन्य बातों की उसे शिक्षा दी। स्कूल की पढ़ाई के दिनों में उसकी फीस दी, उसके लिए पुस्तकें मोल लेकर दीं, और उसके नाना प्रकार के अन्य खर्च पूरे किये; इत्यादि। बहुत वर्षों तक और विविध रूप से उसकी सहायता और सेवा की, और उसके निमित्त अपने शारीरिक और मानसिक परिश्रम के भिन्न अपना धन भी खर्च किया।

एक जन जवान वा बूढ़ा होकर भी अपने आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में पूर्ण अन्धकार और अज्ञान की दशा में था। वह नीच सुख विषयक नाना पतनकारी अनुरागों और उनसे उत्पन्न नाना पतनकारी नीच घृणाओं का दास था; और दिनों दिन पतित हो

रहा था; और इस पतन के द्वारा दिनों दिन आत्मिक मृत्यु के निकट जा रहा था। उसमें आत्मिक बल उत्पादक कोई सात्विक भाव वा अनुराग न था, कि जिसके द्वारा परिचालित होकर वह अपने आत्मिक जीवन का विकास कर सकता। वह अपने आत्मा और आत्मिक जीवन के विचार से **अत्यन्त कृपा-पात्र और असहाय दशा में था**, **और वह ऐसी दशा रख कर भी उसका बोधी न था**, और वह अपने आप अपने आत्मिक जीवन के पतन और विनाश से रक्षा पाने वा अपने लिए किसी आत्मिक बल के लाभ करने की कोई आकांक्षा वा अभिलाषा नहीं रखता था। अब यदि देवात्मा के देव-प्रभावों की प्राप्ति के द्वारा उसमें अपनी इस महा शोचनीय दशा के सम्बन्ध में कोई बोध वा होश उत्पन्न हो, उसे उसके धर्म के नाम से संस्कार प्राप्त विविध प्रकार के महा हानिकारक मिथ्या विश्वासों से उसकी योग्यता के अनुसार मोक्ष प्राप्त हो, आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में सत्य ज्ञान पाकर उसे धर्म के विषय में महा दुर्लभ सत्य ज्ञान लाभ हो, अपने पारिवारिक और अन्य नाना जनों और पशुओं और नेचर के अन्य अस्तित्वों के सम्बन्ध में उसे अपने एक वा दूसरे प्रकार के **अन्याय वा अहित-मूलक कर्मों** से मोक्ष लाभ हो, और इस मोक्ष के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, उसकी अपने आत्मिक पतन से रक्षा हो। अपने किसी पाप कर्म के सम्बन्ध में बोधी हो जाने पर उसमें उसके लिए **आवश्यक हानि परिशोध** करने का भाव जाग्रत हो, और वह इस प्रकार का सच्चा हानि परिशोध करके उसके विकार से पवित्रता लाभ करे। वह एक वा दूसरे प्रकार के शिष्ट वा श्रेष्ठ बोधों को पाकर शिष्टाचारी बने, और उसके द्वारा अपने आत्मिक पतन से कुछ और भी रक्षा पाए। किसी उच्च वा सात्विक भाव के विकसित करने के योग्य होने पर वह अपने आत्मा में कोई उच्च जीवन-विकासक सात्विक भाव लाभ करे; और फिर इस प्रकार का सब अमूल्य हित पाकर उसे यह बोध हो, कि इस प्रकार से उसका जितना आत्मिक हित हुआ है, और इस हित की प्राप्ति से उसका जितना शारीरिक वा मानसिक हित हुआ है, और उसके इसी आत्मिक परिवर्तन से उसे धन वा किसी अन्य सम्पत्ति वा मान वा पद आदि की प्राप्ति हुई है, वह सब प्रकार का दुर्लभ हित उसे एक मात्र देवात्मा के ही महा दुर्लभ देव-प्रभावों की प्राप्ति से लाभ हुआ है; और यदि वह **उनके देव प्रभावों** के लाभ का शुभ अवसर न पाता, तो उसे इन सब प्रकार के हितों की कदापि प्राप्ति न होती।

और फिर वह अपने आत्मा में अपने ऐसे सर्वोच्च हितकारी के उन महा उपकारों को सन्मुख लाकर अपना आप **उनका अतिशय ऋणी बोध करे और इस धर्म- ऋण के परिशोध के निमित्त उसमें कोई सच्ची और यथेष्ट आकांक्षा जाग्रत हो**, और वह अपनी ओर से इस धर्म-ऋण के परिशोध करने के लिए तैयार हो, और वह उसके निमित्त आवश्यक साधन ग्रहण करे, और अपने इस साधन से **उच्च रस वा उच्च सुख**

अनुभव करे, और उसके न करने से दुःख वा कष्ट बोध करे; तब उसकी इस गति से इस बात का प्रमाण मिल सकता है, कि उसमें अपने आत्मिक बोध, आत्मिक ज्ञान, आत्मिक मोक्ष और आत्मिक जीवन दाता **देवात्मा के सम्बन्ध में कृतज्ञता विषयक उस सच्चे सात्विक भाव की जाग्रति हुई है**, **कि जिस भाव की उन्नति का साधन करके जहाँ एक ओर वह इस भाव के द्वारा उनके साथ अपना आत्मिक सम्बन्ध स्थापन कर सकता है**, **वहां अपने आत्मा में उच्च जीवन और बल की उत्पत्ति भी कर सकता है।**

प्र० । यदि कोई अधिकारी जन कृतज्ञ-भाव की इस श्रेष्ठ दशा में पहुँच चुका हो; तो वह किस प्रकार के साधनों से अपने इस भाव की उन्नति कर सकता है **?**

उ० । कोई अधिकारी जन अपने आत्मा में यथेष्ट रूप से इस कृतज्ञ भाव की उत्पति के अनन्तर अपनी जिस जिस प्रकार की शक्तियों के द्वारा इस 'धर्म-ऋण परिशोध' विषयक साधन को पूरा करके अपने आत्मिक जीवन को विकसित कर सकता है, वह यह है :-

(1) रूपये की भेंट के द्वारा।

(2) भूमि, घर, दुकान, कूप आदि की भेंट के द्वारा।

(3) मानसिक शक्तियों, अर्थात् अपनी विद्या, अपनी कारीगरी, अपनी विचार शक्ति, अपनी लेख शक्ति और अपनी वाक् शक्ति की भेंट के द्वारा।

(4) शरीर अर्थात् अपने हाथ-पाँव आदि की शक्तियों की भेंट के द्वारा।

इनमें से जिस जिस शक्ति के द्वारा जहाँ तक कोई जन केवल **विशुद्ध** कृतज्ञ भाव से परिचालित होकर उनकी सेवा करने के योग्य हो, वहां तक वह उनकी ऐसी सेवा करके अवश्य अपना आत्मिक हित साधन करता है।

प्र० । क्या विशुद्ध कृतज्ञ भाव के जागने पर भी ऐसा नहीं होता, कि एक एक मनुष्य अपने आत्मा में धन सम्पत्ति आदि के प्रति नीच अनुराग रखने के कारण उन्हें उचित

मात्रा में भेंट करने की सामर्थ्य नहीं रखता, और इसी लिए उन्हें उचित मात्रा में भेंट नहीं करता ?

उ० । अवश्य; पहले तो मनुष्य जगत के लोगों में **स्वार्थ-सुख** का इतना प्रबल अधिकार है, कि उसके द्वारा पतित होते होते उनका आत्मा इतना कठोर बन जाता है, कि उनमें से साधारणता किसी के आत्मा में सच्चे कृतज्ञ भाव की उत्पत्ति ही नहीं होती, और वह अपने आत्मा के सम्बन्ध में अपने किसी परम हितकर्ता के लिए तो कहीं रहा, अपने माता पिता आदि साधारण उपकारियों के उपकारों के लिए भी अपने भीतर कोई कृतज्ञ भाव बोध नहीं करते। दूसरे जिन बहुत थोड़े से जनों में यह भाव किसी सीमा तक जाग्रत भी होता है, वह भी अपनी उपरोक्त प्रकार की शक्तियों में से किसी एक वा दूसरे प्रकार की शक्तियों के **सुख विषयक अनुराग के बन्धनों से इतने जकड़े हुए होते हैं**, कि वह अपनी कितनी ही शक्तियों को तो कुछ भी भेंट करने की इच्छा नहीं कर सकते; और जिन शक्तियों के भेंट करने का वह कुछ भाव रखते भी हैं, उन्हें भी साधारणत: **यथेष्ट वा आवश्यक मात्रा में भेंट करने की सामर्थ्य नहीं रखते**; **और इसीलिए उन्हें भी यथेष्ट वा आवश्यक मात्रा में भेंट नहीं करते**।

लाखों स्वार्थपरायण और महा नीच और महा पतित लोग अपने उपकारी माता पिता से, जहाँ तक सम्भव हो, उनका सब धन और उनकी अन्य सब सम्पत्ति अपने लिए तो ले लेना चाहते हैं, परन्तु उनके उपकारों के प्रति किसी कृतज्ञ भाव के न रखने के कारण उनके आत्मिक भले के लिए उनकी अपनी उपार्जन की हुई सम्पत्ति को भी उन्हीं को दे देना नहीं चाहते; और यह तो कहाँ सम्भव है, कि वह अपनी ही उपार्जन की हुई सम्पत्ति में से कोई अच्छा अंश उनके और औरों के भले के लिए उनके चरणों में भेंट करें।

इस के विपरीत करोड़ों मनुष्य केवल यही नहीं, कि अपने किसी प्रकार के उपकारी के सम्बन्ध में **अपने आपको ऋणी अनुभव नहीं करते**, और किसी उपकारी के उपकारों के लिए **कोई कृतज्ञ भाव नहीं रखते**, किन्तु उनमें से हजारों लोग एक वा दूसरे कारण से कृतघ्न बन जाने पर अपने किसी उपकारी को उलटा सताने, कष्ट पहुंचाने, उत्पीड़ित करने वा इससे भी बढ़कर उसकी हत्या तक कर देने के लिए तैयार हो जाते हैं; और **ऐसी राक्षसी क्रियाएँ** करके अपनी **राक्षसी-प्रकृति** की तृप्ति करते हैं, और अपने आत्मा में इस

राक्षसी प्रकृति के होने का प्रमाण देते हैं।

प्र० । परन्तु यदि कुछ मनुष्य ऐसी जन्म जात योग्यता रखते हों, कि उनमें देवात्मा के सम्बन्ध में किसी सच्चे ऋण परिशोध वा कृतज्ञ भाव की यथेष्ट मात्रा में जाग्रति हो सकती हो, और उनमें उसकी जाग्रति हो भी जाय, तो वह अपने इस सात्विक भाव को किस किस साधन से उन्नत करके अपने आत्मिक जीवन वा उसके बल को विकसित कर सकते हैं **?**

उ० । ऐसे जन अपने इस भाव से परिचालित होने पर उसकी अल्प वा अधिक गहराई और अपनी समझ के अनुसार स्वयं जान लेंगे, कि इस भाव की उन्नति के लिए जिन चार प्रकार की भेंटों के साधनों का पहले उल्लेख किया जा चुका है, उनमें से किस किस भेंट विषयक साधन को वह आप ग्रहण कर सकते हैं, और उसे कितने कितने अंश वा कहां तक पूरा करने की आकांक्षा-शक्ति रखते हैं, और फिर यदि वह अपनी अपनी योग्यता के अनुसार ऐसे साधन ग्रहण और पूरे करेंगे, तो ऐसा करने से जैसे एक ओर **उनका यह कृतज्ञ भाव उन्नत होगा**, वैसे ही दूसरी ओर उसकी उन्नति के साथ साथ उनके भेंट विषयक त्याग में भी उन्नति होती जायगी।

प्र० । क्या देवात्मा की स्थूल देह की मृत्यु के अनन्तर भी उनका कोई **सच्चा कृतज्ञ जन** उनके सम्बन्ध में अपने इस भाव की उन्नति कर सकता है **?**

उ० । अवश्य कर सकता है। यदि उसने अपने किसी धन वा अपनी किसी अन्य सम्पत्ति को उनके इस लोक में वर्तमान होते हुए उन्हें भेंट न किया हो, और पीछे से उसके हृदय में उसमें से किसी के भेंट करने की सच्ची और यथेष्ट आकांक्षा उत्पन्न हो, तो वह उसे उस फंड के लिए भेंट कर सकता है, कि जिसका नाम "भेंट फंड" है, और जिसे उन्होंने ही स्थापन किया है। इसके भिन्न देवात्मा नकद रुपये के भिन्न अपने पीछे अपनी जिस जिस प्रकार की सम्पत्ति यथा मकानात, भूमी, उद्यान, वृक्ष, स्मारक चिन्ह आदि और अपने आश्रित परन्तु अपने इस लोक के त्याग करने के समय तक अपने सम्बन्ध में वफ़ादार वा सच्चे जन वा पशु अपने पीछे छोड़ गए हों, उनमें से किसी की भी अपने कर्तव्य-भाव के अनुसार सच्ची रक्षा करने वा उनके उचित रूप से प्रबन्ध करने की आवश्यक योग्यता रखने पर, उनमें से उनके संरक्षक वा संरक्षकों की अनुमति के

अनुसार उनकी रक्षा और उनके सम्बन्ध में सब प्रकार की आवश्यक सेवा का भार अपने ऊपर ले सकता है, और अपने इसी सच्चे और विशुद्ध कृतज्ञ-भाव से परिचालित होकर और ऐसी प्रत्येक सेवा को भली भान्त पूरा करके इस साधन के द्वारा भी अपने इस भाव को उन्नत और अपने आत्मिक बल की वृद्धि कर सकता है।

******

पैंतीसवां अध्याय ।

देवात्मा के देव प्रभावों के प्रति आकर्षण भाव की उन्नति के साधनों की विधि ।

प्र० । देवात्मा के **देव-प्रभावों** के प्रति किसी अधिकारी जन में **आकर्षण भाव** की उन्नति क्योंकर हो सकती है **?**

उ० । जब तक किसी जन में अपने किसी भी **नीच-सुख के** सम्बन्ध में उसके **पतनकारी होने का बोध जाग्रत न हो**, और वह इस महा सत्य को उपलब्ध न करे, कि देवात्मा के **देव-प्रभावों की** प्राप्ति से ही उसका अपने **उस नीच सुखजात पतन से सच्चा उद्धार** हो सकता है, और इसके भिन्न उसमें कोई ऐसा **उच्च वा सात्विक भाव भी** जाग्रत और उन्नत हो सकता है **कि जिसके द्वारा उसके आत्मा की निर्माणकारी शक्ति का बल बढ़** सकता है, और वह इन सत्य बोधों को पाकर उनके **देव-प्रभावों** की प्राप्ति को **संसार के प्रत्येक लाभ से अपने लिए सर्वोच्च** लाभ और उनकी प्राप्ति से अपने आपको **सुखी और कृतार्थ बोध न करे**, तब तक जैसे एक ओर वह देवात्मा के **देव-प्रभावों** के प्रति कोई **आकर्षण** बोध नहीं कर सकता, वैसे ही इस आकर्षण की उन्नति के लिए **त्याग वा समर्पण** विषयक किसी सच्चे और आवश्यक साधन के ग्रहण करने का इच्छुक भी नहीं बन सकता। इसलिए जैसे इन बोधों की यथेष्ट जाग्रति पर कोई जन अपने **किसी 'नीच सुख विषयक अनुराग' के दासत्व से मोक्ष पाने का सचमुच अभिलाषी हो सकता है**, वैसे ही उसकी यह सच्ची अभिलाषा देवात्मा के जिन **देव-प्रभावों** की प्राप्ति से पूर्ण हो सकती है, उन **देव-प्रभावों** का भी वह अभिलाषी हो सकता है, और जब देवात्मा के देव-प्रभावों की प्राप्ति के लिए इस प्रकार से किसी जन में सच्ची अभिलाषा जाग्रत हो जाये, तब उसकी **इसी अभिलाषा को देवात्मा के देव- प्रभावों के प्रति आकर्षण भाव कहते हैं।**

प्र० । यदि किसी अधिकारी जन में अपने किसी **पतनकारी सुख-अनुराग वा पतनकारी**

घृणा भाव के सम्बन्ध में **सच्चा बोध** जाग्रत हो गया हो, अथवा उन में से किसी के द्वारा परिचालित होकर वह नेचर के जिस किसी जीवित वा अजीवित अस्तित्व के सम्बन्ध में **कोई अपहरणकारी वा हानिकारक चिंता वा क्रिया करता हो**, उस **बुरी** चिंता वा बुरी क्रिया का **सच्चा बोध** हो गया हो, और वह उससे उद्धार पाने का सच्चा इच्छुक बन गया हो; और वह यह जानता भी हो, कि **देवात्मा के देव-प्रभावों की प्राप्ति** से ही उसका उस नीच सुख अनुराग वा उससे उत्पन्न किसी पतनकारी चिन्ता वा क्रिया से उद्धार हो सकता है, और वह उनके देव-प्रभावों की प्राप्ति के लिए सच्ची आकांक्षा वा अभिलाषा रखता हो, तो वह देवात्मा के इन अमूल्य देव-प्रभावों की प्राप्ति के लिए किस किस विधि से क्या क्या साधन करे ?

उ० । वह किसी एकान्त, शुद्ध और सुन्दर स्थान में बैठकर पहले देवात्मा को **उनकी छवि** के द्वारा स्मरण करे, और फिर वह उनके देव-प्रभावों की प्राप्ति के लिए उनसे सरल भाव के साथ इस प्रकार से प्रार्थना करे :-

हे सत्य देव ! मेरे आत्मा में तुम्हारी **देव-ज्योति** की किरणें प्रवेश करें; और उनके द्वारा मेरा आत्मा **ज्योतिर्मान** हो, और मुझे अपनी अमुक पतनकारी चिन्ता वा क्रिया अपने असल रूप में दिखाई दे, कि जो मैंने तुम्हारे वा किसी मनुष्य वा पशु वा पौधे वा जड़ वस्तु के सम्बन्ध में की है, वा मुझ से होती वा हो जाती है, और मैं इस समय उसकी बुरी छवि को उसके **सच्चे बुरे रूप में उपलब्ध कर सकूं**, और उसके बुरे रूप का अपनी साधन पुस्तक में भली भान्त वर्णन कर सकूं। इसके भिन्न, हे देव ! मेरे आत्मा में उच्च घृणा, और उच्च दुःख-उत्पादक तुम्हारे **देव-तेज** की वह किरणें भी प्रवेश करें, कि जिनकी प्राप्ति से मेरे भीतर अपनी पतनकारी चिंता वा क्रिया के लिए **घृणा-भाव** वा इससे भी ऊपर **दुःख-भाव** की उत्पत्ति हो, कि जिनकी उत्पत्ति से ही जहाँ एक ओर मैं **उससे सत्य-मोक्ष** लाभ कर सकता हूँ, वहां दूसरी ओर उसके सम्बन्ध में **हानि-परिशोध** का यथेष्ट रूप से साधन करने के योग्य भी हो सकता हूँ, और ऐसा साधन करके उसके **विकार** से भी अपने आत्मा में **सच्ची-पवित्रता** वा **शुद्धि** लाभ कर सकता हूँ।

इस प्रकार की सच्ची प्रार्थना में यदि कोई सच्चा भजन वा संगीत भी सहायक बन सकता हो, तो उसका भी वह सरल भाव और हृदय के योग के द्वारा गान करे। इसके

अनन्तर यदि उसकी इस पतनकारी चिन्ता वा क्रिया को पतनकारी रूप में ही दिखाने वाला देवात्मा के किसी ऐसे विश्वासी जन का कोई लेख उसके पास हो, कि जिसने उसी पतनकारी चिंता वा क्रिया से देवात्मा के देव-प्रभावों की प्राप्ति से मोक्ष वा उसके विकार से पवित्रता लाभ की हो, तो वह उसका ध्यान और विचार के साथ पाठ करे; अथवा देवात्मा के किसी ऐसे लेख का पाठ करे, कि जो इसी विषय में हो, और जिसके पाठ से भी उस तक उनके **देव-प्रभाव** पहुँच सकते हों। फिर उनके देव-प्रभावों के मिलने पर उसे अपनी वह पतनकारी चिन्ता वा क्रिया अपने वा किसी हानि-प्राप्त जन के सम्बन्ध में **जैसी जैसी कुछ बुरे वा हानिकारक रूप में बोध हो**, **उसका वर्णन** अपनी साधन पुस्तक में (जो इसी अभिप्राय के लिए हो) **लिखे**। और यदि वह अपने भीतर **उसके सम्बन्ध में हानि परिशोध करने की सच्ची प्रेरणा बोध करे**, तो उसने उसकी हानि के विषय में जो कुछ अपनी साधन पुस्तक में लिखा हो, उसकी नक़ल करे; वा उसी प्रकार के वर्णन की कोई चिट्ठी लिखे। इसके अनन्तर उसे देवात्मा से उनके देव-प्रभावों का जो महा दुर्लभ और अति अमूल्य दान मिला हो, उसे सन्मुख लाकर उनके प्रति अपने आत्मा में अनुग्रहीत वा कृतज्ञ बोध करने के निमित्त उनके देवरूप को स्मरण करे, और अपने सिर को बार बार उनके आगे झुका के और सच्चे प्रणाम की दशा में पहंचकर अपने भीतर उनके सम्बन्ध में अपनी तुच्छता को उपलब्ध करे, और उनके देवरूप के प्रति अपने सच्चे विश्वास और दीन-भाव को जाग्रत करे।

इस साधन के अनन्तर वह उस **नकल** वा उस **चिट्ठी** को हानि प्राप्त जन के पाठ के लिए या तो उसे आप दे दे, वा किसी और प्रकार से उसके पास भेज दे। अथवा यदि उसके भीतर केवल इतनी ही प्रेरणा उत्पन्न हो, कि वह उस विषय में हानि प्राप्त जन के सन्मुख जाकर अपनी उस बुरी वा अपराध वा अवज्ञा वा पापमूलक चिन्ता वा क्रिया के सम्बन्ध में अपने हार्दिक शोक वा दु:ख का प्रकाश करे, तो उसके पास पहुंचकर ऐसा करे, वा यदि इन दोनों बातों के करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न हो, तो वह यह दोनों ही बातें करे।

प्र० । यदि कोई साधक ऐसा हो, कि वह अपने साधन में इससे भी अधिक देवात्मा के देव-प्रभाव लाभ करना चाहता हो, कि जिससे उसे देवात्मा वा किसी मनुष्य वा पशु वा अन्य वस्तु के सम्बन्ध में अपनी वह छिपी हुई चिन्ता वा अन्य क्रिया, कि जो उसके

आत्मा के लिए पतनकारी हो, और **जिसके विषय में वह पूर्णत**: **अबोधी हो**, **अपने प्रकृत-रूप अर्थात् पतनकारी रूप में दिखाई दे**, और उसके सम्बन्ध में भी उसे उनके देवतेज की वह किरणें प्राप्त हों, कि जिनकी प्राप्ति से उसके आत्मा में उसके पतनकारी रूप के प्रति **उच्च घृणा वा उच्च दुःख** की उत्पत्ति हो; तो फिर वह उनकी प्राप्ति के लिए और क्या करे **?**

उ० । वह उनकी प्राप्ति के लिए अपने उसी आन्तरिक भाव के अनुसार देवात्मा से फिर बार बार प्रार्थना करे; और जब बार-बार की ऐसी प्रार्थना से उसे उनकी **देवज्योति** प्राप्त हो, और उसकी प्राप्ति से उसके सन्मुख उनके वा किसी मनुष्य वा पशु वा पौधे आदि के सम्बन्ध में अपनी कोई आन्तरिक चिन्ता वा बाह्यक क्रिया पतनकारी रूप में प्रकट हो, अथवा इससे भी बढ़कर उनके **देवतेज** की किरणों के मिलने से उसके भीतर अपनी उस चिन्ता वा क्रिया के सम्बन्ध में **उच्च घृणा** वा इससे भी ऊपर **उच्च दुःख** का भाव जाग्रत हो, तब वह पहले साधन में बताई हुई विधि के अनुसार फिर उसके इस दृश्य और अपने भाव का अपनी साधन पुस्तक में वर्णन करे; और फिर उसकी **नकल** को वा उसी प्रकार के वर्णन से भरी हुई अपनी किसी **चिट्ठी** को हानि प्राप्त जन के पास भेजे, अथवा उसके इस पृथिवी में वर्तमान होने और उसके पास सुगमता के साथ जाने के योग्य होने पर, उसके पास जाकर उसके सन्मुख अपने मुंह के द्वारा अपने शोक और दुःख का प्रकाश करे; और उसके परिशोध के निमित्त अपने **तन** वा अपने **धन** के द्वारा और जो-जो कुछ करना उचित बोध हो, उसे पूरा करे।

प्र० । यदि किसी ऐसे साधक को ऐसे देव-प्रभाव तो प्राप्त हों, परन्तु जिस किसी जन के सम्बन्ध में उसने कोई बुरी वा पतनकारी चिन्ता वा बुरी वा पतनकारी अन्य क्रिया की हो, वह इस पृथिवी में वर्तमान न हो, तो ऐसी दशा में वह उसके सम्बन्ध में अपने **हानि परिशोध** विषयक साधन को क्योंकर पूरा करे **?**

उ० । ऐसी दशा में यदि उसका साधन वास्तविक रूप में ठीक वा सत्य हो, तो उस हानि के सम्बन्ध में उसके आत्मा में जहाँ तक दुःख की उत्पत्ति होगी, उसकी लहरें व्योम के द्वारा फैलकर हानि प्राप्त देवात्मा वा किसी मनुष्य वा पशु तक पहुंचकर उन पर भी शान्तिप्रद प्रभाव डालेंगी, और साधक के आत्मा की शुद्धि वा पवित्रता का कारण भी

बनेंगी।

प्र० । क्या ऐसा साधक इस अभिप्राय के लिए कोई और उपाय वा साधन भी ग्रहण कर सकता है **?**

उ० । कर सकता है, यदि उसके भीतर किसी ऐसे साधन को ग्रहण करने की कोई सच्ची और यथेष्ट प्रेरणा उत्पन्न हो।

प्र० । ऐसी सच्ची प्रेरणाएं किस-किस प्रकार की हो सकती हैं **?**

उ० । देवात्मा के सम्बन्ध में उसके द्वारा जो हानि हुई हो, उसके लिये धन विषयक किसी दण्ड का ग्रहण, कि जिसे वह उनके भेंट फंड में दे सकता है; अथवा वह शरीर के द्वारा उनके किसी ऐसे पारिवारिक सम्बन्धी वा पशु वा उद्यान वा ग्रह आदि की **उचित और विशुद्ध** सेवा कर सकता है, कि जिसकी पालना वा रक्षा वा देखभाल का भार देवात्मा ने अपनी स्थूल-देह के त्याग करने तक अपने ऊपर रक्खा हो; और यदि किसी हानि प्राप्त मनुष्य के सम्बन्ध में उसे अपने आत्मा में इसी प्रकार के हानि परिशोध करने की प्रेरणा उत्पन्न हो, तो वह इसी प्रकार से उसके किसी ऐसे सम्बन्धी आदि के सम्बन्ध में धन, तन, वा दोनों के द्वारा सेवाकारी बन सकता है; कि जिसकी पालना वा रक्षा आदि का भार उस जन के ऊपर रहा हो; और यदि किसी हानि प्राप्त पशु वा पौधे के सम्बन्ध में उसमें हानि परिशोध करने की आकांक्षा जागी हो और वह पशु वा पौधा इस पृथिवी में न हो, तो उसकी जाति वा नसल के सम्बन्ध में वह इसी प्रकार का साधन ग्रहण करके अपने आत्मा का सच्चा कल्याण कर सकता है।

प्र० । यदि किसी अधिकारी और सुयोग्य जन में अपने आत्मा और **देवात्मा** के सम्बन्ध में **सत्य ज्ञान** के लाभ करने की **आकांक्षा** जाग्रत हुई हो, और वह यह जानता हो, कि इस सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसे देवात्मा के देव-प्रभावों के मिलने की आवश्यकता है, और यह कि उनकी **देवज्योति** की प्राप्ति के बिना वह इन विषयों के सम्बन्ध में किसी **सत्य को उसके प्रकृत-रूप में देख नहीं सकता**; और जब तक वह किसी ऐसे सत्य को अपनी आंतरिक आँख से **उसके प्रकृत-रूप में देख वा उपलब्ध न कर सके**, तब तक उसके विषय में उसे **कोई साक्षात सत्य ज्ञान** नहीं हो सकता, तो वह ऐसे **साक्षात सत्य ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त** देवात्मा के देव-प्रभावों को पाने के लिए किस प्रकार का

साधन करे ?

उ० । यदि वास्तव् में किसी जन में ऐसी आकांक्षा जागी हो, तो वह किसी शुद्ध, सुन्दर और एकान्त स्थान में बैठकर पहले **देवात्मा** को उनकी छवि के दर्शन के द्वारा स्मरण करे, और अपने चित को स्थिर करके और **केवल उनके ध्यान के द्वारा उनके साथ आत्मिक योग की दशा ग्रहण करे**, फिर वह आत्मा वा देवात्मा में से जिस किसी के सम्बन्ध में जिस प्रकार के साक्षात सत्य ज्ञान की प्राप्ति का आकांक्षी वा अभिलाषी हो, उसके लिए **उनसे उनकी देवज्योति की सरल भाव से बार बार और लगातार प्रार्थना करे।** ऐसी बार-बार की प्रार्थना के अनन्तर जब उसके आत्मा में उनकी **देवज्योति** का प्रकाश हो जाये, तब वह इस विषय में उनके किसी लेख का ध्यान पूर्वक पाठ करे। अब यदि उसे किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध में **किसी सत्य के उपलब्ध करने के लिए जितनी मात्रा में देवज्योति की आवश्यकता है**, वह उसे मिल चुकी होगी, तो वह किसी ऐसे सत्य का अवश्य दर्शन कर सकेगा; और उसके दर्शन से वह उस विषय में **साक्षात सत्य ज्ञान** लाभ करेगा। परन्तु यदि वह अपने हृदय की ऐसी दशा न रखता होगा, वा उसके चौतरफ़ा सामान उसके लिए **यथेष्ट रूप से अनुकूल न होंगें**, तो वह देवात्मा से प्रार्थना करने पर भी उनकी **देवज्योति को पूर्णत: वा उतनी मात्रा में लाभ न कर सकेगा**, कि जिससे उसे उस **सत्य** को जितने उज्ज्वल रूप में देखने की आवश्यकता है, उतने उज्जवल रूप में वह उसे देख वा उपलब्ध कर सके।

फलत: देवात्मा की **देवज्योति** की प्राप्ति के विषय में नेचर के आत्मिक जगत के जो अटल नियम हैं, वह जब तक ठीक ठीक पूरे न होंगे, तब तक किसी ऐसे साधक को उनकी यथेष्ट मात्रा में देवज्योति न मिलेगी, और उसके मिलने से उसे जिस सत्य की ठीक ठीक उपलब्धि हो सकती थी, वह न होगी; और इसीलिए उस विषय में उसे जिस **साक्षात सत्य ज्ञान** की प्राप्ति की आवश्यकता थी, वह **साक्षात सत्य-ज्ञान** उसे न मिलेगा।

प्र० । किसी साधक की अपनी **आंतरिक अनुकूल दशा** क्या होती है ?

उ० । किसी साधक के आत्मा की वह दशा, कि जिस में उसके किसी सच्चे साधन के द्वारा उसमें देवात्मा की **देवज्योति** की कुछ न कुछ किरणें पहुँच सकती हैं; अर्थात् उसका आत्मा इतना कठोर न बन चुका हो, कि जिसकी कठोरता के कारण देवात्मा की

देवज्योति की कुछ भी किरणें उसमें प्रवेश न कर सकें; और वह साधन के लिए बैठने पर भी अपने आत्मा की उसी पहली **अंधकार की दशा में** रहे, कि जिसमें वह बैठने से **पहले** था।

प्र० । किसी आत्मा में इतनी **कठोरता** क्योंकर उत्पन्न हो जाती है, कि जिसके उत्पन्न हो जाने से उसमें देवात्मा की देवज्योति की कोई किरण भी प्रवेश नहीं कर सकती ?

उ० । ऐसी कठोरता की उत्पत्ति के बड़े-बड़े कारण यह हैं :-

(1) सुख विषयक नाना नीच अनुरागों का बढ़ते जाना।

(2) नीच घृणा का बढ़ते जाना, विशेषकर जिस देवात्मा की देवज्योति को पाकर ही किसी जन का आत्मा ज्योतिर्मान होकर किसी आत्मिक सत्य को साक्षात रूप से देखकर उसके विषय में साक्षात सत्य ज्ञान लाभ कर सकता है, उसी देवात्मा के प्रति किसी कारण से **नीच घृणा** का भड़कना वा उत्पन्न होना।

(3) नेचर के किसी जगत के किसी अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी **दुराचार** का होते रहना।

(4) देवात्मा की देवज्योति में जब किसी सत्य का साक्षात दर्शन हो, तब उसका **निरादर** करना; अर्थात् उस सत्य का ज्ञान होने से जिस किसी मिथ्या चिन्ता, मिथ्या विश्वास, मिथ्या वचन और किसी मिथ्या वा कपटता-मूलक अन्य क्रिया का **त्याग करना** अपने आत्मिक-हित के लिए आवश्यक हो, उसका त्याग न करना; और जिस किसी सत्य के ग्रहण करने और उसका साथ देने से उसकी कोई सुखदायक परन्तु पतनकारी चिन्ता वा कोई और क्रिया दूर होती हो, उसे ग्रहण न करना, वा उसका साथ न देना; और **उसकी तुलना में अपने आत्मा में मिथ्या और कपटता को बढ़िया स्थान देना।**

इन चारों में से प्रत्येक के द्वारा ही नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार मनुष्य का आत्मा **कठोर** बनता है, और जब वह कठोर होते होते इतना कठोर बन जाता है, कि फिर उसमें देवात्मा की **देव-ज्योति** के प्रवेश करने के लिए कोई मार्ग नहीं रहता, तब फिर किसी ऐसे कठोर आत्मा में देवात्मा की देवज्योति की कुछ भी किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं, और इसीलिए नहीं करतीं। और वह **अपने गठन प्राप्त आत्मा और अपने आत्मिक जीवन की हानि और हित के सम्बन्ध में किसी सत्य के देखने के योग्य नहीं**

रहता; और पूर्णत: अँधा हो जाता है।

प्र० । यह तो बड़ी भयानक दशा है ! किसी मनुष्य का अपने सार वा मूल अस्तित्व अर्थात आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में किसी सत्य के देखने के योग्य न होना वा न रहना अत्यंत शोचनीय दृश्य है !!

उ० । निश्चय ।

प्र० । बाहर की **प्रतिकूल दशा** क्या होती है ?

उ० । बाहर की प्रतिकूल दशा के बड़े बड़े कारण यह हैं :-

(1) जल के द्वारा शरीर को जितना शुद्ध वा परिष्कार करना आवश्यक है, उसे उतना परिष्करित न करना, और उसे **अपवित्र वा मैला** रखना ।

(2) शरीर में जो वस्त्र धारण किये हों, उनका शुद्ध वा परिष्कार न होना।

(3) साधन के लिए जो स्थान हो, उसका शुद्ध वा परिष्करित न होना, विशेषकर उसका उसके अपने वा किसी और वा औरों के अपवित्र **प्रभावों** को धारण करते करते बहुत **अपवित्र** बन जाना।

(4) उसके मन की स्थिरता को भंग करने वाली किसी विघ्नकारी बात का होना।

प्र० । यदि किसी साधक की अपनी आंतरिक दशा भी अच्छी हो, और उसे बाहर की भी अनुकूल दशा प्राप्त हो, और वह अपने साधन स्थान में बैठकर देवात्मा की देवज्योति के पाने की कुछ न कुछ योग्यता भी रखता हो, और वह आत्मा और देवात्मा के विषय में साक्षात सत्य ज्ञान की प्राप्ति का अभिलाषी भी हो और उसे देवात्मा से देवज्योति के लिए बार बार प्रार्थना करने से इतनी ज्योति भी मिलती हो, कि जिस में **उसे आत्मा अथवा देवात्मा के सम्बन्ध में साक्षात रूप से कोई सत्य दिखाई देता हो**, तो वह इस सत्य के दर्शन के अनन्तर फिर और क्या करे ?

उ० । वह उसके अनन्तर **उस सत्य को बार-बार देखने वा उपलब्ध करने** का यत्न करे ।

प्र० । इससे उसे क्या लाभ होगा ?

उ० । इस साधन से जहाँ एक ओर उसके सन्मुख वह सत्य जैसे अधिक से अधिक **उज्ज्वल रूप** में दिखाई देगा, वहां दूसरी ओर वह उसके **धारणा के पट** में धीरे-धीरे अधिक से अधिक गहराई में **अंकित** होगा; और वह आवश्यकता के समय में उसे शीघ्र

स्मरण कर सकेगा।

प्र० । इसके भिन्न इस विषय में वह और क्या साधन करे **?**

उ० । वह यदि किसी ऐसे विषय में **विचार** करने की **यथेष्ट शक्ति** रखता हो, और वह यह भी जानता हो, कि नेचर की जिन जिन घटनाओं के द्वारा उसके उस उपलब्ध किए हुए **सत्य की पोषकता होती हो**, उन उन घटनाओं वा दृष्टान्तों के दृश्य भी उसके सन्मुख प्रकट हों, तो वह इसके लिए एक ओर देवात्मा से उनकी **देवज्योति** के और अधिक मिलने के लिए एकांत-चित से प्रार्थना करे, और दूसरी ओर नेचर से योग करके अपने बार-बार के विचार के द्वारा उस सत्य की पोषकता के सम्बन्ध में उसकी उन नाना घटनाओं को अपने सन्मुख लाने की चेष्टा करे, कि जो उसकी योग्यता के अनुसार उसके सन्मुख आ सकती हों, और यदि वह उस समय उसके सन्मुख भली भान्त प्रकट न हों, तो अगले दिन, और इसी प्रकार उसके अनन्तर भी वह उनके सम्बन्ध में अपने विचार के साधन को उसी प्रकार से जारी रक्खे, जब तक उनके विषय में उसे **साक्षात सत्य ज्ञान प्राप्त न हो जाये।**

प्र० । इसके भिन्न वह किसी ऐसे ज्ञान की उन्नति के लिए क्या करे **?**

उ० । इस विषय में उसे जिन और विचारशील जनों के लेख मिल सकते हों, उन्हें भी इसी भाव को लेकर पाठ करे। इससे भी उसे उन सत्यों की प्राप्ति में सहायता मिलेगी। फिर उन्हें बार-बार अपने **चित में बिठाने का यत्न करे**, अथवा उन्हें अपनी किसी नोटबुक वा साधन पुस्तक में लिखने की चेष्टा करे। ऐसे साधनों से **वह सत्य उसके भीतर भली भान्त अंकित हो जाएंगे**, और वह आवश्यकता के समय उनका भली भान्त अपने मुंह वा लेख वा दोनों के द्वारा वर्णन कर सकेगा।

प्र० । क्या कोई साधक इन साधनों के द्वारा अपने इस महा मूल्यवान और दुर्लभ ज्ञान को लगातार बढ़ा सकता है **?**

उ० । यदि ऐसे किसी साधक के आत्मा में **परोपकार** विषयक भाव इतना उन्नत हो चुका हो, कि वह आत्मा वा देवात्मा के विषय में जिन-जिन सत्यों को देवात्मा की देवज्योति में आप देखने के योग्य हो चुका है, वह उनका ऐसे लोगों में **अवश्य प्रचार करेगा कि जो उन सत्यों से अज्ञानी हैं**, और जो उनके विरुद्ध नाना **मिथ्याओं** को सत्य मानकर विश्वास

करते हैं, और अपने इन मिथ्या विश्वासों के कारण अपने आत्मा की वा उसके भिन्न अपने शरीर की वा उसके भिन्न अपनी अन्य कई प्रकार की हानियाँ करते हैं, और उनका प्रचार करने में जिस जिस प्रकार के **समर्पण और त्याग** की आवश्यकता होगी, उस समर्पण और त्याग को भली भान्त ग्रहण करेगा, तो वह अपने इस प्रकार के साधन के द्वारा अवश्य अधिक से अधिक सत्यों के देखने और उपलब्ध करने के लिए **उनकी देवज्योति को भी अधिक से अधिक लाभ करने का अधिकारी बनता जाएगा**, अन्यथा यदि वह **स्वार्थ-परायण** बनकर इस प्रकार के दुर्लभ ज्ञान को केवल अपने ही लिए अधिक से अधिक लाभ करने का इच्छुक होगा, अथवा लोगों के सन्मुख उनका वर्णन करके **अपने आपको उनसे बढ़िया दिखाना** और इस प्रकार से बढ़िया दिखाकर अपने **घमंड भाव** की तृप्ति करना चाहेगा, तब वह उन की इस **देवज्योति** को और अधिक लाभ न कर सकेगा; और उसके इस प्रकार के अमूल्य सत्य ज्ञान की उन्नति का मार्ग बंद हो जाएगा। और यदि इससे भी बढ़कर वह उसका प्रचार करते समय लोगों में इस **मिथ्या विश्वास** के उत्पन्न करने की चेष्टा करेगा, कि जिस ज्ञान वो वह उनके सन्मुख प्रचार कर रहा है, वह उसे **देवात्मा और उनकी देवज्योति के द्वारा नहीं मिलता**, किन्तु वह उसे अपने आप मिला है, **तब इस मिथ्याचार के कारण उसका और भी जल्दी जल्दी पतन होगा।** और वह अपने उस पहले ज्ञान को भी धीरे धीरे खो बैठेगा; अर्थात वह उन सत्यों के देखने के योग्य भी न रहेगा, कि जिन्हें वह पहले देखता था, और इसी लिए उनके विषय में वह फिर पहले की न्याई **अंधकार की दशा में** पहुच जायेगा।

प्र० । तब क्या नेचर के आत्मिक जगत के नियमानुसार यह आवश्यक है, कि जिस किसी अधिकारी जन को **आत्मा** और **देवात्मा** के सम्बन्ध में देवात्मा की **देव-ज्योति के द्वारा** जब और जिस किसी सत्य का दर्शन वा उसकी उपलब्धि हो, तब वह

(1) उस सत्य के विरुद्ध किसी मनुष्य के सन्मुख भी अपना कोई विश्वास वा मत प्रकट न करे, कोई लेख न लिखे, कोई साम्प्रदायिक चिन्ह न रखे, और कोई अनुष्ठान न करे; **और**

(2) जो लोग उस सत्य के ज्ञान से अंधे हों, उनके भले के लिए खुले दिल से और पूर्णत: निडर होकर और बिना किसी लालच के उसका प्रचार करे ?

उ० । निश्चय । अन्यथा वह इन विषयों में फिर देवात्मा की **देवज्योति** की प्राप्ति और उसके द्वारा इन विषयों में **और अधिक सत्यों की उपलब्धि** का अधिकारी न रहेगा । हां, इससे भी बढ़कर मिथ्या का साथ देने से धीरे धीरे वह उन सत्यों के दर्शन से भी **अंधा** हो जायेगा, कि जिनके दर्शन का वह पहले किसी काल में अधिकारी था।

प्र० । यदि किसी जन में ऐसी आकांक्षा उत्पन्न हुई हो, कि उसकी **निर्माणकारी शक्ति का बल बढे**, और उसके लिए उसमें क्या देवात्मा और क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या उद्भिद आदि नेचर के किसी जगत के सम्बन्ध में किसी **उच्च सात्विक भाव** की उत्पत्ति हो, तो वह अपनी इस आकांक्षा की सिद्धि के लिए क्या क्या साधन करे ?

उ० । मनुष्य अपनी प्रकृति से ही **सुख परायण अर्थात सुख का अनुरागी** है। अब यदि उसके आत्मा में कोई ऐसा **उच्च भाव** जाग्रत न हुआ हो, कि जिस की प्रेरणा से जब वह कोई चिन्ता वा अन्य क्रिया करे, तब उसे **सुख बोध** हो, तो वह **अपने आप** अपनी **निर्माण -शक्ति** के बल के बढ़ाने के लिए **अपने आत्मा में किसी भी उच्च भाव की उत्पत्ति वा उन्नति का कभी भी आकांक्षी वा अभिलाषी हो नहीं सकता।** और जब उसमें इस प्रकार की कोई सच्ची आकांक्षा वा अभिलाषा ही वर्तमान न हो, तब वह उसकी उन्नति के लिए किसी प्रकार का भी साधन न तो सरलता के साथ ग्रहण कर सकता है, और न उसे पूरा ही कर सकता है।

परन्तु यदि किसी जन के आत्मा में देवात्मा के सम्बन्ध में उनके देव-प्रभावों को पाकर विश्वास और श्रद्धा आदि उच्च वा सात्विक भावों में से पहले से कोई भाव जाग चुका हो, और उस भाव के पूरा होने से उसे इतना सुख मिलता हो, कि जिसके बार बार लाभ करने के लिए उसमें **अभिलाषा** उत्पन्न होती हो, और **वह किसी ऐसे सुख का लालसी बनकर उस उच्च वा सात्विक भाव की उन्नति चाहता हो**, तो वह इस अभिप्राय के लिए उन साधनों को ग्रहण और पूरा कर सकता है, कि जिनका इससे पहले वर्णन हो चुका है।

इसी प्रकार यदि किसी के आत्मा में मनुष्यादी नेचर के किसी जगत के सम्बन्ध में **परोपकार विषयक किसी उच्च वा सात्विक भाव की** उत्पत्ति हुई हो, और **वह उसके सुख का इतना अभिलाषी बन चुका हो**, कि अपने उस भाव को शिथिल करना न चाहता हो,

किन्तु **उन्नत करना चाहता हो**, तो वह भी इसके निमित्त देवात्मा के देव-प्रभावों के पाने की उसी साधन विधि को ग्रहण और पूरा कर सकता है, कि जिसका इससे पहले वर्णन किया गया है। परन्तु यदि उसका यह भाव पूर्णत: विशुद्ध न होगा, अर्थात् वह किसी का किसी प्रकार का उपकार करके उस परोपकार विषयक **सात्विक सुख के भिन्न** उसके बदले में **उस से वा किसी और से अपना कोई और सुख चाहेगा**, तो फिर नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार केवल यही नहीं, कि किसी भी साधन के ग्रहण करने से उसके **उस भाव की उन्नति न होगी**, किन्तु उसमें उसके जिस **किसी नीच सुख विषयक भाव की जितनी खोट मिली हुई होगी**, उतना ही उसका **वह उच्च भाव भी दिनों दिन घटता चला जायगा**; और यदि उसका उसी प्रकार से **ह्रास** होता गया, तो उसका वह भाव एक दिन पूर्णत: नष्ट हो जायगा।

फलत: मनुष्य होकर यह किसी भी मनुष्य की प्रकृति में नहीं, कि उसे

(1) अपने जिस किसी मिथ्या विश्वास, अपनी जिस किसी मिथ्या चिन्ता, अपने जिस किसी मिथ्या कथन वा वचन वा अंगीकार वा अपनी मिथ्या-मूलक किसी भी क्रिया को **मिथ्या जानकर भी** उसके प्रति कोई **घृणा** न हो, और उससे कोई **दु:ख** न हो, हाँ, ऐसी दशा में उसे उल्टा **सुख मिलता हो**;

(2) किसी मनुष्य वा पशु, वा पौधे वा जड़ पदार्थ के सम्बन्ध में अपनी कोई हानिकारक चिन्ता वा अन्य क्रिया करने और उसे **हानिकारक** जानकर भी उसके प्रति कोई **घृणा** न हो, और उससे उसे कोई **दु:ख बोध** न होता हो, प्रत्युत **सुख बोध** होता हो;

(3) अपने अस्तित्व और उस में भी अपने मूल अस्तित्व अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में **अज्ञानी वा अन्धकार-ग्रस्त** रहने में अपनी इस **अज्ञानता वा अन्धता के प्रति कोई घृणा** न हो, वा इस दशा से उसे कोई **दु:ख बोध** न होता हो, प्रत्युत **सुख बोध** होता हो;

(4) अपने **आत्मिक पतन** का कोई बोध न हो, और उसका अपने सुख विषयक **जिन जिन नीच अनुरागों** और अपनी जिन जिन नीच घृणाओं **के द्वारा आत्मिक पतन** हो रहा हो, उसके विषय में किसी प्रकार के पतन को जानकर वा सुनकर उसके प्रति उसे कोई **घृणा** बोध न होती हो, और उस पतन की दशा के प्रति उसे कोई दु:ख बोध न होता हो, और न उसे अपने आत्मिक-बल के विषय में कोई बोध हो, और न उस बल के बढाने

वाले किसी **उच्च भाव** को जानकर वा उसका नाम सुनकर उसके प्रति कोई **आकर्षण** हो, और वह अपने आत्मिक बल के दिनों दिन नष्ट होने पर उससे कोई कष्ट वा दु:ख बोध न करता हो;

तो वह उससे **मोक्ष पाने** वा अपने आत्मा में किसी **उच्च-भाव के जाग्रत वा उन्नत करने के लिए कुछ भी और कभी भी कोई आकांक्षा बोध करे।** नेचर के आत्मिक जगत के अटल नियमानुसार उसमें इस प्रकार की कोई आकांक्षा वा अभिलाषा हो नहीं सकती। इसीलिये मनुष्य जगत में से जिस जिस जन में ऐसी योग्यता हो, कि उसमें एक ओर कुछ भी वा किसी अंश में भी अपने किसी पतनकारी विश्वास वा अपनी किसी पतनकारी क्रिया आदि के सम्बन्ध में उस **घृणा और उस दु:ख** की उत्पत्ति हो सकती हो, कि जिसकी यथेष्ट उत्पत्ति से ही उसे अपनी किसी प्रकार की **ऐसी मिथ्या वा अहित-मूलक चिन्ता वा क्रिया से नेचर के नियमानुसार सच्ची मोक्ष मिलनी सम्भव हो**, उससे उसे सच्ची मोक्ष देने, और दूसरी ओर जिस जिस जन के आत्मा में कुछ भी वा किसी अंश में भी किसी प्रकार का कोई **उच्च भाव जाग्रत वा उन्नत हो सकता हो**, उसके जाग्रत वा उन्नत करने के लिए ही **सच्ची देव-शक्तियों से विशिष्ट देवात्मा का मनुष्य जगत में आविर्भाव हुआ है।** क्योंकि देवात्मा के ऐसे आविर्भाव के बिना मनुष्य जगत में इस प्रकार का कोई शुभ परिवर्तन आ नहीं सकता था।

******

छतीसवां अध्याय ।

कोई मनुष्य देवात्मा की शरण में आकर भी उनके देव-प्रभावों की प्राप्ति से किन-किन कारणों से वंचित हो जाता है, वा वंचित रहता है ?

प्र० । जब कोई मनुष्यात्मा देवात्मा के **देव-प्रभावों** को पाकर और उनके द्वारा आवश्यक अंश में आत्मिक परिवर्तन लाभ करके उनकी शरण में आ गया हो, तब वह उसके अनन्तर फिर अपने किन किन **पतनकारी भावों के कारण उनके देव-प्रभावों के पाने के योग्य नहीं रहता** ?

उ० । उसके अन्य **सुख विषयक नीच अनुरागों** के भिन्न कि जिनका **दास** होने पर वह उनसे विमुख बनता है, और उनके साथ अपना आत्मिक मेल स्थापन करना नहीं चाहता और नहीं करता; उसके **अहं सुख अनुराग विषयक कई प्रकार के भाव विशेष रूप से उसे उनसे विमुख बनाते और रखते हैं**; और वह उसे ऐसी पतन की दशा में पहुँचा देते हैं, कि यदि वह पहले कभी उनके देव-प्रभावों के पाने की योग्यता रखता था; तो फिर वह अपनी इस पतन की दशा में पहुँच कर उनके **देव-प्रभावों के पाने के योग्य नहीं रहता**, और इसीलिए उनकी प्राप्ति से वंचित हो जाता है।

प्र० । वह **अहं अनुराग-जात पतनकारी भाव** कौन कौन हैं **?**

उ० । वह महा पतनकारी भाव यह हैं:-

(1) स्वार्थ सुख अनुराग का प्रबल अधिकार ।

(2) घमंड सुख अनुराग का प्रबल अधिकार ।

(3) स्वेच्छाचार सुख अनुराग का प्रबल अधिकार।

(4) घृणा सुख अनुराग का प्रबल अधिकार।

1- **स्वार्थ सुख अनुराग का प्रबल अधिकार ।**

1. किसी जन का देवात्मा से **कई प्रकार का आत्मिक और अन्य विविध हित पाकर भी**

उनके साथ अपना किसी प्रकार का **कोई सम्बन्ध बोध न करना**, और अपनी पत्नी वा अपने पति वा अपने बच्चे वा अपने किसी ऐसे ही और जन वा जनों के भिन्न कि जिनके साथ वह अपने **किसी एक वा दूसरे प्रकार के नीच सुख विषयक अनुरागों से बंधा हुआ हो**, देवात्मा के साथ किसी प्रकार **का कोई सम्बन्ध न रखना।**

2. उन से **महा दुर्लभ आत्मिक हित** पाकर भी जहाँ तक सम्भव हो, उनके परम लक्ष्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार से भी सेवाकारी बनना न चाहना।

3. 1) उनके देवरूप, 2) उनके देव-प्रभावों, 3) उनकी धर्म विषयक सत्य शिक्षा, 4)उनके परम लक्ष्य और उनके अद्वित्य कार्य की महिमा के देखने, उपलब्ध करने और अपने वा अपने पारिवारिक जनों के सम्बन्ध में उनके **उपकारों** को स्मरण करने और **उनके सम्बन्ध में अपनी किसी स्वार्थ-मूलक** वा किसी और अनुचित वा **हानिकारक** क्रिया के सम्बन्ध में विचार करने के लिए अपने भीतर कोई भाव न रखना।

4. देवात्मा के जिन देव-प्रभावों के द्वारा उसके अपने गाँव वा नगर वा अपने देश के किसी स्थान में लोगों के धर्म विषयक मिथ्या विश्वासों और उनकी किसी प्रकार की सामजिक बुराइयों वा उनके किसी प्रकार के पापों के दूर करने वा किसी प्रकार की किसी और भलाई का काम होता हो, उनके ऐसे निराले और महा हितकर कामों के लिए अपने धन और अपनी सम्पत्ति में से **दान करने का कोई भाव न रखना**; और अपने बेटों आदि के भिन्न अपने धन और अपनी सम्पत्ति को किसी ऐसे भले काम के लिए अर्पण करके अपने आत्मा वा अपने देश का कोई हित न चाहना और न करना; और जहाँ तक सम्भव हो, अपनी किसी शारीरिक वा मानसिक शक्ति को किसी ऐसे काम की उन्नति के लिए काम में न लाना और न लाना चाहना।

2 - **घमंड सुख अनुराग का प्रबल अधिकार ।**

(1) मैं घटिया होकर भी किसी की दृष्टि में घटियाँ न दिखाई दूं, वा घटिया न समझा जाऊं; इस भाव से प्रेरित होकर किसी के सम्बन्ध में भी अपने किसी अपराध वा पाप वा दुराचार, वा अपनी किसी अज्ञानता वा अबोधता वा अपने अन्याय-मूलक किसी कर्म वा अपनी किसी अयोग्यता, अथवा अपनी किसी हीनता को न मानना; और किसी के

सम्बन्ध में अपनी अवज्ञा, अपनी किसी भूल, अपने किसी अपराध वा अपने किसी पाप को स्वीकार न करना, वा इससे भी बढ़कर इनमें से किसी के छिपाने के लिए कई प्रकार के झूठ घड़ना, वा इससे भी अधिक बढ़कर अपनी ओर से **किसी और जन पर झूठे अपराध वा कलंक लगाना**, और इस प्रकार से दिनों-दिन **झूठ का अनुयाई बनकर अपने आत्मा को अन्धकार से भरते जाना।**

(2) **देवात्मा की देव-शक्तियों से पूर्णत: शून्य और नाना प्रकार के नीच सुख अनुरागों और नीच घृणाओं से विशिष्ट केवल मनुष्यात्मा होने के कारण आत्मा और आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में नाना सत्यों के** देखने के अयोग्य होकर, और किसी एक वा दूसरी वास्तविक बुराई वा भलाई के सम्बन्ध में अपने आत्मा में **कोई बोध न रखकर भी इन विषयों में अपने आपको उनसे बढ़कर ज्ञानी और बोधी समझना वा विश्वास करना।** और अपने किसी पुराने **कुसंस्कार** वा अपने किसी सुख विषयक नीच अनुराग के पक्षपात के कारण **नेचर के आत्मिक जगत के किसी सत्य वा उसकी किसी सत्य घटना को** परित्याग करके **अपने ही घमंड भाव की प्रेरणा के अनुसार** अपने आपको सदा ठीक और यदि देवात्मा की कोई शिक्षा वा क्रिया उसके विपरीत हो, तो उन्हें सदा भ्रांत **समझना वा विश्वास करना**; और इस महा झूठ का दिनों-दिन **अभ्यासी** बनकर अपने आत्मा में अन्धकार को बढ़ाते रहना।

(3) किसी मतभेद के रखने पर देवात्मा की अपेक्षा **अपने आपको बढ़िया** और उन्हें घटिया दिखाने के निमित्त जगह जगह अपने ऐसे झूठे बढ़ियापन की डींग मारना, और उनकी निंदा करना; और उनके सम्बन्ध में और लोगों में **मिथ्या और अश्रद्धा** का प्रचार करना।

(4) अपने **घमंड भाव** के कारण देवात्मा की शरण प्राप्त किसी ऐसे जन को भी **अपने से घटिया देखना और समझना वा विश्वास करना** कि जिसने देवात्मा के देव- प्रभावों से परिवर्तित होकर, आत्मिक वा धर्म जीवन की प्राप्ति के लिए **उसकी अपेक्षा बहुत बढ़कर त्याग किये हों**, और जो उसकी अपेक्षा देवात्मा के परम लक्ष्य के लिए बहुत बढ़कर **सेवाकारी** हो।

3 – **स्वेछाचारिता सुख अनुराग का प्रबल अधिकार ।**

(1) अपने **किसी भी सुख अनुराग के विरुद्ध** चाहे वह उसके वा उसके भिन्न किसी और के लिए **कैसा ही पतनकारी वा हानिकारक क्यों न हो**, देवात्मा के किसी उपदेश को ग्रहण न करना, और उससे उल्टा **दुख होना**, और इसीलिए इस विषय में **अपनी ही इच्छा के अनुसार चलना और उनकी शुभ इच्छा का साथ न देना**, **और उसे पालन न करना।**

(2) अपने किसी भी **सुख अनुराग के विरुद्ध**, चाहे उसकी प्राप्ति उसके आत्मा के लिए कैसी ही **पतनकारी** अथवा इससे भी बढ़कर किसी और के लिए भी कैसी ही हानिकारक क्यों न हो, अपने से किसी बड़े जन वा अपने किसी शासनकर्ता के मुख से भी किसी बात को न सुनना वा उसके सम्बन्ध में किसी रोक टोक को **पसंद न करना**; हां, उल्टा उससे **दुखी होना**, और इसलिए उस विषय में **अपनी ही इच्छा के अनुसार चलने** का यत्न करना, और अपनी ऐसी गति से अपनी वा अपने भिन्न **किसी और की हानि** करते रहना।

(3) देवात्मा की किसी संस्था से सम्बन्ध रख कर भी अपने **स्वेच्छाचारिता विषयक सुख अनुराग** के कारण उस संस्था के सम्बन्ध में उसके एक वा दूसरे उचित नियम वा उसकी किसी एक वा दूसरी उचित और ठीक विधि के अनुसार काम करने के लिए अपने आपको **बाध्य अनुभव न करना**, और उसके सम्बन्ध में **भली भान्त अपना कर्तव्य पालन न करना**; और ऐसी नीच दशा रखकर उसके सम्बन्ध में अपने आपको **हानिकारक** प्रमाणित करना।

(4) देवात्मा के परम लक्ष्य में **किसी प्रकार की सेवा का भार ग्रहण करके** उनकी बताई वा स्वीकार की हुई किसी एक वा दूसरी ऐसी हितकर विधि के अनुसार काम न करना, कि जो उसे अपने किसी सुख वा अपनी किसी रुची के विरुद्ध बोध हो; और उस विषय में केवल **अपनी रुची वा अपनी इच्छा** के अनुसार काम करके अपने आपको **बाध्यता के भाव से शून्य** और उस काम के सम्बन्ध में हानिकारक प्रमाणित करना; अथवा इससे भी बढ़कर उस विषय में **उसके लिए जितना काम करना और जितना ध्यान देना आवश्यक हो**, **उतना काम न करना और उतना ध्यान न देना**; और अपनी इस **अबाध्यता** के कारण उसकी हानि करके संतुष्ट वा प्रसन्न रहना, और इस प्रकार से अपने आपको किसी **गठन-**

प्राप्त समाज वा सोसाइटी के अधीन रहने वा उसके नियमों के अनुसार चलने वा उनके पालन करने के **अयोग्य** प्रमाणित करना।

4 – नीच घृणा सुख अनुराग का प्रबल अधिकार ।

अनुराग और घृणा एक दूसरे के **विरोधी** भाव हैं। जो मनुष्य जिस जिस सुख का अनुरागी होता है; उस उस सुख के उलट उसे जिस किसी मनुष्य वा जिस किसी पशु वा जिस किसी और से कोई वा किसी प्रकार का दु:ख मिलता हो, उसके प्रति उसमें घृणा भाव की अल्पाधिक उत्पत्ति हो जाती है। **यही घृणा नीच घृणा कहलाती है।** मनुष्यात्मा का यह नीच भाव **महा पतनकारी** भाव है। जैसे मनुष्य जगत में लाखों और करोड़ों लोग **अपने-अपने नाना सुख विषयक नीच अनुरागों की प्रबल प्रेरणाओं से प्रेरित होकर औरों के संबंध में नाना प्रकार के मिथ्या और अन्य दुराचार वा अन्याय-मूलक कर्म करते हैं, वैसे ही वह अपने अपने भीतर के कई प्रकार के नीच घृणा भावों की प्रेरणाओं से भी नाना प्रकार के मिथ्या और अत्याचार-मूलक कर्म करते हैं । यथा**:-

(1) जो मनुष्यात्मा किसी मनुष्य वा पशु आदि को घृणा करता है, वह उसके **अशुभ की आकांक्षा** करता है, अर्थात् वह उसका बुरा चाहता है; इसीलिये वह किसी ऐसे मनुष्य वा पशु आदि के सम्बन्ध में जिसे वह घृणा करता हो, किसी प्रकार की अशुभ घटना को देखकर वा सुनकर सुख वा तृप्ति लाभ करता है।

(2) इस महा पतनकारी घृणा भाव के कारण मनुष्यात्मा **उलटा दृष्टा** बन जाता है अर्थात् वह जिस किसी जन को **घृणा** करता है, उसकी नाना बातों को **उलटे रूप में देखता और प्रकट करता है।** वह अपने शुभाकांक्षी वा उपकारी को अशुभाकांक्षी वा शत्रु के रूप में और अपने किसी वास्तविक **हानिकर्ता को शुभाकांक्षी वा मित्र** के रूप में देखता और विश्वास करता है।

(3) इस महा पतनकारी घृणा भाव के कारण मनुष्यात्मा किसी और मनुष्य वा मनुष्यों के सम्बन्ध में **द्वेषभावी** बन जाता है, अर्थात् वह जिसे वा जिन्हें घृणा करता है, उसकी वा उनकी यथा अवसर और यथा शक्ति वह अपनी ओर से भी **एक वा दूसरे प्रकार की हानि करके आराम वा तृप्ति पाता है।**

(4) इस महा पतनकारी घृणा भाव के कारण मनुष्यात्मा अपने उपकारियों के सम्बन्ध में **कृतघ्न** बन जाता है, अर्थात् वह उनके **उपकारों के लिए ऋणी बोध** करने और इस ऋण परिशोध के लिए उनका सेवाकारी बनने के स्थान में, उन्हें विविध प्रकार से **सताने और उत्पीड़ित करने के लिए** तैयार हो जाता है - यहाँ तक कि कोई कोई जन **कृतघ्न** बनकर अपने माता-पिता वा किसी अन्य उपकारी की **हत्या** तक करके अपने हृदय को आराम वा शान्ति देता है।

इन अहं-जात चारों प्रकार **के महा पतनकारी परन्तु सुखदायक भावों** के अधिकार से **जो जो जन कुछ भी मोक्ष पाने की योग्यता नहीं रखते**, वह देवात्मा की शरण में आने का महोच्च अधिकार पाकर भी, **उनके देव-प्रभावों की प्राप्ति के योग्य नहीं रहते**; और उनकी प्राप्ति से वंचित रहकर **धीरे-धीरे अधिक से अधिक पतित होते रहते हैं।**

****

सैंतीसवां अध्याय ।

मनुष्यात्मा की स्वाधीनता का ढकोसला।

प्र० । जो लोग यह कहते वा विश्वास करते हैं, कि मनुष्य को उसके किसी ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, वाहगुरु, अल्ला, गाड आदि नामक "देवता" ने उत्पन्न किया वा बनाया है, और उसने उसे ऐसी **शक्ति वा स्वाधीनता दी** है, कि जिसके बल से यदि वह चाहे, तो वह **अपनी किसी भी ऐसी चिन्ता वा क्रिया से पूर्णत: बच सकता और बचा रह सकता है**, कि जिसे उसके देवता ने **बुरी वा पाप-मूलक** बताया हो, उनका यह कथन वा विश्वास कैसा है **?**

उ० । उनका यह कथन वा विश्वास **पूर्णत: मिथ्या है** :-

(1) उनका यह कथन वा विश्वास ही **पूर्णत: मिथ्या** है, कि **मनुष्य को उनके किसी इस वा उस देवता ने उत्पन्न किया वा बनाया है।** इसलिए जब कि ऐसा कोई कहलाने वाला देवता मनुष्य के अस्तित्व का उत्पन्नकर्ता वा सृष्टा वा बनाने वाला ही नहीं, तब उनका यह कहना वा विश्वास करना, कि उस **देवता** ने अपनी ओर से उसे इतनी वा उतनी शक्ति देकर यह **स्वाधीनता** दी है, कि वह यदि चाहे, तो अपने वा किसी और के सम्बन्ध में **कोई बुरा वा हानिकारक कर्म करे वा न करे**, **तर्क विद्या के सच्चे नियमानुसार मिथ्या के भिन्न और कुछ नहीं।**

(2) प्रत्येक मनुष्य अपनी रात दिन की **सच्ची परीक्षा** से यह सत्य देखता वा देख सकता है, कि वह अपने **जिस किसी नीच सुख वा नीच घृणा भाव के अधिकार में आकर उसका पूरा-पूरा दास बन चुका** है, उसके विषय में वह **यह जानकर भी** कि उसकी तृप्ति करने से उसकी **अपनी वा किसी और की अमुक-अमुक हानियाँ** होती हैं; अपने भीतर उस सुख के छोड़ने के निमित्त **कोई शक्ति वा बल नहीं रखता**, **और वह उसके अधिकार वा दासत्व से अपने आप नहीं निकल सकता**, **और वह अपनी जिस सुखदायक अनुराग शक्ति के आधीन हो चुका है**, **उसके सम्बन्ध में वह अपनी कोई स्वाधीनता नहीं रखता।** मनुष्य जब कभी कुछ चाहता है, और जो कुछ चाहता है, तब वह अपने **भीतर के किसी**

भाव की वर्तमानता और उसकी प्रेरणा से ही **चाहता है।** परन्तु वह अपने उस भाव वा अपनी चाह की तृप्ति तभी कर सकता है, कि जब उसकी तृप्ति में उसका **अपना उससे कोई अधिक बलवान भाव वा उससे बाहर की नेचर की कोई और शक्ति रोक न बने**, अर्थात् उसकी उस भाव शक्ति के बल की तुलना में वह और **शक्ति अधिक बलवती न हो।** अन्यथा वह कोई बात चाहकर भी उसे पूरा करने के योग्य नहीं हो सकता।

दृष्टांत :-

यदि कोई बच्चा वा युवा जो किसी शारीरिक बीमारी के कारण इतना निर्बल हो चुका है, कि वह अपनी चारपाई पर भी किसी की सहायता के बिना आप उठकर नहीं बैठ सकता, उस दशा में यह चाहे कि वह **अपने आप** उस चारपाई से उतर कर आधे मील वा एक मील तक भाग कर चला जाय तो, उसका ऐसा चाहना निष्फल प्रमाणित होगा, और वह कदापि ऐसा न कर सकेगा। यदि एक अस्सी वा नब्बे वर्ष का बूढ़ा जन यह चाहे, कि जैसे लड़कपन और जवानी की दशा में उसका शारीरिक बल धीरे धीरे अपेक्षाकृत बढ़ता गया था, और उसके शारीरिक अंग अपेक्षाकृत मजबूत होते गये थे, वैसे ही अब भी **उसका शारीरिक बल दिनों-दिन बढ़ता जाये**, **और उसके शारीरिक अंग पुष्ट वा मजबूत होते जाएँ**, **तो उसकी यह कामना वा चाह कदापि पूरी न होगी**; और उसका शारीरिक बल दिनोंदिन अधिक न बढ़ेगा, और उसके शारीरिक अंग दिनोंदिन अधिक पुष्ट वा मजबूत न होंगे; **क्योंकि उसकी यह चाह वा कामना नेचर के शरीर सम्बन्धी अटल नियमों के विरुद्ध है।**

इसी प्रकार यदि कोई जन किसी ऐसी नदी की **प्रबल धार** में बहा जा रहा हो, कि जिसकी धार का बल उसके अपने शारीरिक बल से अधिक हो, तो वह यह चाहकर भी कि मैं इस धार में बहता न चला जाऊं, **अपनी इस कामना में सफ़ल काम न होगा।** और यदि उसकी ऐसी दशा में किसी अनुकूल घटना से उसे कोई आवश्यक सहायता न मिले, **तो उसके लिए अपने बल को धीरे-धीरे खोकर उस नदी के जल में डूबकर मर जाना अनिवार्य होगा।** और क्या यह सत्य नहीं, कि नाना जन मरने की इच्छा न रखकर भी किसी नदी वा समुद्र के जल **में विवश डूब कर मर जाते हैं** ? अवश्य सत्य है।

परन्तु यदि कोई जन कुछ भी कष्ट बोध करने पर अपने मुंह पर से किसी मक्खी को उड़ा

देना चाहता हो, और उसकी इस चाह वा उसके इस भाव का साथ देने के लिए उसके **किसी हाथ में यथेष्ट बल भी हो**, और उसमें किसी और की ओर से कोई रोक न हो, तो वह अपनी इस चाह के अनुसार उस मक्खी को वहां से उड़ा वा हटा देने के लिए अपने उस हाथ को अवश्य काम में ला सकेगा। इसी नियम के पूरा होने पर वह अपने चलने फिरने, सोने, जागने, खाने पीने आदि के सम्बन्ध में भी कई और काम कर सकेगा।

इसी तरह यदि कोई जन कुछ मिठाई खाना चाहता हो, और वह मिठाई उसे किसी हलवाई की दुकान से ही मिल सकती हो, और उसके मोल लेने के लिए उसे जितने पैसों की आवश्यकता हो, वह पैसे भी उसके पास हों, और उसमें उस समय **उन पैसों के प्यार वा लालच की शक्ति इतनी प्रबल न हो**, कि जो उसकी उस वासना वा कामना में **रोक बन सके**, और वह उस हलवाई की दुकान तक जाने के लिए **अपने शरीर में बल भी रखता हो**, और उसमें उस समय **आलस्य का भाव इतना प्रबल न हो**, कि जो उसके शरीर के चलने वा गति करने में **बाधा दे वा रोक बने**, **और किसी और और से भी** उस समय उसकी इस चाह में कोई रोक न हो, तो फिर इन कुल शर्तों के पूरा होने पर वह अपनी उस चाह में अवश्य सफ़ल काम होगा; अन्यथा न होगा।

इसलिए यदि किसी बुराई वा किसी पाप को कोई मनुष्य (1) बुराई वा **पाप जानता भी हो**, और (2) उसे उसकी वा किसी और की **जो जो हानि होती हो**, **वह उस हानि को चाहता भी न हो**; **परन्तु यदि वह उसकी सुख विषयक लालसा की शक्ति के पूर्ण आधीन हो चुका हो**, **तो वह चाह कर भी उसकी आधीनता वा उसके पंजे वा उसके द्वारा उसकी वा किसी और की जो हानि होती है, उस हानि से निकल न सकेगा। और वह अपनी ही परीक्षा के द्वारा इस सत्य** को साफ़ उपलब्ध करता है, कि **केवल चाहने से** वह अपने भीतर की **किसी भी ऐसी नीच वा पतनकारी शक्ति के अधिकार से निकल नहीं सकता**; **और वह अपने आप अपनी किसी भी ऐसी सुखप्रद शक्ति से मोक्ष वा मुक्ति नहीं पा सकता**, कि जिसके वह **आधीन वा** जिसका वह **दास** हो चुका है। और ऐसी दशा में यदि उसकी उस पतनकारी दशा से **मोक्ष सम्भव भी हो**, **तो वह उसे किसी और के द्वारा ही मिल सकती है**; और वह अपने आप और केवल अपनी इच्छा से उससे मोक्ष नहीं पा सकता।

फिर क्या मनुष्य जगत में लाखों और करोड़ों लोग ऐसे नहीं कि **जो अपनी किसी भी ऐसी बुराई वा नीच गति वा अपने किसी भी ऐसे पाप से निकलना ही पसंद नहीं करते, और उससे कदापि उद्धार नहीं चाहते, कि जिसके द्वारा उन्हें कोई सुख वा रस मिलता हो** ? क्या यह सच नहीं**,** कि लाखों लोग **नशे के सुख के लिए** जिन जिन विषाक्त और स्वास्थ्य नाशक वस्तुओं**,** और **स्वाद रस** की प्राप्ति के लिए जिन जिन स्वास्थ्य नाशक अन्य वस्तुओं को खाते वा पीते हैं**; काम रस** की प्राप्ति के लिए **व्यभिचार** करते हैं**,** धन प्राप्ति के सुख के निमित ठगी करते हैं**,** रिश्वत लेते हैं**, धरोहर** मारते हैं**, चोरी** करते हैं**, जुआ** खेलते हैं**, झूठ बोलते और झूठी गवाहियाँ देते हैं**; और अन्य विविध प्रकार के **अन्याय वा अपहरण मूलक कर्म करते हैं**; **मान बड़ाई** आदि के दास होकर अपने किसी धर्म मत वा बिरादरी वा भाईचारे वा समाज वा सोसाईटी वा सम्प्रदाय आदि की **किसी प्रथा वा रसम वा अनुष्ठान आदि को मिथ्या जानकार भी उसे संपन्न करते हैं**, अपने एक वा दूसरे प्रकार के **धर्म-सूचक चिन्हों को मिथ्या जानकार भी उन्हें रखते हैं**, और विविध प्रकार के **अन्य कपटता-मूलक कर्म करते हैं**, **वह अपने उन सुखों से अपने आप कभी भी निकलना वा उनसे मोक्ष पापा नहीं चाहते** ? हां**,** इससे भी बढ़ कर यदि कोई और जन**,** यहाँ तक कि उनके अपने माता पिता वा अन्य उपकारी जनों में से कोई जन**,** उन्हें उनकी किसी ऐसी **सुखदायक क्रिया** से निकालने की चेष्टा करे**,** और उनकी इस **सुखदायक क्रिया के विरुद्ध कुछ कहे वा उपदेश दे**, **तो उससे वह अपने हृदय में उल्टा आघात और दु:ख मालूम करते हैं;** और नाना दशाओं में उसकी किसी ऐसी बात को सुनना तक नहीं चाहते**,** और इस से भी बढ़कर उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं **? तब क्या जो जन ऐसी दशा में है**, **उन्हें स्वाधीन बताना वा विश्वास करना एक पूर्णत**: **बनावटी** बात वा **ढकोसला** नहीं **?** अवश्य है।

फलत: जब कोई मनुष्य अपनी किसी भी पतनकारी परन्तु **सुखदायक शक्ति के पूर्ण अधीन हो जाने के कारण उसका आप मालिक वा प्रभु नहीं रहता**, किन्तु उसका दास बन जाता है तब वह स्वाधीन नहीं**,** किन्तु **पराधीन** होता है। और जो **पराधीन** है**,** वह **स्वाधीन** कहाँ **?** इसलिए जो जन **पराधीन है**, **वह स्वाधीन नहीं।** और सुख अनुरागी होकर जो जो जन **जिस जिस सुख के दास बन जाते हैं**, वह उसके सम्बन्ध में **स्वाधीन**

नहीं होते**;** किन्तु **पराधीन** होते हैं।

इस 'सुख-अनुराग-जात' **दासत्व वा अधीनता** को प्राप्त होकर करोड़ों लोग **अपनी जिन जिन नीच गतियों के द्वारा अपना अपना आत्मिक पतन करते हैं**, **उस पतन से वह अपने आप उद्धार वा मोक्ष वा मुक्ति नहीं पा सकते**; **और न सच्ची देवशक्तियों से विहीन उनका कोई कहलाने वाला देवता वा उस देवता का कोई कहलाने वाला अवतार वा भक्त वा कोई कहलाने वाला योगी ऋषि**, **मुनि**, **सन्त**, **महन्त**, **सिद्ध**, **बुद्ध**, **जिन्न और तीर्थंकर आदि ही उन्हें उस दासत्व से जहाँ तक सम्भव हो**, **कोई सच्ची मोक्ष** दे सकता है।

इस प्रकार की सच्ची मोक्ष किसी **अधिकारी** जन को किसी शुभ अवसर के प्राप्त होने पर केवल **देवात्मा के देव-प्रभावों को प्राप्त होने पर ही मिल सकती है**, **अन्यथा किसी और प्रकार से नहीं।**

प्र० । तब क्या मनुष्य अपनी किसी भी चिन्ता वा क्रिया के सम्बन्ध में स्वाधीन नहीं **?**

उ० । मनुष्य में जो जो और जिस जिस प्रकार की **चिंताएं** उत्पन्न होती हैं**,** और वह जिस जिस प्रकार के **मिथ्या विश्वास** रख़ता है**,** जिस जिस प्रकार की **मिथ्या और अन्याय मूलक नाना क्रियाएं करता है**, और अपनी शरीर सम्बन्धी जिस जिस प्रकार की खाने**,** पीने**,** सोने**,** जागने**,** मल मूत्र त्याग करने**,** चलने फिरने**,** हाथ पांव हिलाने**,** बोलने**,** बैठने**,** लेटने आदि की क्रियाएं करता है**, वह अपने विविध प्रकार के भावों से परिचालित होकर ही करता है।** इसीलिए

(1) जिस किसी विषय में किसी चिन्ता वा क्रिया के करने के निमित उसमें कोई **भाव वर्तमान न हो**, उसके विषय में **वह कोई भी चिन्ता वा क्रिया नहीं कर सकता**, **और नहीं करता।**

(2) जिस जिस प्रकार की चिन्ता वा क्रिया के करने के लिए **उसमें कोई भाव वर्तमान भी हो**, उस भाव विषयक चिन्ता वा क्रिया से उसे रोकने वा उसके पूर्णत: नष्ट कर देने के लिए जब तक उसमें **कोई और भाव** उत्पन्न न हो**,** तब तक उसका **अपने उस भाव के द्वारा परिचालित होने पर कुछ न कुछ चिन्ता वा क्रिया करना अनिवार्य्य है।**

इसीलिए जब किसी मनुष्य को अपने शरीर के सम्बन्ध में भूख बोध हो रही हो**,** प्यास लग रही हो**,** मल मूत्र के त्याग करने के लिए प्रेरणा हो रही हो**,** नींद आ रही हो**,** और इसी

प्रकार उसकी कोई और भाव शक्ति उसके शरीर के किसी अंग को वा उसकी किसी मानसिक चिन्ता को हिला रही हो, **तब उसमें अपनी उस भाव शक्ति के द्वारा वह प्रेरणा वा क्रिया वा चिन्ता अवश्य उत्पन्न होगी।** और यदि वह उसकी तृप्ति को कुछ काल तक **रोकने वा रोके रखने की चेष्टा करेगा, तो उसकी उत्पादक भी या तो उसके भीतर की अपनी ही कोई और भाव शक्ति** होगी, वा उससे बाहर नेचर की कोई अन्य **शक्ति** होगी; और यदि उनमें से कोई शक्ति **रोक न बनेगी**, तो वह अपनी उस **भाव शक्ति** से प्रेरित वा परिचालित होकर **उसकी तृप्ति के लिए अवश्य कोई क्रिया करेगा।**

प्र० । यदि प्रत्येक मनुष्य अपने किसी न किसी भाव से ही परिचालित होकर कोई बुरी वा भली चिन्ता वा अन्य क्रिया करता है; तो उसे किसी के सम्बन्ध में किसी **अपराध-मूलक कर्म के करने पर राजशासन की ओर से कोई दंड क्यों दिया जाता है** ?

उ० । वह दंड इसलिए दिया जाता है, कि उसकी उस क्रिया से **किसी और वा औरों को जो हानि पहुचती है**, उस हानि से उसकी वा ओरों की रक्षा की जाये; क्योंकि वह वा और जन उसके द्वारा **अपनी ऐसी कोई हानि कराना नहीं चाहते**, और वह अपने भीतर **उस हानि से बचने वा रक्षा पाने वा सुरक्षित रहने का भाव रखते हैं।** इसलिए जहाँ वह किसी एक वा बहुत से जनों की किसी प्रकार की हानिकारक क्रिया वा क्रियाओं से अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते, वहां इस काम के पूरा करने के लिए और जन अपने एक वा दूसरे **भाव** के कारण तैयार हो जाते हैं, और उनके द्वार ऐसा काम होने लगता है। ऐसे लोग ऐसे कई प्रकार के **अपराध मूलक कर्मों के सम्बन्ध में** अपने अपने भावों के अनुसार **कोई दंड विधि नियत वा ग्रहण करते हैं**; कि जो **शासन प्रणाली** कहलाती है। यह शासन प्रणाली अपनी घटिया वा अपेक्षाकृत बढ़िया दशा के विचार से नाना प्रकार को होती है। और इस शासन प्रणाली के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, **अपराधी जनों के हाथों से नाना लोगों की नाना प्रकार की हानियों** से रक्षा होती है।

जैसे कोई बाघ वा शेर यद्यपि **अपने भीतर के किसी भाव से परिचालित होकर ही किसी की किसी गौ वा भेड़ वा बकरी को मारकर खा जाना चाहता है** तथापि जिस जन की वह गौ वा भेड़ वा बकरी होती है, वह **अपने भाव के अनुसार** उस शेर के द्वारा **उसका वध नहीं चाहता**, और इसिलए आवश्यक होने पर वह उस शेर को आप आहत वा वध करके

वा किसी और से कराके **उसकी और अपने उचित अधिकार की रक्षा करना चाहता है**; अथवा कोई और जन उससे पैसे लेकर वा बिना पैसे लेने के उसके **उस उचित अधिकार की रक्षा करते हैं**; वैसे ही किसी देश वा प्रदेश के निवासी जनों के **उचित अधिकार** की जो लोग इसी प्रकार से रक्षा करते हैं; और जहां तक सम्भव हो उनमें शांति रखते वा इससे भी बढ़कर उनकी एक वा दूसरे प्रकार की भलाई का यत्न करते हैं, उनकी इसी कार्य प्रणाली को गवर्नमेंट कहते हैं, और जैसे शेर के अनुचित आक्रमण से बचने के निमित उसे कोई आवश्क कष्ट देना वा आहत वा वध करना **उचित** है, वैसे ही मनुष्य समाज के किसी जन के किसी उचित अधिकार की रक्षा करने के लिए उसके किसी अनुचित आक्रमणकारी जन वा जनों को भी **एक वा दूसरे प्रकार का दंड देना उचित और आवश्यक कर्म है।**

फलत: प्रत्येक मनुष्य अपने एक वा दूसरे प्रकार **के भाव के द्वारा ही परिचालित होने पर किसी प्रकार की कोई चिन्ता वा कोई क्रिया करता वा कर सकता है**, **उसके बिना कदापि नहीं। इसीलिए सच्चे अर्थों में उसकी अपनी स्वाधीनता कुछ भी नहीं।**

****

अड़तीसवां अध्याय ।

केवल सुख व दुःख के आधार पर ही किसी आत्मा में उसकी अपनी योग्यता के अनुसार किसी सीमा तक उच्च परिवर्तन आ सकता है, और उसके बिना किसी और प्रकार से नहीं ।

मनुष्य अपनी प्रकृति से ही सुखपरायण है; अर्थात वह कई प्रकार के **सुखों के प्रति गहरा अनुराग** रखता है। वह जिस जिस सुख के लिए अनुराग रखता है, उसके विरुद्ध वह किसी **दुःख** को केवल वहीं तक चाहता है, जहाँ तक उसे उस सुख वा किसी और सुख की प्राप्ति उतने दुःख के ग्रहण करने के बिना सम्भव न हो।
इसलिए जब कभी वह किसी प्रकार का दुःख ग्रहण करना वा अपने किसी सुख का त्याग करना चाहता है, तब वह किसी सुख की ही प्राप्ति के लिए ऐसा ग्रहण वा त्याग करता है। वह सुख और केवल सुख के लिए अनुराग रखता है। सुख के लिए ही अपने आत्मा में लालसा रखता है, और सुख के लिए ही जीता और जीना चाहता है। फलत: उसकी सब चिन्ताएं और अन्य सब क्रियाएं सुख की प्राप्ति वा उसके विरोधी किसी दुःख से बचने के लिए ही होती हैं।
इसलिए जब कोई मनुष्य अपने किसी ऐसे सुख का अनुरागी होता है, कि जो उसे अपनी किसी शारीरिक इन्द्रिय के द्वारा मिलता हो, तब वह उसकी प्राप्ति के लिए **असंयमी वा अमिताचारी** बन जाता है; क्योंकि ऐसा बन जाना उसके लिए **अनिवार्य है।** ऐसी दशा में वह उन नाना प्रकार की वस्तुओं को खाता और पीता है, कि जो उसे **स्वाददार** बोध होती हों। और फिर वह अपने किसी ऐसे स्वाद के सुख का **दास** बन जाने पर अपने शरीर की स्वास्थ्य की हानि करने से भी नहीं टलता। इसी प्रकार **नशे** के सुख वा **काम-सुख वा आलस्य सुख** आदि का अनुरागी होकर वह अपनी शारीरिक स्वास्थ्य वा अपने शरीर की गठन का नाना प्रकार से **अहित वा अशुभ करता है। सन्तान** विषयक सुख का अनुरागी और दास बन कर उसकी पालना में क्या उसके शरीर और क्या उसके आत्मा और क्या

अपने आत्मा के लिए विविध प्रकार के अशुभ वा अहित की उत्पत्ति करता है। धन, सम्पत्ति, मान, बड़ाई आदि के सुखों का अनुरागी बनकर उन सुखों की **प्राप्ति के लिए** विविध प्रकार की **मिथ्याओं** और विविध प्रकार के **अन्याय-मूलक कर्मों** का आश्रय लेता है; और अपने आत्मा की हानि के भिन्न नाना समयों में अपने शरीर की भी बहुत हानि करता है। वह एक एक बार किसी सुख के अनुराग से पागल होकर अपने जीवित शरीर की भी अपने हाथों से **हत्या** कर देता है। फलत: मनुष्य के द्वारा क्या मनुष्य जगत में और क्या उससे नीचे के जगतों में **क्या उसका अपना और क्या औरों का जितना और जिस जिस प्रकार का अशुभ होता है**, **वह सब कुछ उसकी सुख अनुरागी प्रकृति के कारण होता है।**

सुख अनुरागी होकर और **सुख अनुरागी प्रकृति रखकर कोई भी मनुष्य अपनी इस मूल प्रकृति के विरुद्ध नहीं जा सकता**, क्योंकि ऐसा करना उसके लिए नेचर के अटल नियमानुसार **असम्भव** है।

तब मनुष्य की इस सुख-अनुरागी प्रकृति में यदि नेचर के ही नियमानुसार कोई श्रेष्ठ वा उच्च परिवर्तन **सम्भव** हो, तो वह उसमें केवल एक इसी विधि के द्वारा हो सकता है – और वह भी प्रत्येक मनुष्य में नहीं, किन्तु कुछ अधिकारी जनों में – कि उन में से जिन जिन में जहां जहां तक किसी प्रकार के मिथ्या विश्वास, उन की किसी मिथ्या चिन्ता वा उन के किसी प्रकार के मिथ्या मूलक आचरण वा उन के किसी अन्याय वा अत्याचार मूलक कर्म के लिए **आत्मिक घृणा** वा किसी किसी विशेष दशा में उनमें से किसी के प्रति **आत्मिक दु:ख** की उत्पत्ति हो सकती हो, वह **घृणा** और वह **दु:ख उनमें उत्पन्न हों**, तब और तब वह उससे **विरत** हो सकते हैं, अन्यथा कभी नहीं। फिर यह भी आवश्यक है, कि उससे विरत हो जाने पर उन्हें कोई **कष्ट बोध न हो**, **किन्तु आराम वा सुख बोध हो।**

इसी प्रकार यदि **अहं सुख अनुरागी** जनों में उनके उस सुख के विरुद्ध कोई ऐसा **उच्च भाव** जाग्रत हो सकता हो, कि जिसके उत्पन्न हो जाने पर उन्हें उस भाव के द्वारा किसी प्रकार का **सुख मिलता वा मिल सकता हो**, और वह भाव उनमें उत्पन्न हो जाय, तो वह उसके उस **सुख की चाट में** अपने वा किसी और के लिए कोई श्रेष्ठ वा शुभकर क्रिया कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

सुखार्थी मनुष्य जगत में नेचर के इसी उच्च परिवर्तन विषयक सत्य और अटल नियम के पूरा करने के लिए देवात्मा का आविर्भाव हुआ है।

******

उनतालीसवां अध्याय ।

मनुष्य जगत के विकास में एक नये युग के उत्पन्न करने के लिए देवात्मा का आविर्भाव ।

मनुष्य की उत्पत्ति के अनन्तर क्या उसके मस्तिष्क की और क्या उसकी मानसिक और अन्य शक्तियों की उन्नति अत्यंत धीमी गति से हुई है। एक बड़े लम्बे काल तक मनुष्य इतना जंगली था, कि वह नर-नारी के सम्बन्ध में भी परस्पर के जोड़े के बन्धन से भी नहीं बन्धा था। फिर जब उसमें नर-नारी विषयक कई प्रकार के सुखों का आकर्षण बढ़ा, और उसने धीरे धीरे पारिवारिक जीवन ग्रहण किया, और अन्य बातों के भिन्न संतान पालन के सम्बन्ध में भी उसकी सोच विचार आदि मानसिक शक्तियों पर अधिक बोझा पड़ा, तब उसकी कुछ और उन्नति हुई। इसी प्रकार उसके एक वा दूसरे प्रकार के दु:ख ने भी उसकी कई प्रकार की शक्तियों को कुछ कुछ हिलाने और धीरे धीरे उनकी उन्नति में कुछ न कुछ सहायता की।

पहले पहल इस पृथिवी में मनुष्यों की संख्या अत्यन्त थोड़ी थी, परन्तु फिर काल के साथ-साथ धीरे धीरे उसकी संख्या बढ़ती गई। हज़ारों वर्षों तक मनुष्य न **आग** बनाना जानता था, न कोई **कपड़ा** बनाना जानता था, न कोई कपड़ा पहनता था, न किसी **धातु** को ज़मीन से निकालना और उसकी कोई वस्तु बनाना जानता था, न वह कोई गांव वा नगर रखता था, न कोई दुकान करता था, न कोई और व्यवसाय करता था, और न लिखना पढ़ना जानता था, किन्तु प्राय: बहुत से जंगली पशुओं की न्याईं अपना जीवन रखता था।

फिर जब से एक ओर उसकी सोच विचार आदि मानसिक शक्तियों की उन्नति का **अपेक्षाकृत अधिक पथ खुला**, और दूसरी ओर उसके सुख अनुराग भी धीरे-धीरे और बढ़े, तब से उसके **इन सुख अनुरागों के परिचालन से जैसे उसकी कई प्रकार की उन्नति का और अधिक क्रम जारी हुआ**; वैसे ही वह अपने ऐसे कई सुखादि भावों के बढ़ने से धीरे धीरे अधिक से अधिक नीच भी बनता गया - यहाँ तक कि वह अपने नाना कर्मो के

विचार से पशुओं की अपेक्षा भी अत्यन्त नीच बन गया।

पशु जगत के प्रति कई प्रकार के अत्याचारों को छोड़कर मनुष्य के द्वारा उसके अपने जगत के सम्बन्ध में जितना अत्याचार हुआ है, हत्याएं हुई हैं, जितना अपहरण हुआ है, निर्बल स्त्रियों पर अन्याय हुआ है; सबल पुरुषों ने निर्बल पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को **बलात** पकड़ पकड़ कर उन्हें **दास वा ग़ुलाम** बनाया है, उन्हें पशुओं की न्याईं औरों के हाथों में बेचा और इस ग़ुलामी का व्यवसाय करके धन कमाया है; नाना प्रकार के मिथ्या और महा हानिकारक धर्म मतों का प्रचार किया है, और झूठे धर्म मतों का विश्वासी बन जाने पर नाना देशों के लोगों ने अपने जैसा धर्म मत न रखने वालों को जिस जिस प्रकार से उत्पीड़ित किया है, उन्हें जीता हुआ अग्नि में डालकर जलाया है, उन्हें अन्य नाना विधियों से सताया और तड़पाया है, उनकी हत्याएं की हैं; एक वा दूसरे प्रकार के कहलाने वाले **देवतों परन्तु वास्तव में प्रेत आत्माओं के चाहने पर उनके आगे पशुओं के भिन्न मनुष्यों के भी गले काट काट कर उनके रुधिर की उन्हें बलियां दी हैं**; एक वा दूसरे कहलाने वाले देवतों का आदेश मानकर अपने से भिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों के साथ अन्याय-मूलक युद्ध किया है, ऐसे युद्धों में एक ओर के जनों ने दूसरी ओर के जनों पर जय लाभ करने पर उनके गांवो को लूटा है, उन्हें आग लगाकर फूंका है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को दास बनाने के भिन्न सती-स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट किया है; पतियों के मर जाने पर विधवा स्त्रियों का माल ले लेने के निमित उनमें यह मिथ्या विश्वास उत्पन्न करके, कि जो विधवा अपने मरे हुए पति के साथ चिता में बैठकर आप भी मर जाती है, वह न केवल आप स्वर्ग को जाती है, किन्तु अपने पति को भी स्वर्ग में ले जाती है, उनके पतियों की मृत-देह के साथ उनकी पत्नियों को भी अग्नि में दग्ध किया है; स्त्रियों और अन्य हज़ारों जनों को घटिया बताकर उन्हें उनकी मानसिक उन्नति से वंचित किया है, पुरुषों ने विधवाओं को उचित रूप से पुनर्विवाह करने से रोका और बन्द किया है, और अपने काम-सुखादि की प्राप्ति के निमित्त अपने लिए बहुत से विवाहों की प्रथा जारी की है; घमंड और घृणा भाव से परिचालित होकर लाखों और करोड़ों जनों को अकारण अपकी अपेक्षा घटिया कहकर उन्हें अस्पृश्य अथवा अछूत बताया और उनके प्रति कई प्रकार का अत्याचार किया है; परस्पर के सम्बन्ध में कई प्रकार के पूर्णत:

मिथ्या भेदों का प्रचार किया है; धन, सम्पत्ति, पद और राज्य के लालच का दास बन जाने पर उनकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के अत्याचारों का पथ ग्रहण किया है; राज्य पाने पर अपनी अपनी पतित प्रकृति के अनुसार महा भयानक दंड विधियाँ नियत की हैं; अपने आहार और अन्य सुखों की प्राप्ति के लिए पशु-जगत के नाना प्रकार के जीवों की हत्या विधेय वा उचित बताई है; और इसी प्रकार के अन्य महा अत्याचार-मूलक कर्मों का प्रचार किया है, उनका मनुष्य-जगत के लिखे हुए इतिहास से भी भली भान्ति प्रमाण मिलता है।

यह मनुष्य जगत की अन्धकारमय छवि है, कि जो निश्चय इतनी भयानक है, और इतनी बुरी है, कि जिससे बढ़कर बुरी कोई और छवि नहीं हो सकती। और जो छवि उसके अपने ही विविध प्रकार के **नीच सुख विषयक अनुरागों और अपनी ही नीच घृणाओं के द्वारा उत्पन्न हुई है।**

परन्तु इस अत्यन्त शोचनीय और महा राक्षसी छवि के भिन्न मनुष्य जगत के क्रमश: परिवर्तन में एक और छवि भी उत्पन्न हुई है, कि जो अवश्य बहुत सुन्दर है, और इसीलिये प्रशंसनीय है। यह सुन्दर छवि भी **उसके सुख अनुराग के बढ़ने से धीरे-धीरे विकसित हुई है।** हज़ारों वर्षों के अनन्तर जब कितने ही मनुष्यों ने यह जाना कि नेचर ही उनके कई प्रकार के सुखों का भंडार है, और उसकी नाना वस्तुओं और उसकी नाना शक्तियों में उनके सुखों की सामग्री है, और उनके भीतर उनके विषय में **ज्ञान** लाभ करने की आकांक्षा जाग्रत हुई, और वह आकांक्षा धीरे-धीरे बढ़ी, तब कितने ही देशों के ऐसे मनुष्यों ने नेचर के सम्बन्ध में ज्ञान लाभ करने की पहले जो **केवल कल्पना-मूलक** विधि थी, उससे ठीक फल निकलता न देखकर, उसे धीरे-धीरे त्याग दिया, और नेचर के विषय में ठीक ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त जिस ठीक प्रणाली की आवश्यकता थी, उसे मालूम और ग्रहण किया; तब से इस नई प्रणाली के अनुसार नेचर के विषय में ठीक ज्ञान लाभ करने में उन्होंने बहुत सफलता लाभ की। यही वह विधि थी, कि जिसे **वैज्ञानिक विधि** कहते हैं।

एक ओर इस ठीक विधि के अनुसार चलने और दूसरी ओर उससे बहुत काल पहले से नाना देशों के लोगों ने गणित विद्या की जो कुछ उन्नति हो चुकी थी, उससे सहायता लेने

से धीरे-धीरे इस **नए वैज्ञानिक ज्ञान की उन्नति का मार्ग और अधिक से अधिक खुला।** और इस नए मार्ग के खुलने से इस पृथिवी के कई देशों में मनुष्यों के लिए **विविध प्रकार के नए सुखों की प्राप्ति का एक नए युग आरम्भ** हुआ, कि जिस युग को **मशीनरी वा कला कौशल का युग कह सकते हैं।**

इस नए युग के प्रकट होने से मनुष्य ने नेचर की नाना अजीवित शक्तियों को अपने अधिकार में लाकर और उन्हें अपनी नाना प्रकार की सेवा में लगाकर जिस जिस प्रकार से अपने लिए नए नए सुखों को प्राप्त किया है, वह सुख उससे पहले मनुष्य जगत के और लोगों को कभी प्राप्त न थे। इसी के साथ साथ उसके शिल्प और वाणिज्य विषयक कार्य की भी बहुत उन्नति हुई।

फिर सैंकड़ों वर्षों तक आपस के सम्बन्ध में अत्याचार और विविध लड़ाइयों और विविध प्रकार के झगड़ों और दुखों और कष्टों के भोगने के बाद धीरे धीरे उसकी प्रकृति में और भी परिवर्तन आया, और उसने लाचार होकर औरों के **उन अधिकारों को स्वीकार किया, कि जिन्हें वह पहले स्वीकार नहीं करता था।** इन अधिकारों के स्वीकार करने से उसकी परस्पर की लड़ाइयों और अपराध विषयक दंड विधियों में भी धीरे धीरे बहुत सी अच्छी तबदीली आई, और कई प्रकार की अत्याचार-मूलक विधियां जो पहले जारी थीं, वह दूर हुईं। और उसके अपने देश और अन्य देशों के परस्पर के सम्बन्धों में भी कई प्रकार की शान्तिप्रद अवस्था आई, और इस शांन्ति की उन्नति का मार्ग भी कुछ और अधिक खुला। मनुष्य जगत में सुख दुःख के आधार पर इस प्रकार की उन्नति वा सभ्यता उत्पादक जिस जिस विषय में जितना जितना परिवर्तन आया है, वह नेचर के विकासकारी कार्य की अवश्य एक विचित्र और मनोहर छवि है।

परन्तु मनुष्य जगत में इस प्रकार की उन्नति के आने और धीरे धीरे उसके **सुसभ्य** बनते जाने पर भी उसकी **"सुख-परायण विषयक मूल प्रकृति" में कोई अन्तर नहीं आया।** वह अपने नाना प्रकार के नये नये सुखों का अनुरागी बनकर दिनों दिन **सुखासक्त** बनता गया। उसकी सुखासक्ति दिनों दिन बढ़ती गई। वह दिनों दिन "मौज बहार" के जीवन का प्रेमी बनता गया। उसकी **"भोग विलास विषयक लिप्सा"** दिनों दिन वृद्धि पाती गई।

सभ्यता **(Civilization)** के बढ़ने के साथ साथ जहां मनुष्य का विविध प्रकार का बल

बढ़ता गया, और जंगली अथवा अपनी अपेक्षा कम सभ्य लोगों की तुलना में वह अधिक से अधिक बलशाली बनता गया, उसके साथ ही उसके विविध प्रकार के सुख अनुराग भी बढ़ते गये। वह दिनों दिन धन सम्पति, अपनी संतान, अपने खान-पान, अपने मान, अपनी बड़ाई, निर्बलों पर अपने आधिपत्य, राज्य और राज्य-पद और अन्य भोग विलासों और उनके सामानों का अनुरागी और उनका **दास** भी बनता गया। और उसकी सभ्यता की उन्नति के साथ साथ उसमें नाना प्रकार की उन बुराइयों की उत्पत्ति भी होती गई, कि जो उसकी पहली असभ्य दशा में न थीं। अर्थात-

सैंकड़ों लोग जो बहुत बड़े बड़े धनी बन गए, उन्होंने एक ओर **भोग-विलासी बन जाने** और दूसरी ओर उसकी प्राप्ति के लिए धन विषयक बड़ी बड़ी स्थायी आमदनी रखने के कारण काम काज करना छोड़ दिया और "मौज बहार" का जीवन ग्रहण किया। फिर वह लाखों जन जो श्रम्मी (अर्थात परिश्रमी) भी थे, वह परिश्रम के द्वारा अपनी जीविका के उपार्जन करने की सच्ची कामना और योग्यता रखकर भी अपने लिए कोई जीविका वा काम नहीं पा सके, वा किसी जीविका वा काम के मिल जाने पर उससे जो कुछ धन मिला, उससे उनकी अपनी वा अपने पारिवारिक जनों की दैनिक आवश्यकताएँ भी भली भान्त पूरी न हुईं, कि जिससे धीरे धीरे उनकी असन्तुष्टता बढ़ती गयी। दूसरी ओर धनी लोग अपने अपने कारखानों आदि में उनसे अधिक से अधिक काम निकालने के तो इच्छुक रहे, परन्तु उनकी इस शोचनीय दशा की ओर से उदासीन रहे। जिसका फल यह हुआ कि उनका आपस का सम्बन्ध बहुत कड़वा और अशान्तिजनक बन गया।

राज्य-शासन और राज्य-पद और मान बड़ाई के लालसियों में अपने अपने अभीष्ट की सिद्धि के निमित्त **मिथ्या और कपटता-मूलक विविध प्रकार की कुटिल चालों वा पालसियों के ग्रहण करने और उन पर चलने का भाव बढ़ने लगा।**

शिष्टाचारी कहलाने के निमित्त परन्तु मन मन में एक दूसरे के प्रति **असद भाव** रख कर भी **कपटी रूप** धारण करके मिलने जुलने की प्रथा जारी हुई।

नर नारी के सम्बन्ध में पवित्रता-मूलक नियम का ह्रास होने लगा, और नाना देशों के सैंकड़ों युवकों और युवतियों ने अपने अपने विधेय विवाह से पहले ही अपने अपने काम विषयक सुख की प्राप्ति के लिए परस्पर के साथ गुप्त सम्बन्ध को उचित और ठीक

मानना शुरू किया, और ऐसा करने में किसी प्रकार की कोई हानि बोध न की।

कई प्रकार का पूर्णत: मिथ्या सोशियल भेद उत्पन्न हुआ, कि जिस भेद के विषय में धीरे धीरे बोध के उत्पन्न होने पर नाना देशों के लोगों में कई प्रकार का विवाद और आन्दोलन उत्पन्न हुआ।

नाना देशों के शासन-कर्ताओं की श्रेणी में कुटिल राजनीति के प्रचलित होने के कारण उनके **परस्पर-अविश्वास** की वृद्धि हुई।

पोलेटिकल विषयों में मिथ्या और कपटता-मूलक चालों की उन्नति हुई।

स्वाद और शिकार आदि सुखों की वृद्धि से नाना प्रकार के निर्दोष, निर्बल और कई प्रकार के सेवाकारी पशुओं की हत्या बढ़ती गयी।

काम-सुख की लालसा के बढ़ने से पति-पत्नी के सम्बन्ध में कुछ भी अनमेल के पैदा हो जाने पर एक दूसरे को त्याग करने अर्थात् एक दूसरे को तलाक देने वा लेने की विधियां बढ़ती गईं।

नाना देशों के बहुत से शासन-कर्ताओं ने अपने आप को बाहर से शांति का पक्षपाती बताकर भी और कई दशाओं में परस्पर के सम्बन्ध में शांति-पत्रों (Agreement) पर हस्ताक्षर करके भी अपने मन मन में परस्पर के प्रति अविश्वास के कारण युद्ध विषयक सामानों को घटाने के स्थान में उन्हें गुप्त रूप से बढ़ाने का यत्न किया।

जिन नाना देशों के लोगों में अपने सच्चे वा ख्याली किसी प्रकार के ऐसे अधिकारों की प्राप्ति के लिए आकांक्षा जागी और बढ़ी, कि जिन के देने के लिए दूसरी ओर के लोग तैयार न थे, तब उन के हृदय में उनके प्रति नीच घृणाए उत्तेजित हुईं, और जो जो जन उनकी इन नीच घृणाओं के भड़काने और उस आग की लपटों के प्रचण्ड करने में और सैंकड़ों की अपेक्षा बढ़ चढ़कर भाग लेने लगे, वह उनके नेता बने, और उनके अनुयाइयों ने उन्हें बड़े बड़े सम्मान सूचक नामों से पुकारना और बड़े सम्मान देना आरम्भ किया; जिससे उनका अपना घमंड भाव भी दिनों-दिन बढ़ता गया, और इस घृणा और घमंड भाव के बढ़ने के साथ साथ नेचर के नियमानुसार दूसरी ओर के लोगों के प्रति उनकी उलटी दृष्टि भी बढ़ती गयी। इस उलटी दृष्टि के उत्पन्न हो जाने से उनके भीतर से एक ओर अपनी अपनी विविध प्रकार की हीनता के देखने की शक्ति चली गयी, और दूसरी

ओर सत्य के विरुद्ध अपनी अपनी कीमत बढ़ गयी। इसी उलटी दृष्टि के कारण दूसरी ओर के लोगों के सद्गुणों के देखने की योग्यता भी चली गयी, और उनके सम्बन्ध में कई प्रकार की पूर्णत: मिथ्या और कपटता-मूलक चालें ग्रहण होती गईं; और ऐसी विविध प्रकार की मिथ्याओं और कपटताओं की चालों का ग्रहण करना आवश्यक और उचित समझा गया।

यद्यपि नाना प्रकार के सुख विषयक नीच अनुरागों के बढ़ते जाने से करोड़ों जनों के आत्मा कठोर से कठोर बनते गये, और उनमें धीरे धीरे **अन्धकार की अधिक से अधिक वृद्धि होती गयी**; तथापि विज्ञान की अधिक से अधिक उन्नति से नेचर के जड़ पदार्थों और इन पदार्थों की कई प्रकार की शक्तियों के विषय में ज्ञान के बढ़ते जाने से लाखों जनों के वह विविध प्रकार के अंध और मिथ्या विश्वास दूर हो गए, कि जो उनमें धर्म के नाम से पहले से वर्तमान थे, और जिनका दूर होना विज्ञान की उन्नति के साथ साथ आवश्यक था। परन्तु यद्दपि इस दशा में पहुंच कर यह लोग नाना प्रकार के मिथ्या धर्म मतों के छोड़ देने के लिए तो मजबूर हो गए, तथापि धर्म के विषय में किसी सत्य ज्ञान के न होने के कारण अंधकार में भटकने लगे, और पहले की अपेक्षा भी अपने नीच सुखों के और अधिक लालसी और **दास** बन गए। ऐसी जनों में से कितने ही जड़वादी बने, और इस दशा में अपने अस्तित्व को मूल और सार वस्तु की सत्ता की ओर से भी अन्धे और अविश्वासी हो गए। इत्यादि।

फलत: -----

1. देवात्मा के आविर्भाव से पहले सारा मनुष्य जगत **आत्मिक अन्धकार** से भरा हुआ था, अर्थात मनुष्य जगत के किसी भी **मनुष्य** वा उसके कहलाने वाले किसी भी **उपास्य देवता वा देवी** वा उसके कहलाने वाले किसी भी **गुरु वा ऋषि वा मुनि वा पीर वा पैगम्बर वा जिन्न वा तीर्थंकर वा बुद्ध** आदि को **आत्मा का गठन प्राप्त-रूप**, **उसके रोगों**, **उसके पतन और उसके विनाश और उसके पतन से उसकी मोक्ष की सत्य विधि**, **और उसमें उच्च जीवन की उत्पत्ति और उन्नति की आवश्यकता**, **और उसकी प्राप्ति की सत्य विधि का कुछ भी सत्यज्ञान न था।**

क्यों न था ? इसलिए कि इस प्रकार का सत्य ज्ञान देवात्मा की ही जिस **देवज्योति** के

द्वारा लाभ हो सकता है, वह **देवज्योति** उनमें से किसी में न थी।

2. आत्मा और आत्मिक जीवन के विषय में **देवात्मा की देव ज्योति के द्वारा उपरोक्त प्रकार का जो सत्य ज्ञान मिलता है**, **वही और केवल वही सत्य ज्ञान धर्म विषयक सत्य ज्ञान है**, **उसे छोड़कर धर्म विषयक और कोई सत्य ज्ञान नहीं।**

इसलिए धर्म विषयक सत्य ज्ञान से रहित होने के कारण इस पृथ्वी के सब मनुष्य और उनके सब उपास्य देवी देवते और उनके सब प्रकार के कहलाने वाले धर्म- शिक्षक आदि धर्म विषयक सत्य ज्ञान के विचार से भी पूर्ण अन्धकार की दशा में थे।

इस आत्मिक घोर अंधकार के कारण इस पृथ्वी के करोड़ों लोग धर्म के नाम से नाना प्रकार के अत्यंत हानिकारक और मिथ्या विश्वासों में लिप्त थे।

फिर मिथ्या के अनुरागी होने के कारण इस पृथ्वी के करोड़ों मनुष्य केवल यही नहीं, कि नाना प्रकार के **मिथ्या धर्म मतों पर विश्वास करते थे**; किन्तु उन मिथ्या मतों के विश्वासी होने के भिन्न वह अपने विविध प्रकार के व्यवसायों के द्वारा धन उपार्जन के लिए, अपने किसी अपराध वा पाप वा अपने किसी दोष वा अपनी किसी हीनता के छिपाने के लिए, अपने किसी पारिवारिक वा अन्य जन के साथ किसी सुख विषयक अनुराग के बंधे होने के कारण उसके भी किसी अपराध वा पाप वा दोष वा उसकी किसी हीनता आदि के छिपाने के लिए, अपनी वा अपनी किसी वस्तु की प्रशंसा करके अपने लिए बड़ाई विषयक सुख की प्राप्ति के लिए, औरों से मान वा पद लाभ वा इसी प्रकार के किसी पोलेटिकल अभीष्ट के पूरा करने के लिए, किसी के सम्बन्ध में अपने घृणा विषयक विविध भावों की तृप्ति के लिए, और अपने परस्पर के विविध अन्य बर्तावों में अपने किसी अन्य सुख की प्राप्ति के लिए यथावश्यक **विविध प्रकार की मिथ्याओं का बर्ताव करते और उनका आचरण रखते थे।**

3. इस पृथ्वी के करोड़ों मनुष्य धर्म के नाम से **विविध प्रकार के झूठे और अत्यंत हानिकारक विश्वासों में लिप्त होने के कारण** जिन जिन को अपना **उपास्य** मानते थे, वह **सच्ची देव शक्तियों और धर्म विषयक सत्य ज्ञान से शून्य होने**, और नाना प्रकार की पूर्णत: **मिथ्या शक्तियों** से विशिष्ट माने जाने, और नाना प्रकार की मिथ्या और पाप-मूलक शिक्षा देने आदि के कारण उपास्य माने जाने के योग्य न थे।

इसी प्रकार वह **सच्ची देवशक्तियों से विहीन** जिस जिस को अपना **उपास्य मान** कर उसकी जिस प्रकार की पूजा करते थे, उनकी उस **पूजा** में उनके **उपास्य** के सम्बन्ध में उनके स्तोत्र और भजन आदि स्तुति-सूचक पाठ और गान **आदि** सत्य न थे।

फिर पापों के विषय में भी वह कोई सत्य-ज्ञान न रखते थे, इसलिए वह **पापों से मुक्ति के विषय में नाना प्रकार के झूठे विश्वास रखते थे**; और धर्म के नाम से विविध प्रकार के अनुचित और हानिकारक वा वृथा **साधन और अनुष्ठान और तप और त्याग और व्रत और तीर्थ आदि करते थे।**

वह अपने अपने विविध प्रकार के **सुख विषयक नीच अनुरागों** और विविध प्रकार की **नीच घृणाओं के दास** होने के कारण केवल यही नहीं, कि अपनी ओर से नेचर के विविध विभागों के सम्बन्ध में **विविध प्रकार की अन्याय-मूलक चिन्ताएं और अन्याय मूलक कर्म करते थे**, **किन्तु अपने इस वा उस उपास्य का आदेश जानकार भी कई प्रकार के पाप कर्म करते थे।**

4. इस पृथ्वी के **सब के सब मनुष्य केवल सुख दुःख के बोधी होने और सुखों के लिए अनुराग रखने के कारण एक वा दूसरे प्रकार के सुख को ही स्वभावत: अपने जीवन का लक्ष्य जानते थे**, जब कि आत्मिक सत्य ज्ञान के अनुसार **किसी प्रकार का भी सुख मनुष्य के अस्तित्व का लक्ष्य नहीं।**

अब जब कि-

सारा मनुष्य-जगत 'आत्मा' और 'आत्मिक-जीवन' के विषय में सत्य ज्ञान के विचार से घोर अन्धकार और अज्ञान की दशा में था, और करोड़ों **मनुष्य** धर्म के नाम से सैंकड़ों प्रकार के **मिथ्या विश्वासों के महा हानिकारक जाल में फंसे हुए थे**; और उनके भिन्न वह अपने नाना सम्बन्धों में नाना प्रकार की मिथ्या, कपटता, ठगी वा प्रवंचना मूलक क्रियाएं करते थे;

अपने **सुख विषयक नीच अनुरागों** और उनसे उत्पन्न नाना प्रकार के **नीच घृणा भावों** से परिचालित होकर क्या परस्पर के सम्बन्ध में और क्या अपने से नीचे के जगतों के सम्बन्ध में **विविध प्रकार की अन्याय-मूलक चिंताएं और विविध प्रकार के अन्याय-मूलक कर्म करते थे**;

वह अपनी **जिन जिन सुखदायक परन्तु पतनकारी गतियों के आधीन थे, उनके दास होने के कारण दिनों दिन आत्मिक पतन और विनाश की ओर जा रहे थे। और वह अपने अपने इस आत्मिक पतन का कोई सच्चा बोध न रखते थे, और न उससे मोक्ष पाने के लिए अपने भीतर कोई आकांक्षा रखते थे, और न वह अपनी ऐसी महा- शोचनीय और महा असहाय दशा में उससे आप मोक्ष पाने के योग्य थे, और न वह अपने किसी प्रकार के आत्मिक शुभ के विषय में कोई सत्य बोध वा उसके लिए कोई सत्य आकांक्षा रखते थे;**

तब मनुष्य जगत की इस नितान्त अन्धकारग्रस्त, महा अबोधी, महापतित और महा हानिकारक दशा में उच्च परिवर्तन लाने और उसमें एक पूर्णत: नए और शुभ युग की उत्पत्ति करने के लिए उसी मनुष्य जगत से ही परन्तु उससे ऊपर जिन सच्ची और अद्वितीय देव-शक्तियों से विशिष्ट देवात्मा के आविर्भाव की आवश्यकता थी, उन सच्ची और अद्वितीय देव-शक्तियों से विभूषित देवात्मा का आविर्भाव हुआ। और उनके इस आविर्भाव से मनुष्य जगत के विकास में उस पूर्णत: नए युग का आरम्भ हुआ, कि जिसका उत्पन्न होना नेचर के विकास-क्रम में आवश्यक था।

******

चालीसवां अध्याय ।

भविष्य काल में देवात्मा के द्वारा मनुष्य जगत और उससे नीचे के जगतों में उच्च परिवर्तन ।

देवात्मा के आविर्भाव से मनुष्य जगत में जिस जिस प्रकार का **उच्च परिवर्तन** आरम्भ हुआ है, वह उच्च परिवर्तन उस में उनकी **सच्ची देवशक्तियों के देव-प्रभावों के बिना कदापि नहीं हो सकता था।** इसलिए **भविष्य काल** में भी नेचर के नियमानुसार मनुष्य जगत में जिस जिस प्रकार का उच्च परिवर्तन **केवल उन्हीं के देव-प्रभावों के द्वारा सम्भव है**, और उसके विकास का क्रम आगे चल सकता है, वह उच्च परिवर्तन वा विकास भी उन्हीं के देव-प्रभावों के द्वारा आएगा, और वह उच्च परिवर्तन इस प्रकार का है:-

1. देवात्मा में उनकी सच्ची और अद्वितीय देव-शक्तियों के विकास से जिस **देव-ज्योति** और जिस **देव-तेज** का विकास हुआ है, उनकी उस **देव-ज्योति** और उस **देव-तेज की किरणें जिन जिन अधिकारी जनों में उनकी** अपनी अपनी योग्यता के अनुसार जितने जितने अंश प्रवेश करने का अवसर पा सकी हैं, उनसे उनके आत्मा ज्योतिर्मान हुए हैं, और वह उनकी इस **देव-ज्योति** में अपने अपने आत्मा के गठन- प्राप्त रूप और अपने अपने आत्मिक जीवन की विविध बातों के सम्बन्ध में **कई प्रकार के सत्यों के देखने के योग्य हुए हैं; और इन सत्यों के दर्शन से उन्हें धर्म के विषय में सत्य ज्ञान मिला है**, कि जो सत्य ज्ञान उन्हें देवात्मा की इस **देवज्योति** के बिना कभी भी और कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सकता था। और इस सत्य ज्ञान के मिलने से ही उनके अपने आत्मा के सम्बन्ध में जिस जिस प्रकार के **मिथ्या विश्वास** दूर हुए हैं, वह मिथ्या विश्वास भी उनकी इस देव-ज्योति के बिना किसी और प्रकार से दूर नहीं हो सकते थे।

मनुष्य जगत में यह पहली प्रकार का उच्च परिवर्तन है, कि जो **देवात्मा के आविर्भाव के द्वारा ही आ सकता था**, और आया है। इसीलिये नेचर के अटल नियमानुसार **भविष्य काल** में भी मनुष्य जगत के अधिकारी आत्माओं में ऐसा उच्च परिवर्तन केवल उन्हीं की

देव-ज्योति और उन्हीं के **देव-तेज** के द्वारा आएगा, और उसके बिना कदापि नहीं।

2. देवात्मा की ही **देव-ज्योति** को पाकर जिन जिन अधिकारी जनों को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार नेचर के जिस किसी जगत के सम्बन्ध में अपने **जिन जिन अन्याय-मूलक कर्मों वा दुराचारों को अपने अपने आत्मा के लिए हानिकारक रूप में देखने का अवसर मिला है**, और उनके **देव-तेज** की किरणों को पाकर उनमें से जिस जिस के प्रति उनमें **उच्च घृणा** का इतना भाव उत्पन्न हुआ है, कि जिससे उन्होंने नेचर के ही आत्मिक-जगत के नियमानुसार **अपने अपने उन पापों वा दुराचारों को त्याग कर दिया है**, और उनसे सच्ची मोक्ष लाभ की है; वह सच्ची मोक्ष भी उन्हें देवात्मा के ही **देव-प्रभावों** की पाप्ति से लाभ हो सकती थी, और इसीलिये लाभ हुई। इस **सच्ची मोक्ष** को पाकर उनके आत्माओं में जो कुछ **उच्च परिवर्तन** आया, और उनमें इस उच्च परिवर्तन के आने से पहले उनके द्वारा नेचर के जिस किसी जगत के जिन जिन अस्तित्वों को जो जो **हानियाँ** पहुँचती थीं, और जो जो अनुचित दु:ख मिलता था, उस उस हानि और उस उस दु:ख से बचने का उन्हें अवसर मिला; वह **उच्च परिवर्तन मनुष्य जगत में देवात्मा के ही इन विचित्र प्रभावों की प्राप्ति से सम्भव था**, और उनकी प्राप्ति के बिना कदापि नहीं। **इसलिए भविष्य काल में भी इस प्रकार का उच्च परिवर्तन देवात्मा के ही देव-प्रभावों के द्वारा आएगा**, **और उनके बिना कदापि नहीं।**

इसके भिन्न देवात्मा की **देव-ज्योति** और उनके **देव-तेज** अर्थात् उनके **देवप्रभावों** को पाकर जिन जिन अधिकारी जनों में नेचर के किसी विभाग के सम्बन्ध में अपने एक वा दूसरे पाप वा दुराचार के प्रति **उच्च घृणा के भिन्न इतने उच्च दु:ख की भी उत्पत्ति हुई**, कि जिस से परिचालित होकर वह अपने एक वा दूसरे **पाप का सच्चा परिशोध करने के लिए प्रस्तुत हुए**, और इस प्रकार से **अपने अपने पापों का सच्चा परिशोध करने के लिए** उन्होंने अपने द्वारा हानि प्राप्त जनों को वा उनके मर जाने पर उनके वारिसों को उनका वह धन दु:खी हृदय के साथ वापिस किया, कि जिसे उन्होंने उनसे अपने अन्याय-मूलक कर्मों के द्वारा प्राप्त किया था, और उनमें से कितनों ने उसे **ब्याज सहित** वापिस किया, और कितने ही और जनों ने इसी प्रकार की **विविध अपहरण की हुई वस्तुएं हानि-प्राप्त जनों को लौटाईं**, उनकी ऐसी अनोखी क्रियाओं से जहाँ एक ओर ऐसे जनों को अपने

अपने उन **आत्मिक विकारों से सच्ची पवित्रता मिली**, कि जो इस इस प्रकार के पापों से उनमें उत्पन्न हुए थे, वहां दूसरी ओर हानि-प्राप्त जनों वा उनके वारिसों को अपना अपना खोया हुआ धन भी मिला और अपनी अपनी खोई हुई वस्तुएं भी प्राप्त हुईं, और उससे उन्हें शांति मिली, और उचित सुख लाभ हुआ। और जब किसी ऐसे परिशोध-कर्ता को अपने द्वारा हानि प्राप्त जनों का कुछ पता ना मिला, तब उसने उस अपहरण के द्वारा प्राप्त धन को अपने पास रखने के स्थान में किसी भले काम के लिए समर्पण किया। **ऐसा अनोखा और पूर्णत: विस्मय-जनक आत्मिक उच्च परिवर्तन भी मनुष्य जगत में देवात्मा के आविर्भाव के बिना कदापि सम्भव नहीं हो सकता था; इसलिए भविष्य काल में भी अधिकारी जनों में इस प्रकार का उच्च परिवर्तन देवात्मा के ही देव-प्रभावों के द्वारा आएगा और आ सकेगा, और उसके बिना कदापि नहीं।**

3. देवात्मा की **देव-ज्योति** की किरणों को पाकर जिन जिन अधिकारी जनों में क्या देवात्मा और क्या नेचर के अन्य विविध जगतों के सम्बन्ध में किसी एक वा दूसरे प्रकार के ऐसे **उच्च बोध वा उच्च भाव** की उत्पत्ति वा उन्नति हुई कि जिसके द्वारा परिचालित होने से उन्हें एक वा दूसरे प्रकार की शुभ चिन्ता वा एक वा दूसरे प्रकार का शुभ कर्म करके अपनी आत्मिक निर्माणकारी शक्ति के बल के बढ़ाने में कुछ न कुछ सहायता मिली, उसकी उत्पत्ति वा उन्नति भी मनुष्य-जगत में **देवात्मा के आविर्भाव के बिना कदापि नहीं हो सकती थी। और भविष्य काल में भी अधिकारी जनों में इस प्रकार का उच्च परिवर्तन केवल देवात्मा के ही देव प्रभावों के द्वारा आएगा, और उसके बिना कदापि नहीं।**

4. देवात्मा में जिन सच्ची और अद्वितीय देव-शक्तियों का बीज रूप में प्रकाश और उनका क्रमशः विकास हुआ है, उन शक्तियों को पाकर वह नेचर के मनुष्य, पशु, उद्भिद्द और जड़ वा भौतिक जगत के सम्बन्ध में जो जो कुछ **शुभ** हो, उसी के लिए अपने आत्मा में सच्चा, और पूर्ण अनुराग और उसके विरुद्ध जो जो कुछ **अशुभ हो**, **उसके लिए सच्चा और पूर्ण घृणा भाव** रखते हैं।

इसी प्रकार नेचर के प्रत्येक जगत के सम्बन्ध में **जो जो नियम और जो जो घटना सत्य हो**, और उसका उन्हें ज्ञान प्राप्त हो चुका हो, उसी और केवल उसी पर विश्वास करने,

उसी का साथ देने, और उसी का प्रकाश और प्रचार करने के लिए वह अपने आत्मा में पूर्ण अनुराग, और उसके विरुद्ध प्रत्येक असत्य वा प्रत्येक मिथ्या के प्रति पूर्ण घृणा और उसके नष्ट करने के लिए पूर्ण वैर-भाव रखते हैं। इसीलिये देवात्मा अपनी इन सच्ची देव-शक्तियों को विकसित करके **नेचर के प्रत्येक जगत के प्रत्येक अस्तित्व के साथ केवल शुभ और सत्य-मूलक सम्बन्ध रखते हैं**, और उसके भिन्न उसके साथ किसी प्रकार का सुख विषयक वा सुख अनुराग से उत्पन्न घृणा भाव विषयक कोई सम्बन्ध नहीं रखते। वह नेचर के प्रत्येक जगत की हानि और हित के सम्बन्ध में अपने भीतर जितने और जिस जिस प्रकार के विशेष बोध रखते हैं, वह बोध उनकी इन सच्ची देव-शक्तियों से विहीन किसी भी कहलाने वाले देवता वा देवी वा किसी कहलाने वाले धर्म-सम्प्रदाय के संस्थापक में वर्तमान न थे, और न उनकी इन सच्ची देव-शक्तियों से विहीन किसी में वर्तमान हो सकते हैं। इसलिए इन विशेष बोधों को प्राप्त होकर देवात्मा ने अधिकारी मनुष्यों के लिए नेचर के चारों जगतों के सम्बन्ध में **वर्जित और कर्तव्य** कर्म विषयक अपनी ओर से जितनी और जो जो विशेष और पूर्णत: नई शिक्षा दी है, वह विशेष और नई शिक्षा भी उन्हें कहीं और किसी और के द्वारा नहीं मिल सकती। और उनके इन नये वर्जित और कर्तव्य विषयक आदेशों के पाठ से मनुष्य जगत के अधिकारी जन उनकी **देव-ज्योति** के प्राप्त होने पर अपनी अपनी योग्यता के अनुसार नेचर विषयक विविध जगतों के सम्बन्ध में अपने अपने आत्माओं की **जिस जिस हीनता को देख सकते हैं**, **उस हीनता का ज्ञान भी वह उनकी देव-ज्योति और उनकी इस शिक्षा के बिना कहीं और किसी प्रकार से नहीं पा सकते**। और न उनकी इस देवज्योति की प्राप्ति और उनकी इस शिक्षा विषयक सत्यों के देखने के बिना किसी काल में भी किसी जन को अपनी किसी ऐसी हीनता के विषय में सच्चा ज्ञान और सच्चा बोध मिला था।

फिर देवात्मा के ही **देव-तेज** के मिलने पर किसी अधिकारी जन में अपनी **किसी ऐसी हीनता को देखकर उसके प्रति जो उच्च घृणा उत्पन्न हो सकती है**, और वह उसके दूर करने का **आकांक्षी** बन सकता है, वह **उच्च घृणा और उच्च आकांक्षा** भी उसमें देवात्मा के **देव-तेज** की प्राप्ति के बिना कहीं और किसी प्रकार से उत्पन्न नहीं हो सकती। **इसलिए इस प्रकार का उच्च परिवर्तन भी भविष्य काल में किसी अधिकारी आत्मा में**

केवल देवात्मा के देव-प्रभावों के द्वारा ही आ सकता है और आएगा, और उनके बिना कदापि नहीं।

प्र० । क्या देवात्मा के **देव-प्रभावों** से मनुष्य जगत में जो जो कुछ उच्च परिवर्तन आता है, उसके आने से उससे नीचे के जगतों में भी कुछ उच्च परिवर्तन आता वा आ सकता है **?**

उ० । निश्चय। जब किसी मनुष्य में देवात्मा के **देव-प्रभावों के द्वारा** अपने जगत के भिन्न उससे नीचे के किसी जगत अर्थात् पशु वा उद्भिद वा जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में अपनी किसी **हानिकारक वा पतनकारी क्रिया** का बोध उत्पन्न होता है, वा इससे भी ऊपर किसी उच्च बोध वा भाव के जाग्रत होने से उनमें से किसी जगत का कुछ भी और किसी प्रकार का हित होता है, तब उसके ऐसे सब प्रकार के उच्च परिवर्तन से उससे नीचे के जगतों में भी उच्च परिवर्तन उत्पन्न होता है।

इसलिए देवात्मा जो नेचर के चारों जगतों में उच्च परिवर्तन लाने के लिए प्रकट हुए हैं, वह नेचर के चारों जगतों में उच्च परिवर्तन के लाने के निमित्त अपने प्रति दिन के विशेष साधन में अपने परम लक्ष्य सम्बन्धी गीत के जिस पद को गाकर नेचर के नियमानुसार अपनी **शुभकामनाओं** के द्वारा अपने **देव-प्रभावों** को अपने चारों ओर **विकीर्ण** (**अर्थात विस्तृत**) करते हैं, वह यह है:-

"सकल विभागों में नेचर के,
उच्च गति-प्रद परिवर्तन हो;
नीच गति हो विनष्ट दिन-दिन,
श्रेष्ठ मेल उनमें उत्पन्न हो ।"

अर्थात्

मेरे देव-प्रभावों के द्वारा नेचर के प्रत्येक जगत में जहाँ जहाँ और जितना जितना उच्च परिवर्तन आ सकता है, वह आवे; और उसके प्रत्येक जगत में से जहाँ जहाँ तक कोई नीच वा पतनकारी गति विनष्ट हो सकती है, वह विनष्ट हो; और इस प्रकार से जहाँ जहाँ तक सम्भव हो, नेचर के चारों जगतों में परस्पर **श्रेष्ठ मेल** वा एकता की उत्पत्ति हो ।

****

——————